N-EASTERN HILL UNIVERSITY
Date..........

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के कृतित्व का विश्लेषणात्मक अध्ययन

अनुसंधित्सु

राज कुमार झा

हिन्दी विभाग

पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय

शिलाँग (मेघालय)

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के कृतित्व का विश्लेषणात्मक अध्ययन

शोध निर्देशक
डॉ. माधवेन्द्र प्रसाद पाण्डेय
उपाचार्य

अनुसंधित्सु
राज कुमार झा

हिन्दी विभाग

द्वारा

पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय के हिन्दी विषय में डॉक्टर ऑफ फिलासफी उपाधि के लिए अपेक्षित आवश्यकता की पूर्ति हेतु प्रस्तुत ।

Thesis

LIBRARY
103842
26-5-08
Class by
Sub.Heading by
Enter by
Transcribed by

पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय
शिलाँग

अगस्त - 2007

घोषणा

मैं राज कुमार झा एतद्द्वारा घोषित करता हूँ कि इस शोध-प्रबंध की विषय-सामग्री मेरे द्वारा किए गये कार्यों का परिणाम है । इस शोध सामग्री के आधार पर न तो मुझे, और जहाँ तक मुझे ज्ञात है, किसी अन्य को पहले उपाधि प्रदान की गयी है और न ही यह शोध-प्रबन्ध मेरे द्वारा कोई अन्य शोध-उपाधि प्राप्त करने के लिए किसी अन्य विश्वविद्यालय/संस्थान में प्रस्तुत किया गया है ।

इसे पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय के सम्मुख हिन्दी विषय में डॉक्टर ऑफ फिलासफी की उपाधि के लिए प्रस्तुत किया जाता है ।

24.8.07
अध्यक्ष
अध्यक्ष/Head
हिन्दी विभाग Hindi Deptt
पू.प.वि.वि. शिलांग- 22
N.E.H.U, Shillong- 22

23/8/07
निर्देशक
Dr. M. P. Pandey
Reader
Department of Hindi
North-Eastern Hill University
Shillong-793022

राजकुमार झा 24.8.07
शोधार्थी

भूमिका

हिन्दी साहित्य के विकास-क्रम में जिन रचनाकारों ने अपने श्लाध्य लेखन क्षमता से साहित्य जगत को संवर्धित किया है उनमें आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का महत्वपूर्ण स्थान है । वैसे तो मिश्रजी ने हिन्दी साहित्य के सभी विधाओं पर अपनी लेखनी चलाई पर अनुसंधान के क्षेत्र में किए गए उनके कार्य अति महत्वपूर्ण हैं। मिश्रजी ने पाठालोचन एवम् पाठानुसंधान के आधार पर उन तमाम दुर्लभ प्राचीन ग्रंथों के प्रामाणिक पाठों की पड़ताल की जो अब तक प्रकाश में न आए थे । इन दुर्लभ ग्रंथों के प्रकाश में न आने के कारणों पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि पाठ की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए हस्तलिखित प्रतिलिपि अथवा पाण्डुलिपि या फिर प्राचीनतम प्रति की आवश्यकता पड़ती है, जिससे सम्बन्धित पाठ का पाठालोचन एवं पाठानुसंधान की विधि से प्रामाणिकता सिद्ध करनी पड़ती है जो अत्यन्त ही दुष्कर कार्य है । वस्तुतः प्राचीन प्रतियों में पाठान्तर का होना स्वाभाविक है, क्योंकि उन दिनों न तो छापाखानों आदि की व्यवस्था थी और न ही साहित्यिक माहौल ही था । लगभग यह स्थिति प्रारम्भिक दौर से ही यानी हिन्दी साहित्य के आदिकाल से ही देखी जा सकती है । उस समय देशी रियासतें बँटी हुई थीं । साहित्यिक संगठन का सर्वथा अभाव था । मुगलकाल में भी औरंजेब जैसे शासक हिन्दी साहित्य के विकास की बात सोच भी नहीं सकते थे, साथ-ही मुगल अपने साथ अरबी-फारसी भाषा लाए थे । हिन्दी उस समय राजभाषा भी नहीं थी । मुस्लिम समुदाय के लोग अपनी ही भाषा को ज्यादा तवज्जो देते थे, फलतः हिन्दी कोने-कातर की भाषा बनकर रह गयी थी । इतना अवश्य था कि देशी रियासतों के राजे-रजवाड़ों के राजप्रसादों में यह फल-फूल रही थी ।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य को स्वतंत्र रूप से फलने-फूलने का अवसर आदिकाल से लेकर शुरुआती आधुनिककाल तक नहीं उपलब्ध हो पाया । संगठित साहित्यिक माहौल का अभाव रहा । ज्यादातर हिन्दी का विकास व्यक्ति-विशेष के व्यक्तिगत लगन एवम् परिश्रम के प्रतिफलन स्वरूप ही हो रहा था । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि इसी कोटि के विद्वान एवम् आचार्य रहे हैं जिन्होंने अपने व्यक्तिगत लगन एवम् परिश्रम से हिन्दी साहित्य के विकास में अद्‌भुत योगदान दिया । इसी क्रम में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी के कार्यों को भी देखा जा सकता है । हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में मिश्रजी का पदार्पण शुभ साबित हुआ । इन्होंने हिन्दी साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा पाठालोचन एवम् पाठानुसंधान को समृद्ध किया । अगर मिश्रजी अनुसंधित्सु के रूप में हिन्दी साहित्य में न प्रविष्ट हुए होते तो आज रीतिकाल अथवा श्रृंगारकाल के घनानंद जैसे कई महत्वपूर्ण रचनाकारों को इतने प्रामाणिक रूप से जानने का अवसर न मिलता। कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य मिश्रजी के अद्वितीय योगदान का ऋणि है । इतने महनीय अवदान के बावजूद हिन्दी साहित्य में इनका जो स्थान होना चाहिए था, कहा जा सकता है कि वह इन्हें नहीं मिल सका है । मिश्रजी के इन्ही साहित्यिक अवदानों के आरेखन की दृष्टि से यह विषय शोध-कार्य के रूप में लिया गया है ।

यह पूरा शोध-प्रबंध कुल सात अध्यायों में विभाजित है, जिसमें प्रथम अध्याय आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के परिचयात्मक व्यक्तित्व एवम् कृतित्व से सम्बन्धित हैं । इसमें इनके जीवन के विविध पक्षों की सूचना निहित है । इन सूचनाओं के विवेचन में यह ध्यान रखा गया है कि उनके जीवन-कर्म का पूर्णतया उद्‌घाटन हो सके, साथ-ही उन सूचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनके व्यक्तित्व के विकास में उनकी निजी जीवन-शैली का विशेष प्रभाव है । उच्च्य जातिगत संस्कार

एवम् व्यक्तित्व का प्रभाव उनकी लेखनी पर भी हुआ है । उनके व्यक्तित्व से उनकी लेखन-दृष्टि का भी पता चलता है ।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि उनके व्यक्तित्व से उनकी लेखन-दृष्टि प्रभावित है तो यह हम उनके सम्पादकीय रचनाकर्म में भी देखते हैं । द्वितीय अध्याय मिश्रजी के सम्पादकीय रचनाकर्म से ही सम्बन्धित है । इसमें मिश्रजी द्वारा सम्पादित ग्रंथों का विवरण दिया गया है, साथ-ही सम्पादन कार्य के पीछे उनकी निहित दृष्टि का भी उल्लेख करने का प्रयास किया गया है । यह देखा गया है कि वे जिस भी रचनाकारों की रचनाओं का सम्पादन करते हैं, साथ-साथ उसकी समीक्षा भी करते चलते हैं । चूँकि मिश्रजी का क्षेत्र रचनाकर्म से सम्बन्धित था, अतः कुछ महत्वपूर्ण पत्रिकाओं का भी उन्होंने सम्पादन किया, जिसका विस्तार पूर्वक उल्लेख इस अध्याय के अन्तर्गत किया गया है । तृतीय अध्याय में मिश्रजी के पाठालोचन एवम् पाठानुसंधान के कार्यों का विश्लेषण है, जिसके तहत अनुसंधान के आधारों के निर्धारण के साथ-साथ इसकी सीमा को भी निर्धारित करने का प्रयास किया गया है । इसमें इनकी महत्वपूर्ण कृतियों का अध्ययन पाठालोचन एवम् पाठानुसंधान की दृष्टि से करने का उद्योग किया गया है । चतुर्थ अध्याय में मिश्रजी के साहित्येतिहास ग्रंथों का विश्लेषण किया गया है, जिसमें साहित्येतिहास की दृष्टि, उसका वैशिष्ट्य एवम् उसकी सीमाओं को आरेखित करने की कोशिश की गयी है। इसके साथ-साथ इतिहास एवम् साहित्येतिहास के बीच के अन्तर को भी दिखाने का प्रयास किया गया है । इसके अतिरिक्त मिश्रजी द्वारा लिखे गये साहित्येतिहास के ग्रंथों की समीक्षा साहित्यिक दृष्टिकोण से की गयी है । पंचम अध्याय में मिश्रजी के स्वतंत्र लेखक रूप का विवेचन है, जिसके तहत इनके द्वारा स्वतंत्र रूप से किए गए लेखन-कार्य का लेखा-जोखा दिखाने का प्रयास किया गया है । इसमें इनके रचनाकर्म के विविध रूप यथा समीक्षक,

निबंधकार टीकाकार आदि के रूप में इनके कार्यों के विवेचन का प्रयास किया गया है। षष्ठ अध्याय में इनकी समीक्षा-दृष्टि के प्रमुख आधारों का विश्लेषण दिया गया है जबकि सप्तम अध्याय इनकी भाषा-शैली-संरचना एवम् शब्द-संपदा से सम्बन्धित है ।

उपरोक्त क्रमवार अध्यायों के आधार पर मिश्रजी द्वारा हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में किए गए महान कार्यों को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है । इस महनीय कार्य में मुझे जिन-जिन महानुभावों का सहयोग मिला उसके प्रति मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ । सबसे पहले मैं अपने परम आदरणीय गुरुदेव डॉ. माधवेन्द्र प्रसाद पाण्डेयजी का आभार अपने अन्तःहृदय से व्यक्त करना चाहता हूँ, क्योंकि इन्हीं के मार्गदर्शन पर चलकर यह दुराराध्य कार्य संभव हो पाया । इसके अतिरिक्त मैं हिन्दी विभाग के विभागाध्यक्ष के साथ-साथ विभाग में पदस्थापित सभी विद्वानों का आभारी हूँ क्योंकि शोध-कार्य के दौरान बीच-बीच में इनलोगों से मौखिक मार्ग-दर्शन मिलते रहे । इस क्रम में मैं सुधवै, वाराणसी के आदरणीय आचार्य डॉ. किशोरीलाल गुप्तजी के प्रति अपने अन्तःहृदय से आभार व्यक्त करना चाहता हूँ, क्योंकि मैंने उन्हीं के श्रीचरणों में बैठकर शोध-दृष्टि पाई तथा उनके निजी पुस्तकालय के उपयोग का अवसर पाया । आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी के ज्येष्ठ पौत्र श्री गिरिश चन्द्र मिश्रजी का भी हृदय से आभारी हूँ क्योंकि उन्होंने अपने दादाजी अर्थात् मिश्रजी के पूरे पारिवारिक पृष्ठभूमि की समुचित जानकारी दी । अगर उन्होंने इस तरह मुझे पारिवारिक जानकारी से लाभान्वित न कराया होता तो मैं इतने प्रामाणिक तथ्यों का उल्लेख नहीं कर पाता । इसके अतिरिक्त मैं वाराणसी के श्री नरेश झा, श्री बटुक प्रसाद शर्मा शास्त्री एवम् उनके पुत्र श्री राकेश शर्मा 'ब्रह्मचारीजी' तथा प्रो. शम्भूनाथ पाण्डेयजी का आभारी हूँ क्योंकि इन लोगों ने मिश्रजी के जीवन-चर्या की समुचित जानकारी उपलब्ध कराई ।

मैं नागरी प्रचारिणी सभा काशी के अधिकारियों एवम् कर्मचारियों का भी हृदय से अभारी हूँ क्योंकि उन्होंने महत्वपूर्ण पुस्तकीय सुविधा उपलब्ध कराई । इसके साथ-साथ मैं श्री सुरेन्द्र पाठकजी का भी हृदय से आभारी हूँ क्योंकि इन्होंने पूरे शोध-प्रबंध के कम्प्यूटिरीकृत टंकन का कार्य-भार हृदय से संभाला तथा पूरे मनोयोग से पूरा किया ।

मैं अपने माता-पिता एवम् परिवार के अन्य सदस्यों के साथ-साथ अपनी धर्मपत्नी के प्रति भी सम्मान का भाव व्यक्त करना चाहूँगा जिन्होंने समय-समय पर मेरा उत्साह-वर्धन किया । अंत में मैं सर्वशक्तिशाली परमात्मा का हृदय से स्मरण करना चाहूँगा, जिन्होंने मेरे अन्दर इस कार्य को करने की ऊर्जा उत्पन्न की ।

स्थान : शिलाँग

दिनांक : अगस्त, 2007

अनुसंधित्सु

राज कुमार झा

शोध-छात्र, हिन्दी विभाग

पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय,

शिलाँग - 793022

विषय - अनुक्रमणिका

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के कृतित्व का विश्लेषणात्मक अध्ययन

पृष्ठ संख्या

भूमिका I-V

प्रथम अध्याय : आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : व्यक्तित्व एवम् कृतित्व 1 - 52

1. क. : परिचयात्मक इतिवृत
1. क. i : जीवन परिचय
1. क. ii : जीवन के विविध सन्दर्भ
1. ख. : रचनाकर्म के विविध सोपान
1. ख. i : सम्पादक के रूप में
1. ख. ii : अन्वेषक के रूप में
1. ख. ii अ: पाठालोचन
1. ख. ii आ: पाठानुसंधान
1. ख. iii : इतिहासकार के रूप में
1. ख. iv : स्वतंत्र चिंतक के रूप में
1. ख. iv अ: रसवादी चिंतक के रूप में
1. ख. iv आ : लोकवादी चिंतक के रूप में
1. ख. iv इ: सांस्कृतिक चिंतक के रूप में

द्वितीय अध्याय : आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : सम्पादक के रूप में 53 - 87

2. क. : ग्रन्थ सम्पादक के रूप में
2. क. i : सम्पादित ग्रंथों का विवरण
2. क. ii : सम्पादकीय दृष्टि
2. क. iii : सम्पादकीय एवम् रचनात्मक दायित्व
2. ख. : पत्रिका सम्पादक के रूप में
2. ख. i : सम्पादित पत्रिकाओं का विवरण
2. ख. ii : सम्पादकीय दृष्टि
2. ख. iii : सम्पादकीय लेखन

तृतीय अध्याय : आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : पाठानुसंधित्सु एवम् पाठालोचक के रूप में 88 - 116

3 क. : पाठालोचन का आधार
3 क. i : पाठालोचन का क्षेत्र एवम् सीमाएँ
3 ख. : पाठानुसंधान का आधार
3 ख. i : पाठानुसंधान का क्षेत्र एवम् सीमाएँ
3 ग. : सम्बन्धित कृतियों का अध्ययन
3 ग. i : पाठालोचन की दृष्टि से
3 ग. ii : पाठानुसंधान की दृष्टि से

चतुर्थ अध्याय : आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : इतिहासकार के रूप में 117- 172

4. क. : इतिहास और इतिहास दृष्टि
4. ख. : साहित्य का इतिहास
4. ख. i : साहित्य के इतिहास का वैशिष्ट्य
4. ख. ii : साहित्य के इतिहास की सीमाएँ
4. ग. : आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के इतिहास ग्रंथों की समीक्षा
4. ग. i : हिन्दी साहित्य का अतीत भाग - 1
4. ग. ii : हिन्दी साहित्य का अतीत भाग - 2
4. ग. iii : हिन्दी का सामयिक साहित्य

पंचम अध्याय: आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : स्वतंत्र लेखक के रूप में 173 - 246

5. क. : लेखन शैली एवम् दृष्टि
5. ख. : समीक्षक के रूप में
5. ग. : निबन्धकार के रूप में
5. घ. : टीकाकार के रूप में
5. च. : काव्यशास्त्रीय चिंतक के रूप में
5. छ. : भाषाशास्त्रीय चिंतक के रूप में

षष्ठ अध्याय: आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की समीक्षा दृष्टिः प्रमुख आधार 247-283

6. क. : सांस्कृतिक आधार
6. ख. : लोक परक आधार
6. ग. : आध्यात्मिक आधार
6. घ. : काव्यशास्त्रीय आधार

सप्तम अध्याय : आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की भाषा **284 - 302**

7. क. : भाषा-प्रयोग का वैशिष्ट्य

7. क. i : शब्द-सम्पदा (संस्कृतनिष्ठ, देशज एवम् विदेशी शब्द)

7. ख. : भाषा : शैली एवम् संरचना

उपसंहार **303 - 309**

सन्दर्भ ग्रंथ-सूची **310 - 316**

प्रथम अध्याय

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : व्यक्तित्व एवम् कृतित्व

प्रथम अध्याय

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : व्यक्तित्व एवम् कृतित्व

1. क. परिचयात्मक इतिवृत

1 क. i. जीवन परिचय

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का जन्म कान्यकुब्ज बाह्मण परिवार में कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी संवत् 1963 वि. (1906 ई.) को काशी, उत्तर प्रदेश के बह्मनाल मुहल्ले में हुआ था । "कान्यकुब्ज ब्राह्मणों में परिचय देने की जो पद्धति प्रचलित है उसमें तीन पीढ़ियों तक का उल्लेख किया जाता है । पहली पीढ़ी में ये परसू के मिश्र हैं, दूसरी पीढ़ी में इनकी सुक्खे की आँक हैं और तीसरी-चौथी पीढ़ी में ये श्री हर्षगंगाधर के आसमी हैं ।"[1] शांडिल्य गोत्री श्री मिश्रजी संस्कृत के कवि श्री हर्ष के भी वंशज बताये जाते हैं । इनके पितामह सरायमीरा कन्नौज के रहने वाले थे तथा नील का व्यापार करते थे । "नील के व्यापर में गहरा घाटा लगने से उनके एक भाई देहरादून जा बसे, दूसरे खजुआ चले गये और वे स्वयं अपनी ससुराल जिला फतेहपुर के किशुनपुर, बिकौरा नामक गाँव में आ बसे । उनके दो लड़के थे - बड़े का विवाह उन्होंने वहीं किया था, किन्तु अपने छोटे लड़के पण्डित रघुनन्दन मिश्र का विवाह निसगर रायबरेली से आकर काशी में बसे हुए पण्डित वृन्दावन शुक्ल की सबसे बड़ी पुत्री अन्नपूर्णा देवी से किया ।"[2] इस सम्बन्ध में मिश्रजी के ज्येष्ठ पौत्र श्री गिरिश चन्द्र मिश्र ने अपने पूर्वजों के बारे में विस्तार पूर्वक बताया कि "लगभग 200 वर्ष पहले मेरे दादाजी के पूर्वज सरायमीरा, कन्नौज में अपनी जमीन पर गड्ढे खोदकर नील की तैयारी किया करते थे । उन लोगों के जीविकोपार्जन का मुख्य आधार खेती के

अतिरिक्त नील का व्यापार था । कालान्तर में जब व्यापार में घाटा हुआ तो ये लोग अपने पुस्तैनी गाँव को छोड़कर अलग-अलग स्थानों में जा बसे ।"*

बाबा विश्वनाथ की नगरी काशी में जब माता अन्नपूर्णा देवी को पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई तो इनकी माता ने भगवान भोले विश्वनाथ का प्रसाद समझकर अपने पुत्र का नाम भी 'विश्वनाथ प्रसाद' रख दिया । ये अपने माता-पिता की इकलौती सन्तान थे । उन दिनों इनके पिता श्री रघुनन्दन मिश्र भारतीय जीवन प्रेस काशी में ही काम करते थे तथा अपने ससुराल बह्मनाल में ही रहते थे, जहाँ विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी का जन्म हुआ । अपनी छोटी वय में ही इन्होंने अपने पिता को खो दिया अर्थात् जब ये मात्र तीन वर्ष के थे, उसी समय "सन् 1910 ई. में काशी में महामारी प्रचण्ड रूप से फैली, जिसमें पं. रघुनन्दन मिश्र जी का शरीरपात हो गया ।"[3] फलतः इनकी माँ श्रीमति अन्नपूर्णा देवी को अपने पति की विरासत की देख-रेख के लिए सरायमीराँ, कन्नौज जाना पड़ा जहाँ एक ओर दैवी विपत्ति के कारण इनके पिता की छत्र-छाया इन पर से उठ गया वहीं दूसरी ओर न चाहते हुए भी बालक मिश्रजी को छोड़कर माता "अन्नपूर्णा देवी को विवश होकर सास के विरासत में प्राप्त लगभग 40 बीघे माफी खेत की देखभाल के लिए गाँव जाना पड़ा ।"[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि इनका बचपन माँ-पिता के लाड़-प्यार से मरहूम रहा । पति की मृत्यु के बाद इनकी माँ ने भी अपनी सास की विरासत की देख-भाल को ही अधिक प्राथमिकता दी । अतः इन्हें मातृ सुख भी कम ही मिला । चार वर्ष की उम्र से ही ये अपने माता-पिता के बगैर ननिहाल अर्थात् बह्मनाल, काशी में ही रहने लगे । मिश्रजी ने भी अपने ग्रंथ 'गोसाईं तुलसीदास' के 'पुरोवाक्' में स्वयं कहा है कि

---

*साक्षात्कार :श्री गिरिश चन्द्र मिश्र एवम् अनुसंधित्सु राज कुमार झा के मध्य, दिनांक 22 जनवरी, 2004, स्थान - बह्मनाल, काशी, उत्तर प्रदेश ।

"मेरा शैशव काशी में पला ।"[5] चूँकि आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी के मामाजी श्री महावीर प्रसाद शुक्लजी को अपनी कोई संतति नहीं थी, अतः इन्हें अपने मामा-नानी का भरपूर लाड़-प्यार काशी मे मिला । जब ये कुछ बड़े हुए तो अपने उच्च जातिगत संस्कार से प्रेरित होकर अपने मामजी के साथ मंदिर में पूजन करने भी जाया करते थे। ये बचपन से ही जिज्ञासु एवम् आस्थावान थे ।

इनकी प्रारंम्भिक शिक्षा की शुरुआत ब्रह्मणाल के समीप ही 'कबीर चौरा' नामक शिक्षा संस्थान से मानी जाती है, जिसकी पुष्टि साक्षात्कार के दौरान उनके पौत्र श्री गिरिश चन्द्र मिश्रजी ने भी इस प्रकार करते हुए कहा कि-- "आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र अर्थात् मेरे दादाजी की प्रारम्भिक शिक्षा 'कबीर चौरा' शिक्षण संस्थान से शुरू हुई, जहाँ से इन्होंने मिडिल पास की । शिक्षा का माध्यम हिन्दी था।"* हालांकि इनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी, फिर भी इनकी जिज्ञासु प्रवृति ने इन्हें शिक्षोन्मुख रखा । 1920 ई. में मिडिल पास करने के बाद इन्होंने उसी वर्ष 'स्पेशल क्लास' में प्रवेश हरिश्चन्द्र महाविद्यालय में लिया । उन दिनों भारत गुलाम था। महात्मा गाँधी के असहयोग आंदोलन के आह्वान पर इन्होंने पढ़ाई छोड़ दी और अप्रत्यक्ष रूप से क्रांतिकारी आंदोलन में सहयोग देने लगे । मिश्रजी ने भी इस तथ्य का उल्लेख अपने ग्रंथ 'गोसाई तुलसीदास' में करते हुए कहा कि "सन् 1921 में जब गाँधी की आँधी चली तब मैंने व्यवस्थित पढ़ना छोड़ दिया, पर पढ़ने का चाव और लिखने का सद्भाव इतना अधिक था कि व्यवस्थित पढ़ाई छोड़कर पढ़ाई से अव्यवस्थित न हो सका । चरखा चलाकर और अपने ही काते सूत के बुने कपड़े पहनकर भी कभी कांग्रेस का चवन्निया सदस्य नहीं बना, उधर मेरे साथ ही पढ़ाई

---

*साक्षात्कार :श्री गिरिश चन्द्र मिश्र एवम् अनुसंधित्सु राज कुमार झा के मध्य, दिनांक 22 जनवरी, 2004, स्थान - बह्मनाल, काशी, उत्तर प्रदेश ।

छोड़नेवाले बंधुवर श्री त्रिभुवन नारायण सिंह दिल्ली पहुँच गए । मैं काशी सेवन को न छोड़ सका । गुरुजनों ने अपने जीते जी काशी परित्याग का स्वप्न में भी आदेश नहीं दिया । पर राष्ट्रीय भावना उग्र होती गई और मैं उग्रतम क्रांतिकारियों की मंडली में जा विराजा ।''[6] इसके बावजूद हम देखते हैं कि अपने अध्ययनशील व्यक्तित्व के कारण श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी अन्य शिक्षण संस्थानों में जाकर भी विद्याध्ययन करने लगे जिसकी विस्तार से चर्चा श्री गोवर्द्धन लाल उपाध्याय जी ने अभिनन्दन ग्रंथ के आलेख 'लोक यात्रा' में इस प्रकार किया है - ''मिश्रजी आरम्भिक शिक्षा पार करके सन् 1920 में जब हरिश्चन्द्र महाविद्यालय में अध्ययन कर रहे थे तब गाँधीजी के असहयोग आंदोलन के कारण पढ़ाई छोड़ दी । साथ में विद्यालय से पढ़ाई छोड़ने वालों में श्री लाल बहादुर शास्त्री और श्री त्रिभुवननारायण सिंह भी थे । असहयोग आंदोलन में प्रत्यक्षरूप से योगदान न करके पड़ोस में रहने वाले मन्मथनाथ गुप्त के साथ ये क्रांतिकारी आंदोलन में प्रविष्ट हो गए । बचाव के लिए लाला भगवानदीन 'दीन' के साहित्य-विद्यालय की सायंकालीन पढ़ाई में नाम लिखा लिया तथा संस्कृत का अध्ययन करने के लिए तिलक संस्कृत विद्यालय जाने लगे ।''[7]

इनके अध्ययनशील जीवन के अनन्तर अप्रत्यक्ष क्रांतिकारी जीवन भी हमें देखने को मिलता है । अंग्रेजी शासन व्यवस्था इन्हें भी मंजूर नहीं था । स्वतंत्रता के ये प्रबल पक्षधर थे फलतः इनका सम्बन्ध अनेक वीर क्रांतिकारियों से भी रहा । अपने को तत्कालीन सरकार की नजरों से बचाए रखने के लिए इन्होंने मंदिर में पूजा-पाठ से लेकर शिक्षण-संस्थानों में पठन-पाठन जारी रखा ताकि किसी को भी किसी प्रकार का शक न हो । क्रांतिकारी वर्ग के विशिष्ट लोग इनसे प्रमुख बातों पर गुप्त मंत्रणा किया करते थे । वीर-रस की कविताएँ लिखवाते थे । चूंकि इनका बाहरी दिखावा एक शिक्षार्थी एवम् पुरोहित के रूप में था, अतः इनका घर पूर्ण रूप से

क्रांतिकारियों के लिए सुरक्षित था । इन्होंने उन लोगों का भरपूर साथ दिया । "संक्षेप में इतना ही बता देना है कि प्रसिद्ध क्रांतिकारी श्री चन्द्रशेखर आजाद निरापद स्थल होने के कारण इन्हीं के यहाँ प्रायः बाहर से आने पर ठहरते थे । बन्दूक, पिस्तौल, रिवाल्वर, बम एवम् विस्फोटक चूर्ण (बारूद) आदि इनके यहाँ संग्रहित हुआ करता था। इन सबका कुछ अवशेष भारत के स्वतंत्र हो जाने तक इनके यहाँ रह गया था । काकोरी डकैती कांड की सारी योजना का निर्माण इनकी जानकारी में हुआ था, यद्यपि ये घटना स्थल पर स्वंय नहीं गये थे । समाचार पत्रों में क्रांतिकारियों के विषय में समाचार आदि इन्हीं के यहाँ बना करते थे । 'बन्दी जीवन' पुस्तक (प्रकाशानान्तर ब्रिटिश सरकार द्वारा जब्त) के हिन्दी अनुवाद के बहुत से अंश इनके द्वारा संशुद्ध किए गए ।"[8] सन् 1911 ई. में ये गुरुदेव लालाभगवानदीन 'दीन' के सम्पर्क में आये । कहते हैं कि "ज्ञान की अर्गला खोल, प्रोत्साहन की वर्तिका, आशीर्वाद के स्नेह (तेल) से उपदेशामृत के प्रदीप को दीप्त कर लेनेवाले, गोविंद से अग्रपूज्य गुरुदीन जी से मिश्रजी का प्रथम परिचय किंवा उर्वरा मही में पृथक् बीजारोपण था ।"[9] बहुमुखी प्रतिभा के धनी श्री लालाभगवान दीन के सान्निध्य में इन्होंने कठिन विद्याभ्यास किया जिसमें कविता, कहानी, निबंध के अतिरिक्त अन्य साहित्यिक गूढ़ विद्याओं का अध्ययन-मनन शामिल था, जिसे इन्होंने अपने गुरुदेव के श्री चरणों में बैठकर किया, जिससे इनकी ज्ञान की पिपासा और भी तीव्रतर होती चली गयी । 'रामचरितमानस' जैसे महाग्रंथ का गम्भीर अध्ययन भी मिश्रजी ने अपने गुरुदेव के सम्पर्क में ही किया।

अपने गुरुदेव श्री लालाभगवान दीन जी के आदेश से ही ये सन् 1928ई. में काशी विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित ऐडमिशन परीक्षा में शामिल हुए तथा प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण भी हुए । यह सफलता इनके विद्यार्थी-जीवन के लिए मील का पत्थर साबित हुआ, क्योंकि ऐडमिशन परीक्षा की उत्तर-पुस्तिका में परीक्षक महोदय ने

प्रशंसा के दो शब्द भी लिखे, जो यह प्रमाणित करता है कि मिश्रजी वास्तव में मेधावी छात्र थे । ' इस आशय का उल्लेख डॉ. राय ने अपने ग्रंथ में किया है । डॉ. राय लिखते हैं कि- ''सन् 1928 ई. में उन्होंने दीनजी की प्रेरणा से अल्पावधि में ही तैयारी कर ऐडमिशन परीक्षा सभी विषयों में दी एवम् प्रथम श्रेणी में सफलता प्राप्त की । स्मरणीय यह है कि इस परीक्षा में उन्हीं द्वारा सम्पादित भारतेन्दु हरिश्चंद्र-कृत 'सत्यहरिश्चंद्र नाटक' पाठ्य पुस्तक के रूप में नियत था । उनके हिन्दी के एक प्रश्न-पत्र के परीक्षक कानपुर के श्री अयोध्यानाथ शर्मा थे, उन्होंने इनको 87 प्रतिशत अंक देकर, उनकी उत्तर-पुस्तिका पर 'नोट' में लिख दिया कि इस योग्यता की उत्तर-पुस्तिका हमें देखने को अभी तक उपलब्ध नहीं हुई थी ।''[10] इसी वर्ष अर्थात् 1928 ई. में ही इन्होंने साहित्य-रत्न की भी परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की । इनके साहित्य-रत्न की उत्तर पुस्तिका इतनी विशिष्ट समझी गयी कि उसे हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के संग्रहालय में रखा गया । साथ ही ''उसी वर्ष सम्मेलन-पत्रिका में उसे प्रकाशित किया गया।''[11]

सन् 1930 ई. में जब आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इण्टरमीडिएट पास करके बी.ए. (स्नातक) प्रथम वर्ष में दाखिल हुए तो इन्हें उन दिनों 'आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी - छात्रवृत्ति' मिलती थी । उन्हीं दिनों इनके गुरु लालाभगवान दीनजी का स्वर्गारोहण हो गया । बुद्धिजीवी लोगों के विशेष आग्रह पर इन्होंने अपने गुरुदेव के विद्यालय में अपना योगदान देना उचित समझा । गोवर्द्धन लाल ने अपने आलेख में लालाजी के निधन का उल्लेख इस प्रकार किया है -- ''बी. ए. प्रथम वर्ष में ये पढ़ ही रहे थे कि लाला भगवानदीनजी का काशीवास हो गया । लालाजी का विद्यालय चलाते रहने के लिए सभी लोगों ने इनसे आग्रह किया और इन्होंने इसे स्वीकार किया । विद्यालय का नाम बदलकर 'हिन्दी साहित्य विद्यालय' से 'श्री

भगवानदीन हिन्दी - साहित्य विद्यालय' कर दिया ।''[12] इस योगदान के बावजूद भी इन्होंने अपनी नियमित पढ़ाई जारी रखी ।

सन् 1932 ई. में इन्होंने बी.ए. (स्नातक) की परीक्षा उत्तीर्ण की । तत्पश्चात् सन 1935 ई. में इन्होंने संस्कृत से एम. ए. काशी विश्वविद्यालय से किया । उन्हीं दिनों इन्हें महामना पं. मदनमोहन मालवीय जी का विशेष सान्निध्य मिला जिसके परिणाम स्वरूप इन्हें मालवीयजी के 'सनातन धर्म' पत्र में काम करने का अवसर भी मिला । मालवीयजी ने इन्हें सन् 1936 में 15 मार्च से 28 मार्च तक चलने वाली एम. ए. हिन्दी की परीक्षा में बैठने के लिए प्रेरित किया, जिसे आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने सहर्ष स्वीकार किया । हालाँकि इस विश्वविद्यालयी परीक्षा के विषय-वस्तु की तैयारी के लिए उनके पास समय काफी कम था, फिर भी उन्होंने श्री मालवीयजी के आदेश का पालन करते हुए परीक्षा में बैठना आवश्यक समझा । परीक्षा की पद्धति का उल्लेख करते हुए श्री गोवर्द्धन लाल जी लिखते हैं कि - ''उन दिनों एम. ए. में पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध की परीक्षाएँ पृथक-पृथक नहीं होती थीं, दोनों वर्षों के आठ प्रश्न पत्रों की परीक्षा एक साथ हुआ करती थी, साथ ही हिन्दी में नियमित या स्वाध्यायी दोनों प्रकार के छात्रों के लिए प्रबन्ध लिख कर देने की अनिवार्यता भी थी । महीने भर सारी पढ़ाई की गई और प्रबन्ध के लिए भी अपेक्षित अध्ययन-चिंतन किया गया । 28 मार्च को परीक्षा समाप्त हो जाने पर तीन ही दिनों में मिश्रजी , द्वारा 'बिहारी की कविता' नाम से प्रबंध प्रस्तुत किया गया, क्योंकि अंतिम तिथि प्रबन्ध जमा करने की 31 मार्च थी। यही प्रबन्ध आगे चलकर 'बिहारी की वग्विभूति' नाम से प्रकाशित हुआ । परीक्षा में केवल हिन्दी विषय में ही ये सर्वप्रथम नहीं हुए प्ररन्तु विश्वविद्यालय भर में सर्वप्रथम स्थान इन्होंने प्राप्त किया ।''[13]

शिक्षा की इस ऊँचाई तक पहुँचने के पीछे उनकी जिज्ञासु प्रवृति, कड़ी

लगन, विषय-वस्तु के प्रति दृढ़-प्रतिज्ञा साथ-ही मन-मन्दिर में उत्साह एवम् ईश्वर में आस्था ही मुख्य कारण रहे । वहीं दूसरी ओर उनकी आर्थिक स्थिति शुरू से ही कमजोर रही । अलग-अलग समयों में विभिन्न कार्यों में अपना योगदान देकर अर्थ का उपार्जन उन्होंने किया । काशी तो आरंभिक काल से ही मन्दिरों की नगरी रही है। इन्होंने मन्दिरों में पूजा-अर्चना करना अपने नित्य-जीवन में सामिल किया । इससे इन्हें आर्थिक मदद भी हो जाया करती थी । इसके अलावे अन्य कार्यों में भी अपना हाथ बँटाकर इन्होंने अपनी पढ़ाई जारी रखी ।

हिन्दी से स्नातकोत्तर अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होते ही अगले ही वर्ष अर्थात सन् 1937 ई. में इन्हें काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में प्रवक्ता पद पर कार्य करने का अवसर मिला । मिश्रजी के इस विश्वविद्यालयी योगदान का उल्लेख श्री गोवर्द्धन लाल जी ने अभिनन्दन ग्रंथ में इस प्रकार किया है - "हिन्दी-विभाग में जब बाबू श्यामसुन्दर दास जी अध्यक्ष पद से निवृत्त हुए और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, अध्यक्ष बनाए गए तब इन्हें प्रवक्ता पद पर नियुक्त कर दिया गया ।"[14] उन दिनों इन्हें कई मूर्धन्य विद्वानों के मध्य अध्यापन-कार्य करने का अवसर मिला । उन विद्वानों में आचार्य पं. रामचन्द्र शुक्ल, पं. केशव प्रसादजी मिश्र, डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल आदि थे । एक तरह से हम कह सकते हैं कि अर्थोजन एवम् विद्यार्जन दोनों ही क्षेत्र इनके जीवन के चुनौती भरे रहे । काशी विश्वविद्यालय में भी इन्होंने अपनी विद्वता पूर्ण व्याख्यानों से प्रतिष्ठा एवम लोकप्रियता हासिल की । साहित्येतिहास के महान विभूतियों के बीच अपनी अलग पहचान बनाना आसान कार्य न था । कक्षा में भी इनके व्याख्यान को सुनकर विद्यार्थी मंत्र-मुग्ध हो जाया करते थे । इस सम्बन्ध में मिश्रजी के शिष्य रह चुके पं. करुणापति त्रिपाठी अपने संस्मरण आलेख ('आचार्य पं. विश्वनाथ जी : मेरी दृष्टि में') के मध्य लिखते हैं कि "मेरे भाषा विज्ञान के वे गुरु थे । वे जन्मजात बहुत

ऊँचे अध्यापक थे । अध्यापन कला और गंभीर वैदुष्य का वैसा एकत्र संगम बहुत कम देखने को मिलता था ।''[15] विश्वविद्यालयी योगदान के अतिरिक्त इन्होंने अनेकों ग्रंथों का लेखन एवम सम्पादन का महनीय कार्य किया। इसके अलावे इन्होंने ज्योतिषशास्त्र, दर्शनशास्त्र, वैद्यकशास्त्र आदि के साथ-साथ आयुर्वेद का भी ज्ञानार्जन किया । संस्कृत की शिक्षा इन्होंने तिलक संस्कृत विद्यालय से ग्रहण किया था तथा इनके संस्कृत के गुरु आचार्य बटुकनाथ शर्माजी थे । संस्कृत का ज्ञान इन्हें भर-पूर था । इन्होंने स्नातकोत्तर पहले संस्कृत में ही किया था पर ये संस्कृत के अध्यापक होने से वंचित रह गये क्योकि इनके ननिहाल के लोगों ने इन्हें आगरा जाने से मना कर दिया। संस्कृत एवम हिन्दी दोनों पर इन्हें समान अधिकार प्राप्त था। व्याख्यान के दौरान ये ''प्रांजल भाषा में संस्कृत का उद्धरण देते हुए हिन्दी को समझाते थे । वे काव्य शास्त्र के मर्मज्ञ थे । वे आचार्य थे । वे हिन्दी से ज्यादा संस्कृत के विद्वान थे ।''*

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी के वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इन्होंने अपने जीवन में दो कन्याओं का उद्धार किया । शुरू में ये शादी के लिए बिल्कुल ही तैयार नहीं थे । पर ननिहाल के लोगों ने इन्हें विवाह के लिए सन् 1921 ई. में ही विवश किया । उस समय उनकी मात्र अवस्था शादी के योग्य नहीं थी । पूरी तरह व्यस्क भी नहीं हुए थे । अतः शादी जैसे बन्धन में वे बँधना नहीं चाहते थे । यहाँ तक कि उन्हें रस्सी से बाँधकर कुएँ में लटका दिया और लोगों ने पूछा - 'बोलो शादी करोगे या नहीं ?' शायद उन्होंने डर से 'हाँ' बोल दिया । इस प्रकार ''उनकी पहली शादी यहीं वाराणसी के अस्सी (नामक स्थान में) कुमारी जयन्ती

---

*साक्षात्कार : श्री नरेश झा (पूर्व प्राचार्य आ. रा. च. महाविद्यालय, वाराणसी) एवम् अनुसंधित्सु राज कुमार झा के मध्य, दिनांक - 23 जनवरी, 2004, (शुक्रवार), स्थान - ब्रह्मनाल, काशी, उत्तर प्रदेश ।

दीक्षित से हुआ, जो शादी के बाद श्रीमती जयन्ती मिश्र हो गई । उस समय आचार्य मिश्रजी की आयु मात्र 15 वर्ष ही थी । वे हाई स्कूल के विद्यार्थी थे । तीन वर्ष बाद गौने का प्रावधान रखा गया, इसी बीच उनकी धर्म-पत्नी का स्वर्गारोहण हो गया । यह शादी समगोत्री में ही हो गयी थी ।''*

यहाँ यह देखा जा सकता है कि स्व-इच्छा के वगैर इनकी पहली शादी होती है, वह शादी भी समगोत्री में । उल्लेखनीय है कि प्रथम विवाह से उन्हें कोई सन्तान सुख नहीं मिला । अतः उन्हें दूसरे विवाह के लिए बाध्य होना पड़ा । दूसरी पत्नी से उन्हें तीन पुत्र तथा तीन पुत्रियों का सुख मिला । इस आशय की जानकारी मिश्रजी के पौत्र श्री गिरिश चन्द्र मिश्रजी ने इस प्रकार दी- ''आचार्य मिश्रजी की दूसरी शादी देवरिया में वाजपेयी परिवार में हुई । मिश्रजी के देवरिया वाले श्वसुर श्री हजारी लाल वाजपेयी रुद्रपुर देवरिया के सजावल (तहसीलदार) थे । ये काफी प्रतिष्ठित व्यक्ति थे । देवरिया में आचार्य मिश्रजी की शादी कुमारी गिरजा वाजपेयी से हुई, जो शादी के बाद श्रीमती गिरजा देवी मिश्र हो गई । दूसरी शादी से इन्हें कुल दस सन्ततियाँ हुईं पर बचे छः ही ।''** इनमें तीन लड़के थे । तीनों लड़कों के नाम क्रमशः -- चन्द्र शेखर मिश्र, चन्द्र भूषण मिश्र तथा चन्द्र प्रकाश मिश्र हैं ।

आचार्य मिश्रजी का जीवन किसी मनस्वी से कम नहीं था । ''वे शुद्ध शास्त्रीय ब्राह्मण थे । नित्य गंगा-सेवन करते थे । कभी जीवन में मांसाहार नहीं किया।

---

*साक्षात्कार : श्री गिरीश चन्द्र मिश्र (आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के ज्येष्ठ पौत्र) एवम् अनुसंधित्सु राज कुमार झा के मध्य, दिनांक - 22 जनवरी, 2004, (वृहस्पतिवार), स्थान - बह्मनाल, काशी, उत्तर प्रदेश ।

**साक्षात्कार :श्री गिरीश चन्द्र मिश्र एवम् अनुसंधित्सु राज कुमार झा के मध्य, दिनांक 22 जनवरी,2004, (वृहस्पतिवार),स्थान - बह्मनाल, काशी,उत्तर प्रदेश ।

कोई नशा या विकार उनमें नहीं था ।"* मिश्रजी के पड़ोसी एवम् संस्कृताचार्य श्री नरेश झा उनके दैनिक क्रिया-कलाप का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि- "सिंधिया घाट पर प्रतिदिन स्नान कर जब वे लौटते थे तो हाथों में पुष्प होता था । वे प्रतिदिन 'संकटा जी' के दर्शन करते । गलियों में मनस्वी की तरह चलते थे । गलियों में स्नान कर आते वक्त किसी से वार्ता नहीं करते थे ।"** आशय यह कि उनका व्यक्तिगत जीवन सात्विक था । वे सर्वजन सुलभ व्यक्ति थे । यहाँ तक कि छोटे-छोटे बालकों के साथ भी हँसते-बोलते थे । समाज में किसी के यहाँ विवाह अथवा मृत्यु पर वे अवश्य उपस्थित होते थे । वे निष्ठावान थे, कभी कोई प्रलोभन उन्हें सिद्धान्त से टिका नहीं सका । उन्होंने 76 वर्ष की लम्बी उम्र पाई । 12 जुलाई 1982 ई. को आचार्य मिश्र का देहावसान हुआ । इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस प्रकार की विद्वता मिश्रजी में झलकती है वह उनके विद्यार्थी-जीवन में विद्याश्रम का परिणाम है । उनका जीवन एक प्रकार से साधना का जीवन रहा । अध्ययन एवम् अध्यापन इनके जीवन का लक्ष्य प्रतीत होता है । विद्यार्थी-जीवन में ही पढ़ाई के दौरान जो कीर्तिमान उन्होंने स्थापित किए अन्यत्र बहुत कम देखे जाते हैं । कहा जा सकता है कि वे विलक्षण प्रतिभा के धनी थे ।

1. क. ii जीवन के विविध संदर्भ :

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी के पूरे जीवन के विविध सन्दर्भों पर

---

*साक्षात्कार :श्री बटुक प्रसाद शर्मा शास्त्री (तुलसी शोध संस्थान के अध्यक्ष एवम् काशी विद्वत् परिषद् के महामंत्री) तथा अनुसंधित्सु राज कुमार झा के मध्य, दिनांक 23 जनवरी, 2004, (शुक्रवार), स्थान - ब्रह्मनाल, काशी, उत्तर प्रदेश ।

**साक्षात्कार :डॉ. नरेश झा एवम् अनुसंधित्सु के मध्य, दिनांक - 23 जनवरी, 2004, स्थाना - वाराणसी

अगर गम्भीरता से विचार करें तो मुख्य रूप से जो पक्ष उभर कर सामने आते हैं, उसकी यहाँ हम सामान्य चर्चा करेंगे । उनमें से कुछ विशेष सन्दर्भों का उल्लेख आगे की इकाईयों में किया जाएगा ।

श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की परवरिश होने के कारण ब्राह्मणों के उच्च संस्कार उनमें कूट-कूट कर भरे पड़े थे । वाराणसी के सिंधिया घाट पर नित्य गंगा सेवन से लेकर पूजा-पाठ भी उनकी दिनचर्या में शामिल था । चूंकि ये वाराणसी में अपने ननिहाल में रहकर विद्याभ्यास करते थे, परन्तु परिवार के तरफ से प्रर्याप्त आर्थिक मदद नहीं मिलने के कारण पूजा-पाठ भी इनका आर्थिक सम्बल था । एक स्थान पर डॉ. राय इस आशय का संकेत करते हुए लिखते हैं कि - "आरम्भिक जीवन में वे मामा के साथ समय-समय पर मन्दिर में पूजन का कार्य भी किया करते थे । परिस्थिति का प्रभाव और आर्थिक विपन्नता ने उनको इस कार्य को करने के लिए विवश किया।"[16]

वैवाहिक जीवन के प्रारम्भिक दिनों में जीविकोपार्जन एवम् अर्थोपार्जन हेतु उन्हें प्रेस में कम्पोजीटर एवम् प्रूफरीडर का काम भी करना पड़ा । आर्थिक समस्या के कठिन दौर का उल्लेख श्री गोवर्द्धन लाल जी ने उनके सम्बन्ध में इस प्रकार किया है- "सन् 1921 ई. में पढ़ाई छोड़ देने और विवाह हो जाने से जीविका की समस्या भी सामने आई । इसके लिए पहले अपने मित्र बाबू बजरंगबली गुप्त के परिवार वालों से जो उन दिनों लक्ष्मीनारायण प्रेस में कम्पोजिंग के ठीकेदार थे, अक्षर जोड़ने का काम सीखा और वर्ष भर उस काम को करने के अनन्तर ज्ञानमंडल में प्रूफरीडर का काम सीखने लगे। प्रूफरीडिंग सीख लेने पर कुछ प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं की पुस्तकों का प्रूफ देखकर यथाशक्य जीवकोपार्जन कर लिया करते थे ।"[17] निश्चित रूप से उनके जीवन के ये समय कठिनाइयों एवम् आर्थिक समस्याओं से घिरि हुई थी,

जिसे उन्होंने एक चैलेंज के रूप में स्वीकारा और कालान्तर में उससे उबरने का प्रयास भी किया । मिश्रजी के जुझारू व्यक्तित्व को बयां करते हुए डॉ. नरेश झा कहते हैं कि-- "प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा एक तरह से उन्होंने आर्थिक अभाव में ही अर्जन किया । नगर महापालिका का जो लालटेन जलता था, उसके नीचे बैठकर भी उन्होंने अध्ययन किया । कम्पोजीटर के रूप में इन्होंने प्रेस में भी काम किया । एक तरह से ये न्यूनतम कार्य को करते हुए उच्च शिखर पर पहुँचे ।"*

कहने की आवश्यकता नहीं कि इनके जीवनोत्सव के आरम्भिक समय आर्थिक कठिनाइयों से संघर्ष में गुजरा जिससे उबरने के लिए इन्हें मंदिरों में पूजा-पाठ से लेकर प्रेस में कम्पोजीटर एवम् प्रूफरीडर तक के काम को करना पड़ा ।

इनके जीवन का एक पक्ष भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के क्रांतिकारी गतिविधि में संलिप्तता भी उभर कर सामने आती है । इस आशय का उल्लेख थोड़ा-बहुत पहले भी किया जा चुका है । यहाँ हम उनके इस जीवन की समय-सीमा एवम् लेखन से सम्बन्धित चर्चा करेंगे । क्रांतिकारी गतिविधियों में इन्होंने जीवन के आठ वर्ष उत्सर्ग किए । जिसकी चर्चा श्री गोवर्द्धन लाल जी ने इस प्रकार किया है- "इन आठ वर्षों के बीच क्रांतिकारिता को छिपाने के लिए केवल विद्यालय में अध्ययन करना और संस्कृत की परीक्षा देना प्रर्याप्त नहीं समझा गया । इसलिए अखिल भारतीय मठाधीश सम्मेलन में काम करना भी आरम्भ कर दिया ।"[18] क्रांतिकारीगण इनसे विशिष्ट मुद्दों पर सलाह-मशविरा लिया करते थे । "आचार्य मिश्रजी से वे लोग वीर-रस की कविता लिखवाते थे ।"**

---

*साक्षात्कार : श्री नरेश झा एवम् अनुसंधित्सु राज कुमार झा के मध्य, दिनांक 23 जनवरी, 2004, (शुक्रवार) स्थान - बह्मनाल, वाराणसी ।

**साक्षात्कार :श्री नरेश झा एवम् अनुसंधित्सु राज कुमार झा के मध्य, दिनांक 23 जनवरी, 2004, (शुक्रवार) स्थान - बह्मनाल, वाराणसी ।

यहाँ यह स्पष्टतः देखा जा सकता है कि उनमें देश-भक्ति की भावना भी भरी हुई थी । प्रत्यक्ष तो नहीं पर परोक्ष रूप से क्रांतिकारियों को उनके द्वारा किया गया सहयोग उनकी इस भावना को सिद्ध करता है ।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी के व्यक्तित्व में अध्यापक का गुण सर्वोपरि था । उनकी वेश-भूषा भी भारतीय परंपरा के अनुरूप होती थी । "पैरों में कपड़े के गोरक्षक जूते, अत्यन्त श्वेत धोती पर बनारसी कतान का शुभ्र कुर्त्ता, आँखों पर भूरे रंग की फ्रेमवाला चश्मा, ललाट पर रोली मिश्रित चंदन का टीका और सिर पर कुर्त्ते के रंग से मेल खाती हुई सुषम गाँधी टोपी होती थी ।"[19] आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी के शिष्य रह चुके श्री शंभुनाथ राय जी अपने विद्यार्थी-जीवन के दिनों को याद करते हुए 'अभिनन्दन ग्रंथ' के संस्मरण आलेख में मिश्रजी के अध्यापकीय व्यक्तित्व के बारे में लिखते हैं कि -- "गौर वर्ण प्रशस्त मुखमंडल पर छोटी-छोटी छँटी हुई मूछें, छात्रों के मन को पढ़ लेने वाली तीव्र दृष्टि, परम सात्विक एवम् आकर्षक व्यक्तित्व समंकित होकर ऐसा प्रतीत हुआ मानो मूर्तिमान पांडित्य ही अध्यापक के आसन पर विराजमान हों ।"[20] आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र एक निष्ठावान अध्यापक थे । अनुशासन प्रिय थे । उनका व्याख्यान शास्त्रानुमोदित होता था । "आचार्य मिश्र जब किसी सन्दर्भ की व्याख्या करते तो उनकी व्याख्या अत्यन्त ही सटीक, रसवादी एवम् संस्कृतनिष्ठ होती थी ।"* विश्वविद्यालयी अध्यापक के रूप में हम देखते हैं कि वे सर्वप्रथम 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' के हिन्दी-विभाग में व्याख्यात के पद पर आसीन सन् 1937 ई. में होते हैं । तब से विश्वविद्यालयी अध्यापन का यह सिलसिला

---

*साक्षात्कार : प्रो. शम्भूनाथ पाण्डेय (से. नि. अध्यक्ष हिन्दी विभाग, काशी विश्वविद्यालय, वाराणसी) एवम् अनुसंधित्सु राज कुमार झा के मध्य, दिनांक 21 जनवरी, 2004, (बुद्धवार, दिन के 10 बजे) स्थान- लंका, वाराणसी।

North-Eastern Hill University Library
103842
Date.........

जीवन के अन्तिम पड़ाव तक चलता रहा । विभिन्न विश्वविद्यालयों में इनकी सेवा सराहनीय रही । सन् 1963 ई. में इन्होंने मगध विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में अपना योगदान दिया तथा श्रम पूर्वक विभाग की सेवा की । मगध विश्वविद्यालय में उनके योगदान का उल्लेख करते हुए श्री गोवर्धन लाल जी लिखते हैं कि- "विशेषज्ञों की संस्तुति पर मिश्रजी की मगध विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष और प्रोफेसर के पद पर सन् 1963 ई. में नियुक्ति हो गई ।"[21] छः वर्षों तक इन्होंने अपनी सेवा इस विश्वविद्यालय में दी । सन् 1968 ई. में ये मगध विश्वविद्यालय से निवृत होकर काशी आ गये । कुछ दिनों तक इन्होंने काशी विद्यापीठ के हिन्दी-विभाग में अवैतनिक योगदान दिया । पुनः "विक्रम विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. शिवमंगल सिंह 'सुमन' के विशेष आग्रह पर ये 'बालकृष्ण शर्मा नवीन शोध-पीठ के निदेशक और हिन्दी अध्ययनशाला के अध्यक्ष होकर उज्जैन चले गये ।"[22]

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र एक कुशल वक्ता भी थे । इनका जब भी व्याख्यान होता था तो सभागृह ज्ञान पिपाषुओं से भरी रहती थी । मिश्रजी के वक्तृत्व का बखान एक श्रोता के रूप में डॉ. नरेश झा ने उन दिनों की याद ताजा करते हुए कहा कि- "वैसे तो मैं संस्कृत का छात्र था, पर हिन्दी को अच्छी तरह से जानने की रुचि उतनी ही प्रबल थी । फलतः मैं आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी के व्याख्यान को सुनने के लिए नागरी प्रचारिणी सभा जाया करता था । भीड़ लग जाती थी साहित्यिक लोगों की । आचार्य मिश्रजी के व्याख्यान की शैली अत्यन्त ही सारगर्भित, अत्यन्त ही विशिष्ट एवम् ओजस्वी होती थी । जब कभी मुझे मालूम हो जाय कि आचार्य मिश्रजी का व्याख्यान होने वाला है तो मैं समय निकालकर जाया करता था । वे ज्यादातर बिहारी, घनानंद, मानस, वांग्मय-विमर्श, पद्माकर, बोधा आदि से जुड़े विषयों पर

व्याख्यान देते थे । वे रीतिकाल के सिद्धहस्त विद्वान थे ।''* श्रोता समुदाय उनके व्याख्यान से संतुष्ट हो जाया करती थी । जिस भी विषय पर वे बोलते थे पूरे अधिकार के साथ बोलते थे । मिश्रजी के वक्तृत्व एवम् व्यक्तित्व का उल्लेख करते हुए डॉ. भोलानाथ भ्रमर लिखते हैं कि --''पवित्र वाणी से झरते विद्वता के सरस हरसिंगारी फूल ऐसे ही एक महान भारतीय एवम् माँ भारती के सपूत, हिन्दी के समर्थ सेवक का साक्षात्कार किया था 'मिश्र भवन', बलरामपुर में, जिसे देखकर और अब स्मरण करके प्राचीन भारत के किसी तपोधन ऋषि-मुनि का स्वरूप कल्पना के आगे साकार हो उठता है ।''[23]

आशय यह कि बाह्य एवम् अभ्यांतर दोनों ही दृष्टिकोण से उनमें वक्ता के गुण भरे पड़े थे । श्रोता समुदाय उनके आकर्षक व्याख्यान शैली पर मुग्ध हो जाया करती थी ।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी की अभिरुचि प्राचीन ग्रंथो में अनुसंधान की रही । शायद इसी लगन को देखते हुए उन्हें नागरी प्रचारिणी सभा में खोज-विभाग का निरीक्षक बनाया गया । प्राचीन ग्रंथों के प्रति अवगाहन की रुचि का उल्लेख श्री गोवर्द्धन लाल जी ने इस प्रकार किया- ''सर्वप्रथम नागरी प्रचारिणी सभा में आपको हस्तलिखित पुस्तकों के खोज विभाग का निरीक्षक निर्वाचित किया गया । सभा में खोज का कार्य-निरीक्षण पहले डॉ. श्यामसुन्दर दास, डॉ. हीरालाल और डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल किया करते थे । प्राचीन साहित्य में खोज की अभिरुचि और प्रवृति को ध्यान में रखकर ही सभा के प्रधानमंत्री ने आपको खोज-विभाग सौंपा ।''[24] इस अनुसंधान-कार्य में इन्होंने 11-12 वर्षों का समय व्यतीत किया । इस बीच इन्होंने

---

*साक्षात्कार : श्री नरेश झा एवम् अनुसंधित्सु राज कुमार झा के मध्य, दिनांक 23 जनवरी, 2004, (शुक्रवार) स्थान- बह्मनाल, वाराणसी।

कई महत्वपूर्ण अनुसंधानात्मक-ग्रंथों का भी प्रणयन एवम् सम्पादन किया । इनकी लगन एवम् कार्य-शैली से प्रभावित होकर इन्हें आगे चलकर कई महत्वपूर्ण पदों पर निर्वाचित किया गया । इन्होंने जिन-जिन पदों पर कार्य किया, अपनी अलग पहचान छोड़ी चाहे वह साहित्य-मंत्री का पद हो, या फिर खोज-विभाग के निरीक्षक का पद हो अथवा सम्पादक, निदेशक एवम् अध्यापक का ही पद क्यों न हो, मिश्रजी बड़े ही श्रम एवम् मनोयोग से पदभार वहन करते थे । नागरी प्रचारिणी पत्रिका जैसी शोध-परक पत्रिका में इनके अद्वितीय योगदान का विवरण श्री गोवर्द्धन लाल जी इस प्रकर देते हैं- "सन् 1946-47 (सं. 2000 वि.) में आप सभा के साहित्य मंत्री निर्वाचित हुए । साहित्य मंत्री के पद पर रहकर आपने महत्वपूर्ण प्राचीन ग्रंथों के सम्पादन और प्रकाशन की व्यवस्था कराई । इसी समय आप 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' जो हिन्दी की सबसे प्राचीन और प्रमुख शोध पत्रिका है, के सम्पादक एवम् अनुशीलन-विभाग के निदेशक भी चुन लिए गए ।"[25]

यहाँ हम देख सकते हैं कि इन्हें कई विशिष्ट पदों पर निर्वाचित किया गया या फिर सर्वसम्मति से चुना गया । जिस पद का भी भार उनके कंधे पर आया उस भार को उन्होंने बड़े ही विनम्रता के साथ स्वीकार करते हुए वहन किया । सन् 1954 ई. में इन्हें 'आकर ग्रंथमाला' के प्रधान संपादक का भार दिया गया । इस पद पर उन्होंने आठ - नौ वर्षों का लम्बा समय उत्सर्ग किया । इस दौरान उन्होंने कई महत्वपूर्ण ग्रंथों का प्रणयन भी किया । इस प्रकार मिश्रजी के कार्यों का उल्लेख संक्षेप में करते हुए श्री गोवर्द्धन लाल जी लिखते हैं कि- "आपके प्रधान संपादकत्व में पचासों ग्रंथावलियों के संपादक नियुक्त हुए, बीसों ग्रंथावलियों की संपादित पांडुलिपियाँ तैयार हुई यथा 'भिखारी दास- ग्रंथावली' खंड 1 और खंड 2, मान-ग्रंथावली' (मान

राजविलास) 'गंग-ग्रंथावली' पद्माकर ग्रंथावली, मतिराम ग्रंथावली आदि का मुद्रण-प्रकाशन हुआ ।''[27]

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपने जीवन के बहुमूल्य समय रचनाकर्म में भी सदुपयोग किया । आज हिन्दी-जगत उन्हें एक समर्थ समीक्षक, आलोचक, संपादक, अन्वेषक, भूमिका-लेखक, अनुवादक, कवि, निबंधकार एवम् टीकाकार के रूप में जानती है । साहित्यकर्म के ये विविध क्षेत्र आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी के जीवन के विविध सन्दर्भों को भी व्याख्यायित एवम् विश्लेषित करते हैं । यहाँ हम उनके समीक्षक के गुणों की थोड़ी बहुत चर्चा करेंगे ।

हिन्दी साहित्य में समीक्षा का आविर्भाव वस्तुतः भारतेन्दु-युग से हुआ। जिस प्रकार साहित्य की अन्य विधाएँ विकसित हुई, ठीक उसी प्रकार साहित्य-समीक्षा भी विद्या के रूप में भारतेन्दुकाल में ही पल्लवित हुई । ''तत्कालीन समीक्षा का स्वरूप निबन्धों और पत्रिकाओं में प्रकाशित टिप्पणियों में ही दिखाई पड़ता है । इस समय की समीक्षा पुस्तक और लेखक के परिचय तक ही सीमित थी । इस युग के समीक्षक पाश्चात्य साहित्य-समीक्षा की व्यावहारिक प्रणाली से यद्यपि अत्यधिक प्रभावित थे, तथापि भारतीय साहित्यशास्त्र की सैद्धांतिक समीक्षा पूर्णतः भूले नहीं थे।''[27] यहाँ यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु-युग से शुरू हुए समीक्षा-विद्या की पद्धति उतनी विकसित नहीं थी। यह पत्र-पत्रिकाओं में निबंधों अथवा प्रकाशित टिप्पणियों अथवा लेखक के परिचय तक ही सीमित था । पर यह विद्या भारतेन्दु-युग से प्रभावित होकर द्विवेदी-युग, फिर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवम् उसके पश्चात् भी यह परिवर्तित एवम् विकसित होती रही । डॉ. रामबहादुर राय जी लिखते हैं कि- ''भारतेन्दु-युग की समीक्षा से द्विवेदी-युग की समीक्षा में बहुत परिवर्तन हुआ । इस युग ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा के लिए सुदृढ़ पीठिका प्रस्तुत की । इस युग की समीक्षा में व्याप्त सभी

प्रवृतियाँ आचार्य शुक्ल एवम् उनके पश्चात् की समीक्षा में कुछ परिवर्तित, विकसित एवम् परिष्कृत रूप में दिखाई पड़ती है।"[28] वस्तुतः यह परिवर्त्तन परिस्थिति एवम् समय सापेक्ष होती है, जो निरंतर विकासोन्मुख रहती हैं । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवम् लालाभगवान दीन के साहित्यिक-समीक्षा के नक्शे कदम को आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने ग्रहण किया । इन्होंने समीक्षक में दो गुणों का होना आवश्यक बताया है वे हैं-- 'सामाजिक चेतना' एवं 'सहृदयता' का । उनकी दृष्टि में "हमारे अंतःकरण में जो रूप-सागर लहराता रहता है वह समाज का ही होता है । समाज के ही नाना रूप मानस में संचित होते रहते हैं और वे ही वाणी के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं । हमारे भीतर जो कुछ संचित होता है सब बाहर का, समाज का होता है । जो भाव उठते हैं वे भी उन्हीं रूपों के कारण जो बाहर या समाज में या समाज के होते हैं । यदि समाज न हो तो साहित्य भी न होगा। यदि साहित्य हो तो समाज भी होगा । समष्टि ही साहित्य में अभिव्यंजित है । अतःसाहित्य और समाज का वृत शब्दार्थभाव के त्रिकोण को आवृत किए हुए है ।"[29]

अक्षरशः यह सत्य प्रतीत होता है कि समीक्षक में उपरोक्त दोनों गुण अवश्य विद्यमान होनी चाहिये । शब्द के अर्थ में छिपे भाव की व्यंजना एक समीक्षक तभी कर सकता है जब उसमें सामाजिक चेतना का विकास हो । सहृदयता भाव की गंभीरता को अभिव्यंजित करता है ।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने हिन्दी साहित्य के रीतिकाल के महान कवियों की कृतियों की विवेचना एवम् समीक्षा तत्कालीन परिस्थितियों, अलंकार, भाव या रस, छन्द एवम् भाषा आदि को आधार बनाकर प्रस्तुत की । रीतिकाल के जिन महान कवियों की कृतियों को इन्होंने विवेच्य-विषय बनाया उनमें प्रमुखतः केशव, बिहारी, पद्माकर, भूषण,, रसखान, घनानंद, भिखारीदास, बोधा, आदि है ।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र एक सफल आलोचक माने जाते हैं । जबकि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी आलोचना के युग-प्रवर्तक माने जाते हैं । डॉ. राय एक स्थान पर लिखते हैं कि- "हिन्दी आलोचना के युग-प्रवर्तक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक हिन्दी आलोचना को सुस्पष्ट एवं प्रौढ़ दृष्टि दी । वे समन्वयात्मक समीक्षा के प्रर्वत्तक एवं नियामक थे ।"[30] आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने व्रत लिया था कि "जिन कार्यों को पूर्वज, गुरुजन, करते रहे हैं उनकी पूरकता यथासाध्य मेरे द्वारा होती रहे और यदि अवसर मिले तो उनके किए कार्य का उपबृंहण भी करूँ ।"[31] स्पष्ट है कि वे अपने गुरुजनों के नक्शे-कदम पर चलने का व्रत ले रखा था । अतः जिन कार्यों को उनके गुरुजन अधूरा छोड़ गये या नहीं कर पाये उसे इन्होंने पूरा किया । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने घनआनंद पर कार्य करने की इच्छा प्रकट की थी, जिसकी पूर्ति इन्होंने की । "लालाजी में शास्त्रीय पाण्डित्य एवं गूढ़ अर्थ-मीमांसा की प्रतिभा थी एवं आचार्य शुक्ल में साहित्यलोचन से सम्बन्ध मौलिक मनीषा । मिश्रजी ने इन दोनों प्रतिभाओं के समन्वित रूप को ग्रहण किया ।"[32] निश्चित रूप से इन्होंने अपने श्रेष्ठ गुरुओं की दोनों अच्छाइयों को ग्रहण किया एवम् आलोचना का आधार भी बनाया । "आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के सम्पूर्ण समीक्षक व्यक्तित्व पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके समीक्षक व्यक्तित्व के निर्माण में किन-किन तत्वों एवं सिद्धांन्तों का अधिक योग रहा है । हिन्दी साहित्य के उत्तर-मध्यकाल के अध्ययन की रुचि पहले से ही उनमें थी । लालाभगवानदीन 'दीन' जी के सम्पर्क में आने पर सम्पादन, टीकाकार्य, बिहारी के प्रति विशेष रुचि, अलंकार-भावना एवं रीतिकाल से सम्बद्ध दृष्टि मिली । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से साहित्येतिहासलेखन एवं नई आलोचना की दृष्टि मिली ।"[33] इन दोनो विद्वानों के सानिध्य के परिणाम स्वरूप आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अनेक ग्रंथों की रचना की।

साहित्येतिहास से लेकर अनेक रीतिकालीन विभूतियों की कृतियों का आलोचनात्मक सम्पादन किया ।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की ख्याति निबंधकार के रूप में भी जग-जाहिर है । उनके कई निबंध प्रशंसनीय रहे हैं । उनके निबंधों का संग्रह 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' बेहतरीन ग्रंथों में से एक है । उन्होंने समय-समय पर जो निबंध लिखे उसी का संकलन 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' है । उनके द्वारा निबंध-लेखन की सुदृढ़ शुरूआत सन् 1918 ई. में हुई जिसमें उन्होंने 'अहिंसा' विषय पर लेख लिखा था जो आगे चलकर प्रकाशित भी हुआ । इस आशय की जानकारी शंभुनाथ राय जी ने इस प्रकार दी है - "उनका प्रथम लेख अहिंसा विषयक था जो बनारस की अहिंसा पत्रिका में प्रकाशित हुआ था ।" [34] उसके बाद एक से बढ़कर एक निबंध उन्होंने लिखे जो अलग-अलग विषयों से सम्बन्धित थे एवम् प्रशंसनीय रहे ।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी को हम अनुवादक के रूप में भी जानते हैं । वस्तुतः "अनुवादक को अपने विषय का पूर्ण ज्ञाता होना चाहिए, जिससे कि वह मूल पुस्तक के भावों को पूर्णतया हृदयङ्गम करके दूसरों को भी हृदयङ्गम करा सके।"[35] वहीं दूसरे विद्वान 'अनुवादक' को दो संस्कृतियों के मिलान कर्त्ता के रूप में सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि अनुवादक "दो संस्कृतियों के बीच जगह-जगह खिंच रहे पुलों और फ्लाई ओवरों के मिस्त्री हैं ।"[36] श्री शंभुनाथ राय जी ने उनके अनुवाद एवम् अनुवादक के रुप में उनके पाण्डित्य का उल्लेख करते हुए कहा कि- "पंडितजी का अनूदित साहित्य बहुत थोड़ा ही है किंतु जो भी है, वह बहुत महत्वपूर्ण है । बुद्ध-मीमांसा, टानियां और भीमसिंह नामक रचनाएँ अनूदित ही हैं, किन्तु पाठकों को इन ग्रन्थों में मौलिक रचनाओं जैसी ही प्रतीति होती है । मैक्सिम गोर्की की प्रसिद्ध कहानी 'टवेन्टी सिक्स प्रिजनर्स एंड ए गर्ल, का हिन्दी रूपान्तर है -- टानिया । रूसी

भाषा में 'लड़की' को 'तान्या' कहा जाता है । यह शब्द संस्कृत शब्द 'तनया' का सम्बन्धी प्रतीत होता है । इसी 'तान्या' का ठीक उच्चारण स्पष्ट न होने के कारण पंडित जी ने इसे 'टानिया' संज्ञा दे दी । इस पुस्तक में गोर्की की चार कहानियों का हिन्दी अनुवाद संगृहीत है ।''[37] कम परन्तु महत्वपूर्ण अनुवाद आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी की विशेषता है । यहाँ यह देखा जा सकता है कि मैक्सिम गोर्की की कहानी ट्वेन्टी सिक्स प्रजनर्स एंड द गर्ल का हिन्दी रूपांतर 'टानिया' नामकरण के पीछे मिश्रजी की यह भी दृष्टि रही होगी कि संस्कृत में पुत्री शब्द के सम्बोधन हेतु 'तनया' भी शब्द प्रयोग में लाया जाता है । वहीं रूसी भाषा में भी लड़की के सम्बोधनार्थ 'तान्या' शब्द का ही प्रयोग किया जाता है । एक तरह से दोनों शब्द उच्चारण की दृष्टि से मिलते-जुलते प्रतीत होते हैं वहीं दूसरी ओर दोनों शब्दों का प्रयोग व्याकरणिक दृष्टि से स्त्रलिंग (स्त्रीजाति) के लिए ही किया जा रहा है, इसके अतिरिक्त उच्चारण की अस्पष्टता भी 'तन्या' को 'टानिया' की संज्ञा से अभिहीत करने के पीछे कारण रहे । बुद्ध मीमांसा एवम् भीमसिंह आदि रचनाएँ भी इनके द्वारा श्रेष्ठ अनुवाद हैं ।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र कवि के रूप में भी जाने जाते हैं । कहा भी गया है कि 'होनहार वीरवान के होते चीकने पात' । बाल्यावस्था से ही पठन-पाठन एवम् लेखन के प्रति रुचि हिन्दी साहित्य-जगत के लिए शुभ संकेत रही जिसकी अनुकूल परिणति कालान्तर में हुई । ''मिश्रजी के साहित्यिक जीवन का आरम्भ बाल्यावस्था से ही मानना चाहिए । बाल्यावस्था से ही वे 'मुकुंद' उपनाम से ब्रजभाषा और खड़ी बोली में कविताएँ किया करते थे ।''[38] आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी की यह लगन आगे के वर्षों में भी जारी रही । वे जब अपने गुरु लालाभगवानदीन जी के सर्म्पक में आये तो एक तरह से इनका भाग्योदय हो गया । ''परंपरानुसार प्रत्येक

एकादशी को समस्यापूर्ति कराई जाती थी । पंडितजी के सम्मुख लालाजी ने प्रथम समस्या दी थी 'बीन-बीन' । लालाजी के शिष्यों की कविताएँ 'दीन शिष्य' नाम से प्रकाशित होती थीं ।''[39] आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने अपने गुरु के सानिध्य में रहकर कई कविताओं का सृजन किया । लालाभगवानदीन जी के साथ उन्होंने विभिन्न कवि सम्मेलनों में कविता पाठ किया, जो प्रशंसनीय रहा । मिश्रजी के कवि-रूप का उल्लेख श्री शंभुनाथ राय जी ने अपने आलेख में इस प्रकार किया - ''लालाजी के साथ पंडितजी भी विभिन्न कवि - सम्मेलनों में सम्मिलित हुआ करते थे । 1926 ई. में हुई कानपुर के कांग्रेस के कवि-सम्मेलन में पंडितजी ने वह कविता पढ़ी थी जिसका अंतिम चरण था -- 'आग पानी में लगाते हैं ।' उस कविता की बड़ी प्रशंसा हुई थी । उस सभा के सभापति थे - जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' । उसी सभा में पंडित रामावतार शर्मा ने पंडित जी को पुरस्कार दिया था ।''[40] आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी की वह कविता जिसकी दो पंक्तियाँ हैं -- 'कोहरा नहीं है यह धूम बड़वानल का, भानु तापने को आग पानी में लगाते हैं' वास्तव में कानपुर की राष्ट्रीय काँग्रेस के कवि-सम्मेलन में खूब धूम मचाई । काफी वाहवाही लूटी । वैसे कविता लेखन की शुरूआत इन्होंने 1920 ई. से ही कर दी थी । उस समय पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ प्रकाशित हुआ करती थीं । ''सन. 1920 ई. में उनकी प्रथम कविता काशी के 'भूमिहार ब्राह्मण' पत्र में 'बाह्मण' शीर्षक से प्रकाशित हुई ।''[41] इनकी हस्तलिखित कविताओं के तीन संग्रह हैं जो क्रमशः *'कविताकुंज'*, *'मुकुंद मंजरी'* *एवम्* *'पुष्प वाटिका'* नाम से संग्रहित है । 'पुष्पवाटिका' जिस प्रकार नाम से ही फूलों की बगिया प्रतीत होती है ठीक उसी प्रकार इस कविता रूपी पुष्प के तीस-चालीस गीत संग्रहित है, जो विभिन्न पुष्पों को केन्द्र में रखकर सृजित किए गए हैं । ''पुष्पवाटिका' में पारिजात , कुंद, चंपा, मल्लिका चमेली,

जया, मौलसिरी, धतूरा, सूर्यमुखी, मंदार, किंशुक, निवारी, कनेर, मागधी, गेंदा, बन्धूक जयन्ती, गुलाब, केतकी, मालती, पदम आदि पर गीत हैं।"[42]

प्रकृति की सुरम्य एवम् बेहतरीन रचनाओं में पुष्प का प्रमुख स्थान है, जो प्रकृति की खूबसूरती में चार चाँद लगाता है । निश्चित रूप से इनके जीवन के विविध सन्दर्भ में जहाँ एक ओर कवि-कर्म इनके बहुमुखी व्यक्तित्व में चार चाँद लगाते हैं वहीं दूसरी ओर इनके प्रकृति-प्रेम को भी दर्शाता है । श्री शंभुनाथ राय जी अंत में कहते हैं कि- "यद्यपि वर्त्तमान हिन्दी-जगत् उन्हें समीक्षक, टीकाकार एवम् संपादक के रूप में ही जानता है किंतु ये रूप तो उनके जीवन के केवल चौथे चरण के हैं । इसके पूर्व तो वे कवि भी थे, निबंधकार भी थे, कहानीकार भी थे, संपादक भी थे, टीकाकार भी थे, अनुवादक के साथ ही इतिहासकार भी थे, अध्यापक भी थे और आचार्य भी थे।"[43]

स्पष्ट है कि उनके जीवन के विविध सन्दर्भ जहाँ एक ओर हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं से विभूषित एवम् जीवन-कर्म-क्षेत्र से जुड़े थे वहीं दूसरी ओर जीविकोपार्जन हेतु अर्थोपार्जन तथा विद्योपार्जन के साधन रहे । साथ-ही ये एक अच्छे अध्यापक, वक्ता तथा कवि भी रहे । प्राचीन साहित्य में खोज की प्रवृति ने इन्हें कई उत्तरदायित्वपूर्ण पद दिए जिसका निर्वाह इन्होंने बखूबी किया । इनके प्रधान सम्पादकत्व में कई ग्रंथावलियों की पांडुलिपियाँ तैयार हुई तथा कई ग्रंथ प्रकाशित हुए।

1. **ख. रचनाकर्म के विविध सोपान**

1. **ख. (i) सम्पादक के रूप में**

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपने जीवन का महत्वपूर्ण समय प्राचीन हिन्दी साहित्य के ग्रंथों के सम्पादन में व्यतीत किया । प्राचीन ग्रंथों का सम्पादन अत्यन्त ही दुष्कर एवम् श्रम-साध्य कार्य होता है । इसमें अनेक आनुषंगिक विषयों का ज्ञान भी आवश्यक होता है । आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने इस क्षेत्र को सहर्ष

स्वीकारते हुए अनेक प्राचीन ग्रंथों का सम्पादन किया जिससे मध्यकालीन हिन्दीसाहित्य समृद्ध भी हुआ और शुलभ भी । इसके पहले यह इतिहास के पन्नों तक ही सीमित था, जिसे इन्होंने विस्तृत विवेचनात्मक भूमिकाएँ दीं साथ ही उसकी प्रामाणिकता भी सिद्ध की । इन्होंने स्वंय कहा है कि "प्राचीन ग्रंथों का संपादन करने में मेरे तीन युग (36 वर्ष) व्यतीत हो गये ।"[44] कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि इनकी सर्वाधिक रचनाएँ सम्पादन की ही हैं । इनके सम्पादित ग्रंथों को हम अद्योलिखित वर्गों में बॉटकर देख सकते हैं --

क. जिन ग्रंथों का संग्रह, पाठ-शोधन, टिप्पणी एवम् सम्पादन का काम आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने स्वयं ही किया ।

ख. कुछ ऐसे भी ग्रंथ हैं जिसका सम्पादन इन्होंने अन्य लोगों के सहयोग से किया । तथा

ग. कुछ ऐसे ग्रंथ हैं जिनका संकलन तो किसी और ने किया किन्तु सम्पादन आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने किया ।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट होता है कि -"पंडित जी द्वारा सम्पादित ग्रन्थ तीन प्रकार के हैं ।"[45]

उनके द्वारा सम्पादित कुछ ग्रंथों की सूचना यहाँ उदाहरण के तौर पर दी जा रही है जैसे--

'रामचरितमानस (काशिराज संस्करण)' जो आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी के जीवन का श्रेष्ठतम् सम्पादन माना जाता है, शुद्धतम पाठ एवम् उच्चारण-निर्देश के कारण यह अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ है । इसके सम्पादन में इन्हें बारह बर्षों का समय लगा साथ-ही काशिराज ने इस कार्य में प्रभूत धन का व्यय भी किया। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने इस महान ग्रंथ के संपादन हेतु एक योजना बनाई जिसके तहत इन्होंने पूरे

कार्य को तीन खंडों में बाँटा जिसमें "पहले खंड में 'रामचरितमानस' का शुद्ध पाठ युक्त प्रकाशन और दूसरे खंड में पाठशोध के सैद्धांतिक पक्ष और पाठचक्र का प्रकाशन एवम् तीसरे खंड में तुलसीदास के जीवन-वृत और उनके वाङ्मय से संबद्ध सामग्री के प्रकाशन की व्यवस्था ।"[46] सन् 1962 ई. में यह ग्रंथ काशीराज न्यास से प्रकाशित होने पर एक बड़े समारोह में इसका विमोचन किया गया तथा तत्कालीन प्रधानमंत्री ने उन्हें सम्मानित किया । श्री गोवर्द्धन लाल उपाध्याय जी लिखते हैं कि - "12 जनवरी 1962 को वाराणसी में प्रधान मंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू को उसकी प्रथम मुद्रित प्रति विशालरूप में आयोजित समारोह के बीच अर्पित की गई । उन्होंने सुवर्णपत्रांकित प्रशस्तिपत्र और महावस्त्र मिश्रजी को प्रदान किए ।"[47]

'पद्माकर पंचामृत' आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की सम्पादित रचनाओं में से एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है । जिस प्रकार पूजा-पाठ हेतु पंचामृत का निर्माण घृत, दुग्ध, मधु और शर्करा के योग से होता है, ठीक उसी प्रकार पद्माकर, पंचामृत' नामक इस ग्रंथावली में पद्माकर कृत पाँच ग्रंथों का संग्रह है । ये ग्रंथ हैं क्रमशः हिम्मत बहादुर विरुदावली, पद्माभरण, जगदविनोद, प्रबोध-पचासा और गंगालहरी ।

केशव-ग्रंथावली तीन खंडों में उपलब्ध है । इसके बारे में रचनाकार श्री शंभुनाथ रायजी का विचार है कि -- "ऐसा सुथरा सम्पादन बहुत ही कम ग्रन्थों का मिलता है । पंडितजी ने ग्रंथावली का सम्पादन डॉ. धीरेन्द्र वर्मा के विशेष आग्रह पर किया था । इसके मुद्रण में इतनी सतर्कता बरती गई है कि इसमें कहीं अशुद्धि मिलती ही नहीं ।"[48]

'घनआनंद' और 'आनंदघन' नामक ग्रंथ आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी के द्वारा ही सम्पादित हैं । इस ग्रंथ के सम्पादन के पहले घनानंद के सम्बन्ध में सूचनाएँ इतिहास ग्रंथों में ही उपलब्ध थी । इसका उल्लेख करते हुए श्री शंभुनाथ

रायजी भी लिखते हैं कि- "हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में अथवा विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रमों में निर्धारित पाठ्य-पुस्तकों में ही घनानंद के कुछ छन्द देखने को मिलते थे ।"[49] इस ग्रंथ के प्रकाशित होने पर ब्रज-साहित्य-मण्डल ने आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी को 'श्रीनिवासदास पुरस्कार' प्रदान कर सम्मानित किया ।

नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना के पचास वर्ष पूरे होने पर सभा का अर्द्धशताब्दी इतिहास प्रस्तुत किये जाने की योजना बनी । इस कार्य के लिए विद्वानों ने श्री आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी को ही अधिकृत किया । इस सम्बन्ध में श्री गोवर्द्धन लालजी का वक्तव्य द्रष्टव्य है, वे लिखते हैं कि- "सन् 1943 ई. (सं. 2000 वि.) में सभा ने जब अपने जीवन के पचास वर्ष पूर्ण कर लिए तब अपना अर्द्धशताब्दी इतिहास प्रस्तुत करने का निश्चय किया जिसके सम्पादन का भार भी आप पर ही डाला गया । आपने बड़े परिश्रम से सभा के पचास वर्षों के कार्यों का लेखा-जोखा एकत्र करवाकर उसका सम्पादन पूर्ण किया ।"[50]

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी को 'हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास' सम्पादक मण्डल में भी चुना गया, पर जब इन्होंने मगध विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष का पद स्वीकार किया तो इन्होंने उक्त कार्य से अपने आपको विरत कर लिया । इसकी पुष्टि करते हुए श्री गोवर्द्धन लाल जी कहते हैं कि - "हिन्दी-साहित्य का बृहत इतिहास के संपादक-मंडल में आप तभी चुने गये थे और उसकी बैठकों में भी सम्मिलित होकर परामर्श दिया करते थे ।"[51]

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने न केवल ग्रंथों, नाटकों एवम् भाष्यों और अनुवादों का ही सम्पादन किया बल्कि विशिष्ट पत्रिका का भी सम्पादन इन्होंने किया, जिसमें नागरी प्रचारिणी पत्रिका भी प्रमुख है । साथ ही कई अन्य महत्वपूर्ण पुस्तकों का सम्पादन इनके हाथों हुआ यथा - सत्यहरिश्चंद्र नाटक, कवितावली,

सुदामाचरित, विनय पत्रिका, भूषण ग्रंथावली, अलंकार-मंजूषा, केशव की काव्य कला, हम्मीर हठ आदि । कुल मिलाकर इन्होंने पचपन पुस्तकों का सम्पादन किया जिससे हिन्दी साहित्य और भी समृद्ध हुई ।

1. **ख. (ii) अन्वेषक के रूप में** :

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी के जीवन का एक प्रबल पक्ष अन्वेषक का रहा है । आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी का युग वस्तुतः वह युग था जब हिन्दी साहित्य की समीक्षा-दृष्टि का विकास हो रहा था । महान साहित्यकारों की रचनाओं के सन्दर्भ में अनुसंधान एवम् उनके युग और काल की पड़ताल का कार्य तेजी पर था। तमाम महान साहित्यकारों की रचनाएँ संदिग्ध थी, और उनकी प्रामाणिकता को साबित करने का कोई निश्चित उपाय नहीं था । इन्होंने हिन्दी साहित्य की इस आवश्यकता को महसूस किया । साथ-साथ इस दिशा में जीवनपर्यन्त अग्रसर रहे। वस्तुतः अनुसंधान दुष्कर कार्य होता है । इसमें साधक को हठ पूर्वक साधना करनी पड़ती है । यह उबाऊ होता है । सभी इस क्षेत्र में अपनी पैठ नहीं बना सकते । मिश्रजी तो इस क्षेत्र के सधे हुए वीर थे । इन्होंने प्राचीन पाण्डुलिपियों का बड़ा ही समेकित रूप से अध्ययन-मनन किया । इनकी यह हार्दिक इच्छा थी कि जिन कार्यों को हमारे श्रेष्ठजन करते रहे हैं उन्ही कार्यों को मैं भी जीवनपर्यन्त करने का प्रयास करता रहूँ । जैसा कि हमने पहले भी उल्लेख किया है कि नागरी प्रचारिणी सभा में इन्होंने ग्यारह-बारह वर्षों का अद्वितीय योगदान दिया । इन्हीं के समय में सभा ने कई महत्वपूर्ण उपलब्धियों को हासिल भी किया । जैसा हम कह सकते है कि इन्हीं के निर्देशन में सभा ने पचास वर्षों का अपना लेखा-जोखा एक साथ प्रस्तुत कर पाने में सक्षम हुआ । प्राचीन पाण्डुलिपियों के आलोडन-विलोडन का परिणाम यह निकला कि कई ग्रंथावलियों का प्रकाशन सुलभ हो पाया । इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य

विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी का अन्वेषण के क्षेत्र में अभूतपूर्व योगदान रहा है । उनके इस योगदान का ही परिणाम है कि आज प्राचीन काव्य-ग्रंथ विस्तृत आयाम के साथ आज हमारे बीच उपलब्ध है तथा अनेक शोध-परक-दृष्टि अनुसंधित्सुओं को दृष्टिगोचर हो रही है, जिससे लगातार हिन्दी साहित्य-जगत समृद्धि की ओर अग्रसर है ।

1. **ख (ii) अ पाठालोचन** :

अन्वेषक के रूप में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी की भूमिका दो रूपों में देखी जा सकती है । ये हैं क्रमशः पाठालोचन तथा पाठानुसंधान । पाठ-सम्पादन हेतु हिन्दी में कई नाम हैं यथा पाठालोचन, पाठानुसंधान, पाठान्वेषण, पाठशोधन, ग्रंथ-संपादन आदि, पर अंग्रेजी में इसे केवल 'टेक्सचुएल क्रिटिसिज्म' ही कहा जाता है और इन सब का आशय है पाठ-सम्बन्धी विचार । वैसे पाठालोचन तथा पाठानुसंधान एक दूसरे से इस तरह जुड़ा हुआ है कि पाठालोचन के बगैर पाठानुसंधान संभव नहीं । किसी रचना का वास्तविक पाठ क्या रहा होगा और किन कारणों से वैसा रहा होगा आदि विषयों का विवेचन अथवा सम्यक् पाठ का आलोडन-विलोडन ताकि सही पाठ का पता चल सके, पाठालोचन हुआ करता है । वस्तुतः मुद्रण के अभाव के कारण हस्तलिखित प्रतियों में प्रतिलिपि कार्य की अशुद्धियों अथवा कभी-कभी लिखक के प्रमाद के चलते मूल पाठ से इतर अन्य पाठ प्रतिलिपियों में चले जाते हैं, जो कालान्तर में मूल पाठ के ही अंग प्रतीत होते हैं । ऐसे में सजग पाठालोचक का यह दायित्व होता है कि वह विविध आंतरिक एवम् बाह्य स्रोतों के आधार पर पाठ की उचित समीक्षा कर सम्यक् पाठ का निर्धारण करे । ''रचना का वास्तविक पाठ भी दो प्रकार का होता है-- एक वह जो लेखक की लेखनी से लिपिबद्ध हुआ हो और दूसरा वह जो उसका अभीष्ठ रहा हो, भले ही उसको लिपिबद्ध करने में लेखक से कोई प्रमाद हो गया हो । पाठालोचन उक्त पहले प्रकार के पाठ का निर्धारण

करके उक्त दूसरे प्रकार के पाठ तक पहुँचने का भी प्रयास करता है ।''[52]

पाठालोचन दो शब्दों से बना है, वे हैं 'पाठ और 'आलोचन' । 'पाठ में 'पठ' धातु है तथा आलोचन 'लुच' धातु के योग से बना है । 'पाठ' का अर्थ है उच्चारण, वाचना आर्थात् reciatation or study. 'आलोचन' का अर्थ है -- विचार करना, देखना आदि । ''किसी रचना की सभी प्रतियों के परीक्षण एवं निश्चित वैज्ञानिक विधि के अनुगमन द्वारा उन प्रतियों के आधार पर रचयिता के अभीष्ठ पाठ को प्राप्त करने की प्रक्रिया को ही 'पाठालोचन या पाठसम्पादन' कहते हैं ।''[53] वस्तुतः पाठालोचन प्रक्रिया की दो दृष्टियाँ विकसित हैं । इसके सम्बन्ध में डॉ. राय कहते हैं कि - ''पाठालोचन या पाठसम्पादन की परिभाषा मुखतः दो दृष्टियों से की गयी - एक वैज्ञानिक दृष्टि एवं दूसरी साहित्यिक-दृष्टि । इनमें पहली को पाश्चात्योन्मुखी एवं दूसरी को भारतीय परम्परोन्मुखी दृष्टि कह सकते हैं ।''[54] स्पष्टतः पाठालोचन की इन दो दृष्टियों में से वैज्ञानिक दृष्टि के सम्बन्ध में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी का मानना है कि - वैज्ञानिक प्रक्रिया आंकड़े उपस्थित करती है जबकि साहित्यिक-प्रक्रिया शब्द के अर्थ पर दार्शनिक-दृष्टि से विचार करती है । निश्चित रूप से आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने साहित्यिक-दृष्टि अथवा यूं कहें कि इन्होंने भारतीय-दृष्टि की वकालत की । इनके अनुसार -- ''वैज्ञानिक प्रक्रिया भारतीय दार्शनिक दृष्टि से विज्ञान होने से जड़ है । साहित्यिक प्रक्रिया दर्शन होने से चेतन है ।''[55] पाठालोचन का मुख्य आधार हस्तलिखित ग्रंथों का वैज्ञानिक अध्ययन रहा है । उदाहरण के तौर पर नागरी प्रचारिणी सभा काशी के हिन्दी ग्रंथों के हस्तलिखित प्रतियों का विवरण देखा जा सकता है । उदाहरणतः --

''चित में अति विसवास गहि, गहं भगत की टेक ।

माधौदास कहै प्रभु, टोर विधन अनेक ।।१०।।

इति करुणाष्टक संपूरणा समापत ।।

विषय :- कृष्ण स्तुति ।

संख्या १९५, दानलीला, रचयिता-माधोदास, कागज-देशी, पत्र - ३ (११९-१२१), आकार-६$^{१}/_{२}$ X ११ इंच, पंक्ति (प्रतिपृष्ठ) -१८, परिमाण (अनुष्टुप) - ४८, खंडित, रूप-प्राचीन, पद्य, लिपि-नागरी, प्राप्ति स्थान - पुस्तक प्रकाश, जोधपुर (राजस्थान) ।''[56]

इसके अतिरिक्त अन्य उदाहरण भी देखे जा सकते हैं ।

''आदि - जै जै जै श्री जगन्नाथ रथ विजै मुरारी ।

बुद्धि प्रकाशक सदा कृष्ण सेवक सुखकारी ।।१।।

नील गिरिवर सुंदर कृष्ण वृधि विराजे ।

सपत दीप नवखंड मधि, सब ऊपरि भ्राजे ।।२।।

कृष्ण वृच्छि आनंद मूल गुन पलव साखा ।

पुराण पत्र- चारि ग्यान पुहप सुबासा ।।३।।

अंत - कलियुग पाप हारनौ दुस्तर है भाई ।

तरयौ चाहै तो सावधान सुनौ येक सुगम उपाई ।।१५३।।

X X X X X

वैष्णव संगति पाइकै मन भयो प्रकास ।

श्री जगन्नाथ कौ दासानिदासु गावै माधोदास ।।१५५।।

इति श्री रथलीला समाप्त ।

विषय : - माधौदास वैष्णव ने श्री जगन्नाथजी के रथयात्रा का वर्णन सविस्तार किया है । इसमें लक्ष्मी ने विराट दशा में पवन को दूत बनाकर भेजा है ।

संख्या १९७ पदावली, रचयिता - माधोदास, कागज - देशी, पत्र - ४, आकार - ८ X

५, पंक्ति - (प्रतिपृष्ठ) - १४, परिमाण (अनुष्टुप) - ५६, खंडित, रूप-प्राचीन, पद्य, लिपि-नागरी, रचनाकाल - सं. १८०७ वि., प्राप्ति स्थान - म्यूनिस्पल म्यूजियम, इलाहाबाद (उ.प्र.) ।''[57]

उपरलिखित इन दोनों उदाहरणों में देखा जा सकता है कि पाठालोचन की पहली शर्त पद, अथवा चौपाई के सृजन करने वाले का नाम ढूंढ कर लिखा जाता है । तत्पश्चात् पद की संख्या, पद जिस कागज पर उद्धृत है उस कागज की प्रकृति अर्थात् वह कागज देशी है या फिर अन्य । अगली शर्त के अन्तर्गत उस कागज का आकार अर्थात् उसकी लम्बाई एवम् चौड़ाई, यहाँ तक कि प्रति की दशा अर्थात् वह खंडित है या फिर ठीक दशा में है । इसके साथ-साथ पाठालोचक को यह भी ध्यान रखना होता है कि जिस पुस्तक से पद प्राप्त किया गया है उसका प्राप्ति स्थान, प्रकाशक का नाम एवम् पता, ग्रंथ के पृष्ठों का रूप अर्थात् प्राचीन है या फिर नवीन साथ ही परिमाण एवम् लिपि को भी परखना रहता है । दिए गए प्रथम उदाहरण से स्पष्ट है कि इसके रचयिता श्री माधोदास हैं, जिन्होंने देशी कागज में अपनी रचना प्रस्तुत की है, यह नागरी लिपि में रचित है, जो पत्र - ३ (११९-१२१) , आकार - ६$^1/_2$ X ११ इंच तथा इसका परिमाण (अनुष्टुप) - ४८ है तथा यह खंडित रूप में प्राप्त हुआ । इस उद्धरण का रूप भी प्राचीन पद्य माना गया है । पुस्तक का प्राप्ति-स्थान पुस्तक प्रकाश, जोधपुर, (राजस्थान) है ।

लिया गया दूसरा उदाहरण भी श्री माधोदास की रचना है । इसके लिए भी रचयिता ने देशी कागज का ही इस्तेमाल किया है । इसके पत्र का आकार - ८ X ५, तथा पात्र ४, एवम् परिमाण (अनुष्टुप) - ५६, है । देवनागरी लिपि में लिखा गया यह पदावली का रूप भी प्राचीन पद्य स्वीकार किया गया है । इस पदावली का

रचनाकाल सं. १८०७ वि., तथा इसका प्राप्ति स्थान - म्यूनिस्पल म्यूजियम, इलाहाबाद (उ.प्र.) है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पाठालोचन एक तरह से पाठ सम्बन्धी विचार है जिसमें किसी रचना का वास्तविक पाठ क्या होना चाहिए एवम् किन कारणों से वैसा होना चाहिए आदि का विवेचन होता है । इस दौरान पाठालोचन में प्राप्त हस्त-लेखों अथवा पाण्डुलिपियों का अत्यन्त ही गंभीरता पूर्वक परीक्षण करना होता है । यहाँ मिश्रजी ने पाठालोचन के जिन तरीकों का इस्तेमाल किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

1. **ख (ii) आ. पाठानुसंधान** :

अन्वेषण की पूर्णता पाठालोचन तथा पाठानुसंधान के महती प्रयोग से ही होती है । वस्तुतः पाठालोचन की प्रक्रिया पाठानुसंधान में ही सिद्ध होती है । पाठालोचन अपने आप में इष्ट या साध्य न होकर मूल पाठ के अनुसंधान के लिए विद्वानों को प्रेरित ही करता है । अतः पारिभाषिक रूप से पाठालोचन एवम् पाठानुसंधान दो अलग प्रक्रियाएँ होती हुई भी एक ही सिक्के के दो पहलू की तरह हैं। बिना पाठालोचन के पाठानुसंधान और बिना पाठानुसंधान के पाठालोचन की प्रक्रिया को हम पूर्ण नहीं मान सकते । वास्तव में पाठालोचन किसी पाठ की साहित्यिक-विवेचना है जबकि पाठानुसंधान उन साहित्यिक-विवेचनाओं के आधार पर वैज्ञानिक प्रक्रिया को अपनाते हुए उचित पाठ तक पहुँचाने का प्रयास है । डॉ कैलाश नाथ मिश्रजी लिखते हैं कि -- ''पाठानुसंधान कृति' का विश्लेषण नहीं अपितु उसके मूल स्वरूप का सम्यक् निरूपण है ।''[58] प्राचीन ग्रंथों के मूल पाठ में अन्तर आना वस्तुतः एक सामान्य मानवीय प्रक्रिया है जिसे श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी स्वीकार करते हुए कहते हैं कि - ''मूल ग्रंथ के लेखक से लेकर संपादक तक सभी चेतन प्राणी होते हैं । जड़ की गतिविधि

जितनी व्यवस्थित होती है उतनी चेतन की नहीं । अतः चेतन का प्रयास सर्वत्र नियत नहीं होता ।''[59] ऐसी स्थिति में एक सजग अनुसंधानकर्त्ता को वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर साहित्यिक-प्रक्रिया को अपनाते हुए मूल पाठ के तह तक पहुँचने का प्रयास करना चाहिए । मिश्रजी इसी सन्दर्भ में आगे स्वीकार करते हुए कहते हैं कि -- ''अतः दोनों सरणियों के तुल्यबलसंयोजन से ही सर्वोत्तम कार्य हो सकने की अधिक संभावना है ।''[60] 'पाठानुसंधान' शब्द भी दो शब्दों के मेल से बना है वे शब्द हैं 'पाठ' और 'अनुसंधान' । पाठानुसंधान अर्थात् पाठ के ठीक-ठीक निर्धारण हेतु आचार्य श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने लिपि, मात्रा, वर्तनी आदि को आधार बनाया । एक उदाहरण के माध्यम से हम उनकी इस दृष्टि को समझने का प्रयास करते हैं -- ''प्रथम सोपान या बालकांड में दुर्जनों की शंसा या अभिशंसा करते हुए तुलसीदास ने लिखा है --

बायस पलिअहिं अति अनुरागा ।
होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा ।।

इस अर्धाली के 'बायस' के बदले प्राचीन हस्तलेखों में संशोधन के पूर्व का पाठ 'पायस' है । यद्यपि इस अर्धाली में 'बायस' और 'कागा' से होने वाली द्विरुक्ति का परिहार करने के लिए प्रार्यायवाची शब्दों का व्यवहार किया गया है, तथापि यहाँ दो बार उल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं है । अनुराग से पालने में 'निरामिषत्व' का ग्रहण दूरारूढ़ है । 'पायस' (खीर) के द्वारा 'निरामिष' की प्रतिद्वंद्विता ठीक-ठीक होती है ।''[61] यहाँ यह देखा जा सकता है कि 'बायस' शब्द के स्थान पर कई मिलते-जुलते शब्द पूर्व के पाठों में आए हैं । ये शब्द अपनी प्रकृति के अनुसार पाठ में भेद तथा अर्थ में भिन्नता उत्पन्न करते हैं । श्री मिश्रजी के द्वारा इन शब्दों का अनुसंधान रामचरितमानस के काशीराज संस्करण के संपादन के दौरान प्रयोग किया गया - ''$^{5}/_{2}$

पायस, ९ (कुंज ÷ रघु ÷ जवा, उद ÷, नर, नाथ÷), बायसु (बड़) ; x यंश (मन) ; बायस (अन्यत्र) ।''[62] इस उदाहरण से स्पष्ट है कि आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने सटीक शब्द के चयन के पूर्व उन सारे मिलते-जुलते शब्दों के अर्थ एवम् उन शब्दों से अर्धाली पर पड़ने वाले प्रभाव की गहनता से पड़ताल की ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्यिक विवेचनाओं के आधारपर वैज्ञानिक पद्धति को अपनाकर ही मिश्रजी अपने अनुसंधान कार्य में अपनी गहरी पैठ बना सके ।

1. **ख (iii) इतिहासकार के रूप में** :

हिन्दी-साहित्य जगत में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र साहित्येतिहासकार के रूप में एक हस्ताक्षर हैं । उनके द्वारा रचित दो महत्वपूर्ण ग्रंथ क्रमशः 'हिन्दी साहित्य का अतीत भाग एक' तथा हिन्दी साहित्य का अतीत भाग दो' साहित्य के इतिहास की पुस्तक मानी जाती है । इसके अतिरिक्त 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' नामक ग्रन्थ भी ऐसे लेखों का संकलन है जो हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल का समीक्षात्मक इतिहास प्रस्तुत करने में सक्षम है । वस्तुतः ''हिन्दी साहित्य का अतीत' दोनों भाग और यह ग्रंथ मिलाकर सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य को बड़ी सफलता पूर्वक उपस्थित करते हैं ।''[63]

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने 'हिन्दी साहित्य का अतीत भाग - एक' में हिन्दी साहित्य के आदिकाल एवम् भक्तिकाल का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया है । ''हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल के पूर्वार्ध (भक्तिकाल) का जैसा सम्यक् विवेचन इस ग्रंथ में है,अन्यत्र दुर्लभ है । साहित्य एवम् उसके इतिहास की गुत्थियाँ खोलकर इतनी स्पष्ट कर दी गई है कि पंडित जी से अपरिचित पाठक भी कहने लगता है कि रचना किसी अत्यन्त सुलझे हुए आचार्य की है । इस ग्रंथ की भूमिका ही इतनी रोचक तथा

सबल है कि पाठक को आद्यांत पढ़ने को बाध्य कर देती है ।"[64] यह ग्रंथ सन् 1958 ई. में प्रकाशित हुई ।

सन् 1960 ई. में इन्होंने हिन्दी साहित्य का अतीत दूसरा भाग' की रचना की । इस ग्रंथ में हिन्दी साहित्य के उत्तरमध्यकाल अर्थात् श्रृंगारकाल का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है । "यह भाग हिन्दी साहित्य के उत्तरमध्यकाल की सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रवृत्तियों एवं तत्त्वों का उल्लेख करने में पूर्णतया समर्थ है ।"[65] हिन्दी साहित्य के उत्तरमध्यकाल का नामकरण आचार्य शुक्लजी ने रीतिकाल किया है, जबकि इन्होंने इस काल को श्रृंगारकाल से अभीहित किया है ।

हिन्दी साहित्य के आधुनिककाल के इतिहास के रूप में प्रतिष्ठित *'हिन्दी का सामयिक साहित्य' आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी के द्वारा विभिन्न अवसरों* एवम् समयों में लिखे गये आलोचनात्मक निबंधों का संग्रह है, जो सन् 1952ई. में प्रकाश में आयी । श्री शंभुनाथ राय जी कहते हैं कि -- "यह पुस्तक पंडित जी के ऐसे लेखों का संकलन है जो कि हिन्दी-साहित्य के आधुनिककाल का समीक्षात्मक इतिहास प्रस्तुत करते हैं ।"[66]

स्पष्टतः यह विदित है कि इन्होंने साहित्येतिहास लेखन की परम्परा को एक विस्तृत आयाम के साथ प्रस्तुत किया जिससे साहित्येतिहास को एक नई दिशा मिली और इन्हें इतिहासकार के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई ।

1. **ख (iv) स्वतंत्र चिंतक के रूप में** :

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपने साहित्येतिहास में अपनी स्वतंत्र विचारधारा प्रवाहित की है, जो उन्हें साहित्य के अन्य इतिहासकारों से पृथक करती है । भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में भी उनकी दृष्टि हमें नई सूचना का संकेत करती

है । उनके विचार में कई भाषाओं के अस्तित्व में आने पर भी जहाँ संस्कृत भाषा अपनी धुरी पर दृढ़ रही वहीं साहित्य में भी किसी प्रकार का भेद नहीं हुआ । ये कहते हैं कि-- "विभाषाओं के रहते हुए भी संस्कृत भाषा एक थी, पर देश और रूप के भेद से प्राकृतें अनेक हो गई । भाषा-भेद हो गया पर साहित्यभेद नहीं हुआ ।"[67] इन्होंने सिद्धों-नाथों की बानियाँ को हिन्दी-काव्यधारा के दायरे से बाहर माना है । पर इतना जरूर माना है कि सिद्धों-नाथों की बानियाँ हिन्दी में ही कही गयी है और सभी देशी भाषाओं में हिन्दी अधिक प्रभावशाली है । इन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि-- "हिन्दी के भीतर खींची जानेवाली समस्त रचना काव्य नहीं है । सिद्धों-नाथों की बानियाँ हिन्दी भाषा में कही गई हैं, उनकी मानी भी जा सकती हैं पर हिन्दी-काव्यधारा से उनका कोई संबंध नहीं ।"[68] श्री मिश्रजी की दृष्टि में अपभ्रंश का उत्तरकालिक भाग हिन्दी के करीब है । हिन्दी-साहित्य के आविर्भाव काल के सम्बन्ध में मिश्रजी की एक स्वतंत्र दृष्टि रही है । ये "हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव सं 1000 के लगभग से मानते हैं । इसके पूर्व की रचना हिन्दी-साहित्य के अधिकार-क्षेत्र से बाह्य है ।"[69] शायद इसलिए उन्होंने जैन-बौद्ध के सिद्धांतों की चर्चा हिन्दी-साहित्य की भूमिका में अपेक्षित नहीं माना। उनका मानना है कि ये केवल चाकचिक्य उत्पन्न करते हैं । उन्होंने हिन्दी-साहित्य के अतीत एवम् वर्तमान का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए कहा कि "हिन्दी-साहित्य का अतीत उसके वर्तमान की अपेक्षा अधिक ऋद्ध है ।"[70] उन्होंने आगे कहा - "हिन्दी-साहित्य का अतीत जितना संपन्न है, उतना किसी देशी-भाषा का प्राचीन साहित्य नहीं । हिन्दी-साहित्य के अतीत के आभोग में उसका आदिकाल और मध्यकाल आता है ।"[71]

जहाँ तक अमीर खुसरो के हिन्दी सर्जना का प्रश्न है, श्री मिश्रजी ने उनकी रचनाओं को परम आधुनिक माना है । यहाँ तक की आदि कवि विद्यापति को

भी हिन्दी साहित्य में इसलिए सम्मिलित किया, क्योंकि उनकी कृतियाँ ब्रजरंजित हैं । मिश्रजी एक स्थान पर कहते हैं कि -- "इस प्रकार विद्यापति ही ऐसे रह जाते हैं जो उस युग के हैं और जिनकी रचनाएँ दरभंगा और नेपाल के राजकीय पुस्तकालयों में सुरक्षित होने से स्वकीय प्राचीनता का प्रामाणिक आख्यान कर सकती हैं । विद्यापति को तथा इसी प्रकार के अन्य कवियों को हिन्दी साहित्य में सम्मिलित करने का हेतु यही है कि उनकी कृतियाँ ब्रजरंजित हैं ।"[72]

हिन्दी-साहित्य को समृद्धि प्रदान करने में मध्यकाल की भूमिका को श्री मिश्रजी अहम मानते हैं । उनके अनुसार "हिन्दी-साहित्य का मध्यकाल इतना सुसंपन्न और परिमाण में इतना पुष्कल है कि पचास वर्ष के पूर्व प्रमुख ग्रंथराशि मुद्रित-संपादित होकर सामने आ नहीं सकतीं । पूरी राशि को प्रत्यक्ष करने में सौ-दो-सौ वर्ष से कम न लगेंगे । भक्तिकाल और श्रृंगारकाल दोनों सुसंपन्न हैं ।"[73] यहाँ यह देखा जा सकता है कि एक स्वतंत्र चिंतक के रूप में इन्होंने जहाँ भाषा और साहित्य पर सार्थक विचार किया है वहीं विद्यापति जैसे रचनाकारों की रचनाओं को भी परखने का उद्योग किया है। इसके अतिरिक्त हिन्दी-काव्यधारा के अन्तर्गत समेटी जाने वाली सभी रचनाओं को काव्य मानने से इनकार किया है ।

1. **ख. IV अ. रसवादी चिंतक के रूप में :**

स्वतंत्र चिंतक के रूप में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के व्यक्तित्व के आरेखन का आशय यह है कि उपर्युक्त साहित्यिक जिम्मेदारियों को वहन करते हुए वे विचार और चिंतन के क्षेत्र में नवीन और मौलिक उद्‌भावनाएँ प्रकट करते हैं । यह मौलिकता उनके विराट् अध्ययन एवम् अन्वेषण के गूढ़ उत्तरदायित्वों से उपजी है और हिन्दी साहित्य को विचार एवम् चिंतन को नई दिशा देती है । वास्तव में आचार्य मिश्र

साहित्यिक-सरोकारों से प्रतिबद्धता पूर्वक संपृक्त रहनेवाले रचनाकार थे, जिनके लिए साहित्य सिर्फ मनबहलाव के लिए नहीं बल्कि महत्त दायित्वों की पूर्ति का साधना था । अतः आचार्य मिश्र अपने समकालीन सोच को आत्मसात करते हुए अपनी गंभीर तत्वान्वेषी दृष्टि से हिन्दी साहित्य का नया फलक निर्मित करते हैं और साहित्य के विविध कालों एवम् उसकी परिस्थितियों पर विचार करने के साथ-साथ उस युग के महत्वपूर्ण रचनाकारों को लेकर नये तरह से विषयों को प्रस्तुत करते हैं । वस्तुतः स्वतंत्र चिंतक का यह रूप उनके सम्पूर्ण साहित्यिक-कार्यों में बखूबी रेखांकित किया जा सकता है, बावजूद इसके उन्होंने साहित्य में अपना नजरिया बनाया और उसे बलपूर्वक स्थापित भी किया । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवम् डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य चिंतकों के बीच उनकी साहित्यिक सोच नयी तरह से हिन्दी साहित्य को देखने का नजरिया प्रस्तुत करती है । अगर उनके चिंतन के प्रमुख पक्षों का निर्धारण करना ही पड़े तो हम देख सकते हैं कि उनका चिंतन त्रि-स्तरीय है और उनकी पूरी साहित्यिक अवधारणायें इसी के इर्द-गिर्द निर्मित होती है । इन स्तरों को सुविधा की दृष्टि से हम इस तरह से लिख सकते हैं - (1) रसवादी चिंतक के रूप में (2) लोकवादी चिंतक के रूप में एवम् (3) सांस्कृतिक चिंतक के रूप में । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी की भांति ही आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी भी मूल रूप से रसवाद के समर्थक माने जाते हैं । इन्होंने रस का सम्बन्ध अनुभूति से माना । यह अनुभूति चाहे साक्षात या प्रत्यक्षानुभूति हों या फिर काव्यानुभूति । प्रत्यक्षानुभूति में सुख एवम् दुःख का सामंजस्य होता है । जहाँ सुखानुभूति में हमारा मन रमता है वही दुःखानुभूति से हमारा मन हटता है । "प्रत्यक्षानुभूति में इस प्रकार मन की दो स्थितियाँ देखी जाती है । कभी विषय में वह लगा रहता है और कभी विषय से वह हटना चाहता है ।"[74] आशय यह कि दोनों प्रकार के भावों की अनुभूतियों में मन की केवल

एक ही स्थिति होती है । "मन के इसी रमण के कारण इस अनुभूति को 'रस' कहते हैं ।'[75] इन्होंने यह भी स्पष्टतः कहा कि - "रस की अनुभूति पाठक या दर्शक को हुआ करती है ।"[76] इस सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों ने अलग-अलग मत प्रकट किये हैं । रस की स्थिति किसी ने "अनुकार्य में किसी ने अनुकर्ता में, किसी ने अनुकार्य एवम् अनुकर्ता दोनों में तथा किसी ने दर्शक या सामाजिक या ग्रहीता में मानी है ।"[77] इन्ही विभिन्न मतों के फलस्वरूप अलग-अलग सिद्धांत प्रकाश में आये जिन्हें क्रमशः उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद और व्यक्तिवाद के नाम से अभिहीत किया गया है ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने भी यह स्वीकारा कि विभिन्न प्रकार के रूप-विधानों में भावों को जागरित करने की शक्ति होती है ताकि वे रस-कोटि में आ सकें । आचार्य शुक्लजी के अनुसार "रूप विधान तीन प्रकार हुए -

1. प्रत्यक्ष-रूप-विधान
2. स्मृत रूप-विचार और
3. कल्पित रूप-विधान

इन तीनों प्रकार के रूप विधानों में भावों को इस रूप में जागरित करने की शक्ति होती है कि वे रस-कोटि में आ सकें ।"[78] आचार्य शुक्ल जी ने इस बात पर भी बल दिया कि "प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जागरित वास्तविक अनुभूति भी विशेष दिशाओं में रसानुभूति की कोटि में आ सकती है ।"[79]

यहाँ यह स्पष्ट होता है कि रस के सम्बन्ध में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी के विचार लगभग आचार्य शुक्ल जी के विचारों से मिलते-जुलते हैं । दोनों आचार्यों ने रस की स्थिति एक जैसी बतायी । यहाँ तक कि जिस प्रकार आचार्य शुक्लजी ने समीक्षा का मानदण्ड रस-सिद्धान्त को निर्धारित किया ठीक उसी प्रकार

इन्होंने भी रस को ही काव्य की आत्मा माना । डॉ. रामचन्द्र तिवारी ने अपनी पुस्तक हिन्दी का गद्य साहित्य में इस बात का उल्लेख करते हुए कहा है कि - "आचार्य शुक्ल 'रस-सिद्धांत को समीक्षा का सर्वोत्तम एवं सनातन मानदण्ड स्वीकार किया था । मिश्रजी भी रस को ही काव्य की आत्मा मानते हैं । उनके अनुसार श्रव्य-काव्य मीमांसा की चरम परिणति 'वक्रोक्तिःकाव्यजीवतम् के रूप में हुई थी । दृश्य-काव्य परम्परा 'रस' को महत्व देती है । रस के निर्णायक सहृदय हैं । अतः रस-दृष्टि में समाज को महत्व मिलना स्वाभाविक है ।"[80] आशय यह कि काव्य चाहे श्रव्य-काव्य हो अथवा दृश्य-काव्य महत्व रस को ही दिया जाता है ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने भी अपने विचार 'चिन्तामणि' नामक पुस्तक के माध्यम से व्यक्त करते हुए कहा कि - "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है।"[81] यहाँ पर हम देखते है कि शुक्ल जी ने यह संकेत दिया है कि मनुष्य के भाव-प्रसार का माध्यम काव्य है जहाँ रस-दृष्टि की ही प्रधानता रहती है । डॉ. रामबहादुर राय जी ने भी अपनी पुस्तक 'हिन्दी आलोचना और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र' में आचार्य शुक्ल के रसवादी दृष्टि को इंगित करते हुए कहा कि "उन्होंने काव्य के विभिन्न स्वरूप, लक्षण, प्रयोजन आदि पर अपना सैद्धांतिक मत प्रस्तुत किया है । इन विचारों में लोकमंगल और रस दृष्टि की प्रधानता है ।"[82] निश्चित रूप से आचार्य शुक्ल की रसवादी दृष्टि आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी की दृष्टि से मेल खाती है। यहाँ दोनों आचार्य नाट्यशास्त्र के रचयिता आचार्य भरत के 'वाक्यं रसात्मक काव्यम्' के समर्थक दीखते हैं । दोनों की दृष्टि मंगल का विधान करने वाली है ।

मिश्रजी ने रस-भूमि को लौकिक भूमि माना है । ये कहते हैं कि

"वाङ्मय के शास्त्र और काव्य दोनों पक्षों के हितार्थ रस को लोकभूमि मानना ही उचित है ।'[83] भारतीय रस-भूमि के अन्तर्गत स्वीकृत भाव-भूमि जाति, वर्ग, संप्रदाय आदि भेदों में भी तटस्थ रहकर अभेद की सूचना देता है । यहाँ तक कि - "प्रेम, ह्रास, आश्चर्य, उत्साह, शोक, क्रोध, भय, घृणा, शांति, भक्ति, श्रद्धा, वात्सल्य आदि भावों में भेद का वैषम्य नहीं, अभेद का साम्य है ।"[84]

यहाँ हम देखते हैं कि शुक्लजी की भाँति मिश्रीजी भी रसवाद के समर्थक हैं । दोनों ने रस सिद्धांत को समीक्षा का मानदण्ड निर्धारित किया है । काव्य चाहे श्रव्य काव्य हो अथवा दृश्य काव्य महत्व रस को ही दिया जाता है ।

1. **ख. IV आ. लोकवादी चिंतक के रूप में :**

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का साहित्यिक पक्ष 'लोकपक्ष' है । साहित्य की सम्पूर्ण अवधारणा को वे 'लोक' के सापेक्ष स्थापित करते हैं और व्याख्यायित करते हैं । वस्तुतः साहित्य उनके लिए लोक-जीवन की अभिव्यक्ति का सबल पक्ष है ।

इस दृष्टि से अगर हम देखें तो विश्वनाथ प्रसाद मिश्र रामचन्द्र शुक्ल एवम् हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचारों के समन्वय के रूप में दिखाई देते हैं । यद्यपि रसवादी चिंतन के प्रति उनका रुझान अधिक है । आचार्य शुक्ल जी कहते हैं कि "मनुष्य अपने भावों, विचारों और व्यापारों के लिए दूसरों के भावो, विचारों और व्यापारों के साथ कहीं मिलता और कहीं लड़ाता हुआ अन्त तक चला चलता है और इस को जीना कहते है । जिस अनन्त-रूपात्मक क्षेत्र में यह व्यवसाय चलता रहता है उसका नाम है जगत ।"[85] यहाँ यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य का सम्बन्ध इस लोक से है यानि जगत से है जहाँ लोग अपनी अभिव्यक्ति अपने भावों, विचारों एवम् व्यापारों के

माध्यम से एक दूसरे के साथ बद्ध रहता है । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी अपने लोकवादी विचार-धारा को अभिव्यक्त करते हुए कहा कि "मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ । जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुःखकातर और संवेदनशील न बना सके उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है ।"[86] कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ उपरोक्त पंक्तियों में द्विवेदी जी का लोकवादी चिंतक का रूप उभर कर निखरा है जहाँ उन्होंने मनुष्य एवम् मनुष्य के हृदय में उठने वाले भाव-विचार को साहित्य का विषय बताया । आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र यहाँ उपरोक्त दोनों आचार्यों से प्रभावित दीखते हैं, जहाँ उन्होंने अपने 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' नामक पुस्तक में अपनी अभिव्यक्ति को शब्दबद्ध करते हुए कहा कि "साहित्य का जीवन से अटूट सम्बन्ध है । जो साहित्य जीवन से विच्छिन्न होकर चलता है वह बहुत दिनों तक ठहर नहीं सकता । ज्यों-ज्यों जीवन-धारा बलखाती, फैलती, सिकुड़ती, तीव्र होती, मंद पड़ती, स्वच्छ होती या गंदली होती हुई आगे बढ़ती है त्यों-त्यों साहित्य-धारा भी अपने रूप बदलती चलती है । कभी जीवन-धारा आगे बढ़ जाती है और साहित्य-धारा पिछड़ जाती है, पर ऐसा नहीं हो सकता कि जीवन-धारा एकदम पृथक रूप में बहती हो और साहित्य-धारा बहुत दिनों तक उससे पृथक रूप में ही बनी रहे ।"[87] निश्चित रूप से साहित्य-सर्जना लोक-जीवन अर्थात् जगत से जुड़ा हुआ है और "सर्जक मुख्यतया जमीन से जुड़े लोग होते हैं"[88] जहाँ वह प्रतिबिम्बित होता रहता है । साहित्य की कल्पना लोक-जीवन से परे सम्भव नहीं दिखती । साहित्य का विस्तार लोक-जीवन में ही सम्भव है । दोनों की लीक लगभग एक ही पथ पर अग्रसरित होती है । इन्होंने यह भी माना कि लोक-जीवन को अगर समग्रता से हम अगर देखना चाहें तो हमें साहित्य की तरफ

रुख करना होगा । ये कहते है कि ''किसी दर्पण में सिर्फ किसी की उँगलियाँ देखकर उसके शरीर की पूरी कल्पना करना कठिन काम है, पर किसी का मुख देखकर उसके सारे शरीर की स्थूल आकृति आँखों में नाचने लगती है । साहित्य जीवन का जो प्रतिबिंब अपने आदर्श में झलकता है वह मुख ही होता है ।''[89] यहाँ निर्बाद्ध रूप से कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण जगत लोक-जीवन में दृश्यमान है जबकि लोक-जीवन साहित्य में मुखरित होता है । साहित्य का लोक से कटाव, अथवा दूराव सम्भव नहीं । आचार्य शुक्ल ने भी अपने उद्‌गार जीवन, जगत तथा लोक-जीवन में विद्यमान प्राणियों के भावों की समन्विति से सम्बन्धित विचार व्यक्त करते हुए कहा कि ''जब मनुष्य के सुख और आनन्द का मेल शेष प्रकृति के सुख-सौन्दर्य के साथ हो जाएगा, जब उसकी रक्षा का भाव तृणगुल्म, वृक्ष-लता, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, सब की रक्षा के भाव के साथ समन्वित हो जाएगा, तब उसके अवतार का उद्देश्य पूर्ण हो जाएगा और वह जगत का सच्चा प्रतिनिधि हो जाएगा ।''[90] यहाँ आचार्य शुक्ल सच्चे लोक-चिंतक के रूप में दिखाई पड़ते हैं जहाँ उन्होंने न केवल मनुष्य वर्ग की रक्षा, उसके हित की बात की बल्कि समस्त लोक में विचरण करते प्राणी के हितार्थ एवम् सबों का एक दूसरे के साथ समन्विति के भाव पर बल दिया ।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र वास्तव में सच्चे लोक-चिंतक रहे । उन्होंने कहा कि ''देश-भेद से लोक-जीवन नहीं बदलता स्वरूप-भेद मात्र हो जाता है। वर्ग आदि बदले हुए मिल सकते हैं, पर लोक-जीवन की झाँकी मिलती-जुलती होगी। कहीं की झाँकी प्रफुल्ल होगी और कहीं की उदास, कहीं की दर्पपूर्ण और कहीं की शिथिल, कहीं की क्रोधपूर्ण और कहीं की विनत, पर लोक-जीवन की सभी झाँकियों में वे ही मानवी मूर्तियाँ होंगी ।''[91] आशय यह कि लोक-जीवन सभी जगहों पर एक-सा ही है भले ही चेहरे की बनावट अलग हो, रंग-रूप में साम्य न हो, माप का अन्तर

यानी लम्बाई-चौड़ाई आदि शरीरिक संरचना में फर्क पड़ सकता है, पर लोगों के जीवन की झाँकी लगभग मिलती-जुलती ही होती है ।

इतना ही नहीं आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने तमाम विद्वानों को यह सुझाव दिया कि "बाह्य जीवन को त्याग कर लोक-जीवन को अपनी रचना का विषय बनाएँ । जीवन-धारा से विच्छिन्न होती हुई साहित्य-धारा को उससे मिलाए रखने का प्रयत्न करें और दोनों को मिलाकर कूड़ा-करकट दूर करके जीवन-धारा को निर्मल बनाएँ ।"[92] कहने की आवश्यकता नहीं की लोक-चिंतन में वे कितनी गहराई तक तल्लीन थे, बल्कि आम साहित्य सर्जकों को भी लोक-जीवन रूपी गहरे निर्मल पानी में पैठने, तैरने एवम् लोक-झाँकी प्रस्तुत करने का आग्रह भी करते दिखाई देते हैं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि भी लोकवादी रही है । डॉ. राम बहादुर राय आचार्य द्विवेदी की लोकवादी विचार-धारा के सम्बन्ध में लिखते हैं कि द्विवेदी जी "तुलसी की समन्चयवादी दृष्टि में भी लोकहित की भावना देखते हैं, कबीर के बाह्याडम्बर-विरोधी स्वर में भी मानव-हित देखते हैं, सूर की अध्यात्मपरक दृष्टि में भी लोकमंगल की कामना देखते हैं । छायावादी नवीन वैयक्तिक चेतना में भी उन्हें मानव-उत्थान की नयी दृष्टि मिलती है और उन्हें प्रगतिवादी साहित्य में भी नये समाज के कल्याण का आग्रह लक्षित होता है ।"[93] यहाँ लोक-चिंतन की भावना स्पष्टतः लक्षित होती है, जहाँ द्विवेदी जी सर्वत्र लोक-जीवन की झाँकी देखना प्रसंद करते हैं साथ-ही मानव हित की चर्चा करते हैं । आचार्य शुक्ल एवम् आचार्य द्विवेदी की लोकवादी दृष्टि का समन्वय निश्चित रूप से आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी की लोकवादी चिंतन दृष्टि में दृष्टिगोचर होता है ।

1. ख. IV इ. सांस्कृतिक चिंतक के रूप में :

सांस्कृतिक चिंतक के रूप में आचार्य मिश्र भारत के प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर को साहित्य के माध्यम से स्थापित करने एवम् उसके पूर्णनयन के लिए प्रयासरत दीखते हैं । आस्थामूलक सांस्कृतिक सोच जहाँ पारंपरिक-मूल्यों के साथ धार्मिक विश्वास भी है वहीं उनके साहित्य सरोकारों में जगह-जगह दिखाई भी देता है। यह सांस्कृतिबोध साहित्य के पुरातात्विक अन्वेषण से लेकर विषय की विवेचना एवम् प्रस्तुति तक में दिखलाई पड़ती है । इसके लिए एक ओर वे साहित्य की क्लासिकी की चर्चा करते हैं । उसे श्रेष्ठ ठहराते हैं, तो कहीं साहित्य के लोक-पक्ष को आधार बनाकर अपनी आस्था एवम् विश्वास को पुष्ट करते हैं । वस्तुतः इस रूप में आचार्य मिश्र साहित्य का सांस्कृतिक-पक्ष प्रस्तुत करते हैं और उसके माध्यम से भारतीय जन-जीवन की मानसिकता को आधार बनाकर साहित्य का विवेचन-विश्लेषण करते हैं। सांस्कृतिक बोध उनके लिए कसौटी की तरह है जिस पर वे हिन्दी साहित्य को बार-बार कसते हैं । उसकी असल और नकल कसौटी पर खरा उतरने से ही निर्धारित होता है । इस दृष्टि से अगर हम विचार करें तो उनका सांस्कृतिक चिंतन भी संभ्रान्त एवम् लोक-जीवन के दोनों कूलों को निरन्तर स्पर्श करता हुआ प्रवाहित होता है । वस्तुतः आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के चिंतन-शैली का गहरा प्रभाव उन पर था तथा चिंतन एवम् आलोचना में शुक्ल जी की ही तरह वे बड़े परिष्कृत रूप अपनाते हैं । भाषा की गठन एवम् अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता या विषयों का चयन ही वे आचार्य शुक्ल को ही ध्यान में रखकर करते थे, ऐसा लगता है । साथ ही उनमें आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की अनुशासन-प्रियता भी बड़े गहरे से विद्यमान थी । लेकिन इन सब के वावजूद उनके चिंतन की सहजता उन्हें लोकजनमानस का पक्षधर भी सिद्ध करती है । भले ही लोक उनके साहित्य-सर्जना के केन्द्र में नहीं था लेकिन वह उनकी अनुभूतियों

को बड़ी गहराई से प्रभावित करता था, इसमें दो राय नहीं । इनका मानना है कि ''साहित्य की सच्ची-धारा जिस प्रकार जीवन की सच्ची या मूल-धारा से प्रेरित एवम् उत्तेजित होती है उसी प्रकार यह जीवन-धारा के बहाव को बनाए रखने के लिए, उसमें एकत्र होनेवाले कूड़ा-करकट को, सड़ी-गली और बदबूदार चीजों को धारा के साथ बहा देने के लिए उसे तीव्र भी कर देती है ।''[94]

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लोक-जीवन को संस्कृति से जुड़कर रहने की वकालत की क्योंकि लोक-जीवन कभी भी संस्कृति से दूर नहीं रह सकती, उसका विस्तार, उसकी गरिमा संस्कृति से संपृक्त होता है । वहीं साहित्य इन दोनों की समन्विति है । सांस्कृतिक लोक-जीवन का निदर्शन साहित्य कराती है, ''इसलिए लोक-जीवन को लेकर चलनेवाला साहित्य सबसे पहले संस्कृति को देखता है । यदि संस्कृति को छोड़कर किसी देश का साहित्य चलता हो तो वह नकली हो जाएगा।''[95] आशय यह कि हम साहित्य की बात संस्कृति को छोड़कर नहीं कर सकते । संस्कृति विरासत से मिलती है, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी उतरोत्तर स्थानांतरित होती है। अगर इसमें कहीं फर्क नजर आने लगता है तो हमें समझना चाहिये कि कहीं-न-कहीं दूसरे परिवेश की संस्कृति यहाँ जगह बनाना चाहती है, अतः मिलावट साफ परिलक्षित होगा जिसे आसानी से समझा जा सकेगा और यही मिलावट साहित्य में अगर दीखती है तो आचार्य मिश्र उसे नकली कहते हैं ।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का सम्पूर्ण साहित्यिक-जीवन भारतीय संस्कृति से ओत-प्रोत दीखता है । नित्य की दैनिक क्रिया-कलापों में जहाँ वे स्वर्ग की अमृत-धारा प्रवाहित करने वाली सुरसरि गंगा का सेवन करना नहीं भूलते वहीं मंदिरों में जाकर ईश्वर के दर्शन अवश्य करते, ये सब इनकी सांस्कृतिक विचार-धारा का ही प्रमाण प्रस्तुत करते हैं । यही बात उनकी लेखनी में भी साफ दिखलाई पड़ती है क्यों-

कि वे जीवन, साहित्य एवम् संस्कृति की उन्नति के पक्षधर दीखते हैं । वे कहते हैं कि ''साहित्य की रचना में हाथ डालने वाले का यह कर्त्तव्य होता हे कि देश की संस्कृति एवम् उसके आदर्श को न भूलें ।''[96]

उन्होंने साफ तौर पर कहा कि मनुष्य के अतिरिक्त किसी भी प्राणी को सभ्यता-संस्कृति विरासत में नहीं मिली । वे कहते है कि ''जानवरों की सभ्यता-संस्कृति नहीं । मनुष्य को यह वरदान मिला है आगे बढ़ने के लिए, ज्ञानार्जन के लिए ।''[97] यह बात सत्य है कि हमारा देश वर्षों-वर्षों तक दूसरे जाति-धर्मों एवम् संस्कारों के सम्पर्क में रहा, गुलाम रहा पर किसी भी दृष्टि से न देश की भाषा बदली, न ही हमारी संस्कृति । ये कहते हैं कि भाषा के साथ-साथ संस्कृति का भी विकास उत्तरोतर होता गया । ''जब से भाषा का आरंभ हुआ तभी से सभ्यता, सामाजिकता, संस्कृति का भी विकास हुआ ।''[98] निश्चित रूप से हमारी संस्कृति अत्यन्त प्राचीन है, क्योंकि भाषा के रूप में सर्वप्रथम हम देव भाषा संस्कृत को स्वीकारते हैं, जो प्राचीनतम् भाषा है ।

अतः उपरोक्त विवेचनों के आधार पर हम कह सकते हैं कि आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र एक सच्चे सांस्कृतिक चिंतक थे, जिन्हें अपनी संस्कृति से प्रेम था, और जिन्होंने अपनी साहित्यिक-सर्जना में आदि-काल से लेकर आधुनिक काल तक के हिन्दी साहित्यकारों एवम् विद्वानों की कालगत सर्जनात्मक विवेचन को अपनी साहित्य-सर्जना का ध्येय बनाया तथा साहित्यिक-सांस्कृतिक धरोहर को बचाए रखा ।

मिश्रजी ने स्पष्ट माना है कि मनुष्य ही ईश्वर का ऐसा सृजन है जिसमें सभ्यता-संस्कृति फलती-फूलती है एवम् उत्तरोतर हस्तानांतरित भी होती है । लोक जीवन-संस्कृति से जुड़कर ही जीवित और पल्लवित हो सकती है । उसका विस्तार, उसकी गरिमा संस्कृति में ही प्रतिबिम्बित होती है । साथ ही दोनों की समन्विति साहित्य में होती है ।

संदर्भ :

1. अभिनन्दन ग्रंथ, संपा. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक ; पृ. सं. 29
2. हिन्दी आलोचना और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ; लेखक - डॉ. रामबहादुर राय ; पृ. सं. 87
3. अभिनन्दन ग्रंथ, संपा. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक ; पृ. सं. 29
4. हिन्दी आलोचना और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ; लेखक - डॉ. रामबहादुर राय ; पृ. सं. 87
5. गोसाईं तुलसीदास ; लेखक विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 3
6. वही, पृ. सं. 3-4
7. अभिनन्दन ग्रंथ, संपा. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक ; पृ. सं. 18
8. वही, पृ. सं. 18
9. वही, पृ. सं. 14
10. हिन्दी आलोचना और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ; लेखक - डॉ. रामबहादुर राय ; पृ. सं. 88-89
11. वही, पृ. सं. 89
12. अभिनन्दन ग्रंथ, संपा. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक ; पृ. सं. 20
13. वही, पृ. सं. 20
14. वही, पृ. सं. 20
15. वही, पृ. सं. 25
16. हिन्दी आलोचना और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ; लेखक - डॉ. रामबहादुर राय ; पृ. सं. 88
17. अभिनन्दन ग्रंथ, संपा.. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक ; पृ. सं. 19
18. वही, पृ. सं. 18
19. वही, पृ. सं. 30
20. वही, पृ. सं. 30
21. वही, पृ. सं. 28
22. वही, पृ. सं. 21
23. वही, पृ. सं. 105
24. वही, पृ. सं. 22
25. वही, पृ. सं. 23
26. वही, पृ. सं. 23
27. हिन्दी आलोचना और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ; लेखक - डॉ. रामबहादुर राय ; पृ. सं. 154

28. हिन्दी आलोचना और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ; लेखक - डॉ. रामबहादुर राय ; पृ. सं. 154
29. वाङ्मय-विमर्श, लेखक विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 146
30. हिन्दी आलोचना और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ; लेखक - डॉ. रामबहादुर राय ; पृ. सं. 155
31. गोसाईं तुलसीदास ; लेखक विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 6
32. हिन्दी आलोचना और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ; लेखक - डॉ. रामबहादुर राय ; पृ. सं. 122
33. वही, पृ. सं. 121
34. अभिनन्दन ग्रंथ, संपा. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक ; पृ. सं. 35
35. हमारी विचारधारा, पत्रिका-साहित्य संदेश, सं. महेन्द्र, पृ. सं. 343
36. आलोचना और संस्कृति (अनामिका), पत्रिका - इतिहासबोध, सं. लालबहादुर वर्मा, पृ. सं. 37
37. अभिनन्दन ग्रंथ, संपा. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक , पृ. सं. 41-42
38. हिन्दी आलोचना और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ; लेखक - डॉ. रामबहादुर राय ; पृ. सं. 107
39. अभिनन्दन ग्रंथ, संपा. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक ; पृ. सं. 36
40. वही, पृ. सं. 36
41. हिन्दी आलोचना और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ; लेखक - डॉ. रामबहादुर राय ; पृ. सं. 108
42. वही, पृ. सं. 108
43. अभिनन्दन ग्रंथ, संपा. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक ; पृ. सं. 36
44. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संपा. डॉ. सम्पूर्णानन्द, पृ. सं. 201
45. अभिनन्दन ग्रंथ, संपा. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक ; पृ. सं. 40
46. वही, पृ. सं. 26
47. वही, पृ. सं. 26
48. वही, पृ. सं. 41
49 वही, पृ. सं. 41
50. वही, पृ. सं. 21-22
51. वही, पृ. सं. 23
52. हिन्दी आलोचना और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ; लेखक - डॉ. रामबहादुर राय ; पृ. सं. 252
53. पाठ सम्पादन के सिद्धान्त, लेखक - कन्हैया सिंह, पृ. सं. 5

54. हिन्दी आलोचना और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ; लेखक - डॉ. रामबहादुर राय ; पृ. सं. 252
55. रामचरिमानस (काशीराज संस्करण) ; संपा. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 25
56. हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों का अठारहवां त्रैवार्षिक विवरण, पृ. सं. 585
57. वही, द्वितीय भाग, पृ. सं. 586
58. हिन्दी अनुसंधान : वैज्ञानिक पद्धतियाँ, लेखक - डॉ. कैलाश नाथ मिश्र, पृ. सं..
59. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संपा. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ सं. 201
60. वही, पृ. सं. 203
61. वही, पृ. सं. 202
62. रामचरिमानस (काशीराज संस्करण) ;संपा. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 463
63. अभिनन्दन ग्रंथ, संपा. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक ; पृ. सं. 37
64. वही, पृ. सं. 37-38
65. हिन्दी आलोचना और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ; लेखक - डॉ. रामबहादुर राय ; पृ. सं. 113
66. अभिनन्दन ग्रंथ, संपा. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक ; पृ. सं. 37
67. हिन्दी साहित्य का अतीत, लेखक - विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं.- 5.
68. वही, पृ. सं. 6
69. वही, पृ. सं. 6
70. वही, पृ. सं. 7
71. वही, पृ. सं. 7
72. वही, पृ. सं. 7
73. वही, पृ. सं. 8
74. वाङ्मय-विमर्श, लेखक विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 95
75. वही, पृ. सं. 95
76. वही, पृ. सं. 95
77. हिन्दी आलोचना और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ; लेखक - डॉ. रामबहादुर राय ; पृ. सं. 136
78. चिन्तामणि, लेखक - रामचन्द्र शुक्ल, पृ. सं. 166
79. वही, पृ. सं. 166
80. हिन्दी का गद्यसाहित्य, लेखक - डॉ. रामचन्द्र तिवारी, पृ.सं.-619
81. चिन्तामणि, लेखक - रामचन्द्र शुक्ल, पृ. सं. 97
82. हिन्दी आलोचना और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ; लेखक - डॉ. रामबहादुर राय ; पृ. सं. 155

83. हिन्दी का सामयिक साहित्य, लेखक - विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं.98
84. वही, पृ. सं. 99
85. चिन्तामणि, लेखक - रामचन्द्र शुक्ल, पृ. सं. 97
86. अशोक के फूल , लेखक - हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. सं. 179
87. हिन्दी का सामयिक साहित्य, लेखक - आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 1
88. संस्कृति तकनीक और कला के समकालीन संदर्भ (रति सक्सेना)पत्रिका- वार्गय, संपा. रवीन्द्र कालिया, पृ. सं. 11
89. हिन्दी का सामयिक साहित्य, लेखक - विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 2
90. चिन्तामणि - ले. रामचन्द्र शुक्ल, पृ. सं. 4
91. हिन्दी का सामयिक साहित्य, लेखक - विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 2
92. वही, पृ. सं. 3
93. हिन्दी आलोचना और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ; लेखक - डॉ. रामबहादुर राय ; पृ. सं. 164
94. हिन्दी का सामयिक साहित्य, लेखक - विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 3
95. वही, पृ. सं. 3
96. वही, पृ. सं. 3
97. वही, पृ. सं. 4
98. वही, पृ. सं. 5

द्वितीय अध्याय

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : सम्पादक के रूप में

द्वितीय अध्याय

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : सम्पादक के रूप में

2.क ग्रन्थ सम्पादक के रूप में

प्राचीन ग्रंथों का सम्पादन वस्तुतः प्राचीन ग्रंथों को नया जीवन प्रदान करना होता है, जिसमें अतीत की तमाम धुन्धों को छाँट कर या सफा कर रचना के वास्तविक पाठ को स्थापित किया जाता है । इसमें प्रमाद या अज्ञानतावश भूलें हो सकती हैं या सम्पादक की व्यक्तिगत रुचि या अरुचि अथवा समसामयिक दबाब भी उचित पाठ तक पहुँचने में बाधक हो सकता है । अतः यह बात स्पष्ट है कि प्राचीन ग्रंथों का सम्पादन अत्यन्त जोखिम का काम होता है । आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र हिन्दी साहित्य के उन विरले रचनाकारों में हैं, जिन्होंने यह जोखिम उठाया, और इसी का परिणाम रहा कि उन्होंने अतीत के गर्भ से तमाम दुर्लभ एवम् बहुमूल्य रचनाओं को हिन्दी साहित्य के सामने उसकी अधिकतम् शुद्धता एवम् प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत किया । इसी दृष्टि से हिन्दी साहित्य सदैव उनका ऋणि रहेगा । एक ओर उन्होंने जहाँ तमाम अल्प-ज्ञात या अज्ञात रचनाओं की खोज की वहीं विभिन्न प्रचलित रचनाओं का पाठालोचन करके नयी तरह से उन्हे प्रस्तुत किया । इतना ही नहीं अपने निर्देशन में उन्होंने ऐसे कई योग्य शिष्य भी बनाए जिन्होंने आगे चलकर उनके दिखाए हुए रास्ते का अनुशरण किया इस क्रम में आचार्य किशोरीलाल गुप्त आदि का नाम सम्मान के साथ लिया जा सकता है ।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के सम्पादन की परम्परा को अगर सही ढंग से समझना है तो हिन्दी साहित्य के सबसे बुजुर्ग सम्पादक आचार्य महावीर प्रसाद

द्विवेदी के सापेक्ष उन्हें देखना होगा । जिस प्रकार आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी शुद्धतापरक व्याकरणिक कोटियों से बाँधकर शास्त्रीय परम्परा के मुताबिक शास्त्रीय-कर्म में संलग्न होते थे, उसी निष्ठा, लगन और दृष्टि के साथ आचार्य मिश्र भी सम्पादन कार्य करते थे । आचार्य मिश्र के सामने हिन्दी साहित्य का विराट लोक था, महान एवम् युग-प्रवर्तक कवि-रचनाकार थे और उनकी उत्कृष्ट कालजयी कृतियाँ थी, परन्तु दुःख की बात यह थीं कि काल के लम्बे अन्तराल में उन साहित्यिक कृतियों का पाठ विविध कारणों से परिवर्तित या बदल गया था । वस्तुतः इसके पीछे छापाखानों का न होना, और हाथों से ही रचनाओं की प्रतिलिपि तैयार होने को कारण के रूप में देखा जा सकता है । आचार्य मिश्र ने इस साहित्यिक चुनौती को गम्भीरता से स्वीकार किया। ग्रन्थ सम्पादक के रूप में इन्होंने पचास से भी अधिक ग्रन्थों का सम्पादन किया। ये ग्रन्थ, विशेष रूप से भक्तिकाल और रीतिकाल के महान रचनाकारों की स्वरचित रचनाओं का नये कलेवर में संकलन एवम् सम्पादन है । इन्होंने जिन रचनाकारों एवम् उनकी रचनाओं को अपने सम्पादन का विषय बनाया वे उस समय तक ज्यादातर इतिहास के पन्नों तक ही सीमित थे । अतः इन्होंने इस क्षेत्र में गहरी रुचि लेते हुए एक के बाद एक महान रचनाकारों की मूल रचनाओं की प्रतिलिपियों के पाठालोचन एवम् पाठानुसंधान के महनीय कार्य को शास्त्रीय-विधि के आलोक में प्रारम्भ किया । इन्होंने आदिकालीन कवि विद्यापति के अतिरिक्त भक्तिकाल के सूरदास, तुलसीदास के साथ-साथ रीतिकाल के कई महान विभूतियों यथा घनानंद, भूषण, रसखान, भिखारीदास, पद्माकर, ठाकुर, बोधा, केशव आदि रचनाकारों की रचनाओं का संपादन किया । यहाँ तक कि आधुनिक काल के सुप्रसिद्ध आलोचक एवम् रचनाकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के ग्रन्थों का भी इन्होंने संपादन किया । वैसे तो इनके द्वारा सम्पादित सभी ग्रन्थ महत्वपूर्ण हैं और प्रत्येक ग्रंथ के सम्पादन में इन्होंने

अथक परिश्रम किया है, पर इन सबों में सबसे दुर्लभ एवम् महनीय कार्य रामभक्ति शाखा के प्रमुख कवि गोस्वामी तुलसीदास की रचना 'रामचरितमानस' के सम्पादन को माना जाता है, जिसमें इन्होंने सर्वाधिक प्रमाणिक पाठ प्रदान करने का सार्थक प्रयास किया । ध्यातव्य हो कि प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन के दौरान पाठालोचन तथा पाठानुसंधान के क्रम में शब्द और अर्थ दोनों पर समान दृष्टि रखने सम्बन्धी विचार विद्वानों के मिलते हैं, जिसमें आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने सम्पादन की इस प्रक्रिया को स्वीकारते हुए कहा कि "दोनों सरणियों के तुल्यबल संयोजन से ही सर्वोत्तम कार्य हो सकने की अधिक संभावना है ।"[1] वस्तुतः साहित्यिक सरणि के प्रवर्तक आचार्य मिश्रजी के गुरु एवम् काशी विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्री लालभगवानदीन जी थे । इसी साहित्यिक सरणि का अनुपालन परवर्त्ती आचार्यों ने भी किया । इस आशय का उल्लेख आचार्य मिश्रजी ने अपने 'रामचरितमानस' काशीराज संस्करण के सम्पादन के दौरान 'अत्मनिवेदन' में किया है । वे लिखते हैं कि "हिन्दी में प्राचीन ग्रन्थों के संपादन की साहित्यिक सरणि के प्रवर्तक काशी विश्वविद्यालय के दिवंगत प्राध्यापक आदरणीय लालाभगवानदीन, पण्डित रामचन्द्र शुक्ल और बाबू श्याम सुन्दर दास थे ।"[2]

इस प्रकार मिश्रजी ने प्राचीन गंथों के सम्पादन में भक्तिकाल के सूरदास, तुलसीदास के साथ-साथ रीतिकालीन कवियों-रचनाकारों के अतिरिक्त एवम् आधुनिककाल के शुक्लजी आदि आचार्यों के ग्रन्थों का संपादन किया।

2. **क. i सम्पादित ग्रन्थों का विवरण :**

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने जिन ग्रंथों का सम्पादन किया उन ग्रंथों का विवरण प्रकाशन-वर्ष के आधार पर क्रमशः नीचे इस प्रकार दिया जा रहा है -

क्र.सं.	रचना	रचनाकार	संकलनकर्त्ता	संपादन	प्रकाशन-वर्ष	प्रकाशक
1.	सत्यहरिश्चंद्र नाटक	भारतेन्दु हरिश्चंद्र	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	लालाभगवानदीन एवं विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	1926	साहित्यसेवक कार्या. बनारस
2.	कवितावली	तुलसीदास	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	लालाभगवानदीन एवं विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	1926	साहित्यसेवक कार्या. बनारस
3.	सुदामाचरित	नरोत्तमदास	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	लालाभगवानदीन एवं विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	1927	साहित्यसेवक कार्या. बनारस
4.	विनय पत्रिका	तुलसीदास	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	लालाभगवानदीन एवं विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	1928	साहित्यसेवक कार्या. बनारस
5.	तुलसी हाई स्कूल कोर्स	तुलसीदास	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	लालाभगवानदीन एवं विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	1930	नंदकिशोर एण्ड ब्रदर्स बनारस
6.	सत्यहरिश्चंद्र नाटक (लघु संस्करण)	भारतेन्दु हरिश्चंद्र	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	लालाभगवानदीन एवं विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	1931	नंदकिशोर एण्ड ब्रदर्स बनारस
7.	भूषण ग्रंथावली	भूषण	रामाकांत चौबे	विश्वनाथ प्र.मिश्र रामाकांत चौबे	1931	साहित्य सेवक कार्या. बनारस

क्र.सं.	रचना	रचनाकार	संकलनकर्त्ता	संपादन	प्रकाशन-वर्ष	प्रकाशक
8.	अलंकार मंजूषा	लाला भगवानदीन दीन	लालाभगवान	विश्वनाथ प्र.मिश्र	1933	रामनारायण लाल, प्रयाग
9.	केशव की काव्य कला	कृष्ण शंकर शुक्ल	लाला- भगवादीन	विश्वनाथ प्र.मिश्र	1933	साहित्य सेवा सदन बनारस
10.	हम्मीर हठ	चंद्रशेखर वाजपेयी	जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'	विश्वनाथ प्र.मिश्र	1933	भरत जीवन प्रेस बनारस
11.	गंगालहरी	पद्माकर	विश्वनाथ प्र. मिश्र	विश्वनाथ प्र.मिश्र	1934	श्रीरामरत्न पुस्तक भवन, काशी
12.	सफल जीवन	छविनाथ पांडेय	विश्वनाथ प्र. मिश्र	विश्वनाथ प्र.मिश्र	1934	विद्यामंदिर बनारस
13.	जगदविनोद	पद्माकर	विश्वनाथ प्र. मिश्र	विश्वनाथ प्र.मिश्र	1934	श्रीरामरत्न पुस्तक भवन, बनारस
14.	पद्माकर पंचामृत	पद्माकर	विश्वनाथ प्र. मिश्र	विश्वनाथ प्र.मिश्र	1936	श्रीरामरत्न पुस्तक भवन, बनारस
15.	गद्यमाधुरी	पद्माकर	विश्वनाथ प्र. मिश्र	विश्वनाथ प्र.मिश्र	1936	दी गैंजेज पब्लि-शिंग हाउस बनारस
16.	गद्यमंजरी	पद्माकर	विश्वनाथ प्र. मिश्र	विश्वनाथ प्र.मिश्र	1939	सरस्वती मंदिर बनारस

क्र.सं.	रचना	रचनाकार	संकलनकर्त्ता	संपादन	प्रकाशन-वर्ष	प्रकाशक
17.	संघर्ष	भगवान शरण उपाध्याय	विश्वनाथ प्र. मिश्र	विश्वनाथ प्र.मिश्र	1941	सरस्वती मंदिर बनारस
18.	वीर विरू-दावली	भगवान शरण उपाध्याय	वियोगीहरि	विश्वनाथ प्र.मिश्र	1941	साहित्य सेवा सदन,बनारस
19.	भ्रमरगीत सार	सूरदास	रामचंद्र शुक्ल	विश्वनाथ प्र. मिश्र	1942	साहित्य सेवा सदन,बनारस
20.	सूरदास	रामचंद्र शुक्ल	विश्वनाथ प्र. मिश्र	विश्वनाथ प्र. मिश्र	1943	सरस्वती मंदिर बनारस
21.	गद्य प्रकाशिका		विश्वनाथ प्र. मिश्र	विश्वनाथ प्र. मिश्र	1943	विद्याभास्कर बुक डिपो, बनारस
22.	घनआनंद कवित्त		विश्वनाथ प्र. मिश्र	विश्वनाथ प्र. मिश्र	1943	सरस्वती मंदिर बनारस
23.	नागरीप्रचारिणी सभा का अर्द्धशती इतिहास		विश्वनाथ प्र. मिश्र	विश्वनाथ प्र. मिश्र	1943	नागरीप्रचारिणी सभा, बनारस
24.	काव्य कलानिधि	अर्जुनदास केडिया	विश्वनाथ प्र. मिश्र	विश्वनाथ प्र. मिश्र	1944	भगवानदास केडिया बनारस
25.	चिंतामणि भाग 2	रामचंद्र शुक्ल		विश्वनाथ प्र. मिश्र	1945	सरस्वती मंदिर बनारस
26.	घनआनंद और आनंदघन			विश्वनाथ प्र. मिश्र	1945	प्रसाद परिषद, बनारस

क्र.सं.	रचना	रचनाकार	संकलनकर्त्ता	संपादन	प्रकाशन-वर्ष	प्रकाशक
27.	पाप-पुण्य	अनिरुद्ध पांडेय		विश्वनाथ प्र. मिश्र	1948	भाषाभवन, नंदनसाहू लेन, बनारस
28.	स्वर्ग और पृथ्वी	धर्मवीर भारती		विश्वनाथ प्र. मिश्र	1949	भाषाभवन, नंदनसाहू लेन, बनारस
29.	रसमीमांसा	रामचंद्र शुक्ल	विश्वनाथ प्र. मिश्र	विश्वनाथ प्र. मिश्र	1949	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
30.	स्पंदन	ओंकार शरद		विश्वनाथ प्र. मिश्र	1950	भाषाभवन, नंदनसाहू लेन, बनारस
31.	घनानंद ग्रंथावली	घनआनंद	विश्वनाथ प्र. मिश्र	विश्वनाथ प्र. मिश्र	1952	वाणीवितान प्रका. बनारस
32.	रसखानि	रसखानि	विश्वनाथ प्र. मिश्र	विश्वनाथ प्र. मिश्र	1953	वाणीवितान प्रका. बनारस
33.	भूषण	भूषण	विश्वनाथ प्र. मिश्र	विश्वनाथ प्र. मिश्र	1953	वाणीवितान प्रका. बनारस
34.	केशव ग्रंथावली खंड 1	केशवदास	विश्वनाथ प्र. मिश्र	विश्वनाथ प्र. मिश्र	1954	हिन्दुस्तान अका. उ.प्र. इलाहाबाद
35.	केशव ग्रंथावली खंड 2	केशवदास	विश्वनाथ प्र. मिश्र	विश्वनाथ प्र. मिश्र	1956	हिन्दुस्तान अका. उ.प्र. इलाहाबाद

क्र.सं.	रचना	रचनाकार	संकलनकर्त्ता	संपादन	प्रकाशन-वर्ष	प्रकाशक
36.	भिखारीदास ग्रंथावली खंड 1	भिखारीदास	विश्वनाथ प्र. मिश्र	विश्वनाथ प्र. मिश्र	1956	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
37.	भिखारीदास ग्रंथावली खंड 3	भिखारीदास	विश्वनाथ प्र. मिश्र	विश्वनाथ प्र. मिश्र	1956	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
38.	राज-विलास	मान	मोतीलाल मेनारिया	विश्वनाथ प्र. मिश्र	1958	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
39.	पद्माभरण	पद्माकर	विश्वनाथ प्र. मिश्र		1958	वाणीवितान प्रका. वाराणसी
40.	हस्तलिखित ग्रंथों का विवरण			विश्वनाथ प्र. मिश्र	1958	नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
41.	केशवदास (संक्षिप्त)	केशवदास	विश्वनाथ प्र. मिश्र	विश्वनाथ प्र. मिश्र	1959	प्रसाद परिषद वाराणसी
42.	सुदामा-चरित (लघुसंस्करण)	नरोत्तमदास	विश्वनाथ प्र. मिश्र	विश्वनाथ प्र. मिश्र	1960	वाणी वितान प्रका. वाराणसी
43.	गंग-कवित्त	गंग	डॉ.बटेकृष्ण	विश्वनाथ प्र. मिश्र	1960	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
44.	प्रभुदेव वचनामृत	प्रभुदेव	शिवकुमार देव	वि. प्रसाद मिश्र एवं गोपीनाथ	1960	नागरी प्रचारिणी सभा,वाराणसी
45.	रामचरित-मानस	तुलसीदास	विश्वनाथ प्र. मिश्र	विश्वनाथ प्र. मिश्र	1962	काशिराजन्यास वाराणसी

क्र.सं.	रचना	रचनाकार	संकलनकर्त्ता	संपादन	प्रकाशन-वर्ष	प्रकाशक
46.	रामचंद्र शुक्ल	चंद्रशेखर शुक्ल	चंद्रशेखर शुक्ल	विश्वनाथ प्र. मिश्र	1962	वाणीवितान वाराणसी
47.	जसवंत सिंह ग्रन्थावली	जसवंत सिंह	विश्वनाथ प्र. मिश्र	विश्वनाथ प्र.मिश्र	1972	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
48.	ठाकुर	ठाकुर	चंद्रशेखर मिश्र	विश्वनाथ प्र.मिश्र	1973	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
49.	नरोत्तम	नरोत्तमदास	विश्वनाथ प्र. मिश्र	विश्वनाथ प्र.मिश्र	1974	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
50.	बोधा ग्रंथावली	बोधा	विश्वनाथ प्र. मिश्र	विश्वनाथ प्र.मिश्र	1974	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
51.	विद्यापति	विद्यापति	सूर्यबली सिंह	विश्वनाथ प्र.मिश्र		
52.	प्रेमचक्र			विश्वनाथ प्र.मिश्र		साहित्य सेवक कार्या. बनारस
53.	बेचारी माँ			विश्वनाथ प्र.मिश्र		साहित्य सेवक कार्या. बनारस
54.	सबेरा	भगवतशरण उपाध्याय		विश्वनाथ प्र.मिश्र		सरस्वती मंदिर वाराणसी
55.	गर्जन	भगवतशरण उपाध्याय		विश्वनाथ प्र.मिश्र	1974	सरस्वती मंदिर वाराणसी

यहाँ हम देख सकते हैं कि इन्होंने 55 ग्रंथों का सम्पादन किया, जिससे हिन्दी साहित्य जगत समृद्ध हुआ ।

2. क .ii सम्पादकीय दृष्टि :

सम्पादकीय दृष्टि से आशय यह है कि किसी ग्रंथ का सम्पादन करते हुए सम्पादक किन-किन वस्तुओं को आधार-बिन्दु के रूप में स्थापित करता है । काल-क्रम के साथ किसी भी रचना के पाठ में आए अशुद्धि को शुद्ध करने का सबसे लोकप्रिय आधार माना जाता है उपलब्ध प्राचीनतम प्रतियों के पाठ से मिलान करना । सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि मूल प्रति या उपलब्ध प्राचीन प्रतियों का पाठ सर्वाधिक प्रामाणिक होता है, एवम् उसमें अशुद्धि की संभावना अत्यन्त अत्यल्प होती है। आचार्य मिश्र ने रचना के सम्पादन के समय जहाँ मूल प्रतियों को देखने का प्रयास किया वहीं उसकी अनुपलब्धता की स्थिति में प्राचीनतम प्रतियों को आधार बनाया है। इसके अतिरिक्त एक ही रचना की विभिन्न प्रतिलिपियों के तुलनात्मक अध्ययन से भी मूल पाठ तक पहुँचने का प्रयास वे हमेशा करते हैं .। इसके अतिरिक्त रचना के अर्थ को भी वे मूल पाठ तक पहुँचने में कभी-कभी सहयोगी मानते हैं । 'रामचरितमानस' के सम्पादन के दौरान उन्होंने 'आत्मनिवेदन' में इस बात का सविस्तार उल्लेख किया है। उनके अनुसार "6/122/4 पर एक ही शब्द के दो पाठ मिलते हैं - कुपथ्य और कुपंथ । यहाँ 'कुपंथ' पाठ और कुछ नहीं 'कुपथ्य' है । इसे 'कुपंथ' रूप में व्यक्त किया गया है।"[3] स्पष्ट है कि किसी रचना के सम्पादन में प्राचीन प्रति से साम्यता के साथ-साथ तुलनात्मक एवम् अर्थ-परक सम्पादन का विशेष महत्व होता है । आचार्य मिश्र ने विविध ग्रंथों के सम्पादन में इन शैलियों का प्रयोग तो किया है, परन्तु उनकी हमेशा कोशिश यह रही है कि मूल पाठ में बिना बहुत आवश्यकता के किसी प्रकार की छेड़-छाड़ न की जाय ।

आचार्य मिश्रजी की यह भी दृष्टि रही कि संस्कृत ग्रंथों के सम्पादन के अनुभव हिन्दी के प्राचीन ग्रंथों के सम्पादन के दौरान थोपे नहीं जा सकते । इस सम्बन्ध में उनकी मान्यता कुछ इस प्रकार रही है कि-- "हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों के संपादन में संस्कृत-ग्रंथों के संपादन के अनुभव सर्वत्र सहायक नहीं हो सकते । हिन्दी की कुछ समस्याएँ संस्कृत से भिन्न हैं । हिन्दी की सबसे बड़ी समस्या है मात्रिक छंद की । संस्कृत में छंद वर्णवृत है । वहाँ छंद में नियत आरोह-अवरोह होता है । इसलिए एक शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द रख देने पर अन्यत्र प्रायः परिवर्त्तन करने की अपेक्षा पाठ-परिवर्त्तनकर्ता को नहीं हुआ करती । पर हिन्दी में किसी शब्द को परिवर्तित करने में प्रवाह पर प्रभाव पड़ता है ।"[4]

ग्रंथ संपादन के पीछे मिश्रजी की विशेष दृष्टि यह भी रही कि महान रचनाकारों को उचित स्थान पर प्रतिष्ठित किया जाय । इस सम्बन्ध में उन्होंने अपनी अभिलाषा बोधा ग्रंथावली की सम्पादकीय में अभिव्यक्त किया । वे कहते हैं कि "हिन्दी साहित्य के रीतिकाल के भीतर जब फुटकल खाते से लाकर श्रृंगारकाल की अभिधा देकर रीतिमुक्त कवियों को यथास्थान स्थित करने का मैंने प्रयास किया तभी जिन प्रमुख कवियों का उसके अन्तर्गत मैंने उल्लेख किया उनकी ग्रंथावलियों के संपादन का भी संकल्प किया ।"[5] फलतः रीतिकाल के कई प्रमुख रचनाकार एवं उनकी रचनाएँ प्रकाश में आईं, उनमें प्रमुखतः "कवि रसखानि, आलम, घनआनंद, ठाकुर, बोधा और द्विजदेव थे ।"[6]

जहाँ एक ओर ग्रंथ सम्पादन के पीछे इनकी दृष्टि रचनाकार को प्रकाश में लाना रहा है वहीं संबंधित रचना की प्रामाणिकता को भी यथासंभव सिद्ध करने का ध्येय लक्षित होता है । इस कार्य हेतु वे सम्बन्धित रचनाकारों की प्रचीनतम पाण्डुलिपियों के संकलन से लेकर पाठालोचन एवम् पाठानुसंधान के तहत पाठ की

प्रामाणिकता तक पहुँचने का प्रयास करते हैं । सबसे पहले वे सम्बन्धित रचनाकार के मूल नाम की पड़ताल करते हैं, तथा कवि के पूर्वजों का क्रमवार इतिहास भी प्रस्तुत करते हैं, ताकि कवि अथवा लेखक की प्रामाणिकता में कोई संदेह न रहे । आचार्य मिश्र ने स्वसम्पादित 'गंगालहरी' नामक पुस्तक में कवि पद्माकर' के जीवन-वृत्त पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "पद्माकर के वंश के मूल पुरुष मधुकर भट्ट अत्रिगोत्रीय और तैतिरीय शाखा के दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे । इनके पिता मोहनलाल भट्ट मध्यप्रदेशांतर्गत सागर में रहा करते थे । इनके पूर्वपुरुषों का निवास बाँदा में भी था, इसलिए ये लोग बाँदावाले भी कहलाते थे । पद्माकर का जन्म 1810 में सागर में हुआ था ।"[7]

प्रायः इस प्रकार की चर्चा मिश्रजी अपनी अधिकांशतः सम्पादित ग्रंथों में करने से नहीं चूकते । 'भूषण ग्रंथावली' के संपादन के क्रम में उन्होंने कवि भूषण के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की है । वे लिखते हैं कि 'अलंकार प्रकाश' में कवि परिचय का यह दोहा आया है -

रामकृस्न कस्यप कुलहि रामेस्वर सुव तासु ।
ता सुत मुरलीधर कियो अलंकार परकासु ।।

मुरलीधर कवि भूषण कश्यपकुलोत्पन्न रामकृष्ण के आत्मज रामेश्वर के पुत्र थे । पर ये मुरलीधर कहाँ रहते थे, इसका पता उस ग्रंथ से नहीं चलता । कश्यपगोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मणों का जो विवरण खेमराज श्रीकृष्णदास के यहाँ से प्रकाशित कान्यकुब्ज वंशावली में दिया गया है वह निम्नलिखित है -

आदौ कश्यपगोत्रं च वर्णयामि समासतः ।
यत्र जाता महात्मानो भूसुराः सुमहत्कुलाः ।।

ब्रह्मा ब्रह्ममयो ह्मासीत्तस्य पुत्रो मरीचिकाः ।

मारीचः कश्यपो जातो तद्वंशे देवलो ह्मभूत् ।।''[8]

वस्तुतः प्राचीन ग्रंथों का सम्पादन कठिन कार्य होता है । इसमें प्रत्येक तथ्य को सूक्ष्मता से परखना पड़ता है ताकि सही पाठ उभरकर आ सके । इस सम्बन्ध में रामचन्द्र तिवारी ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि ''प्राचीन ग्रंथों का सम्पादन श्रमसाध्य कार्य है, साथ ही इसमें अनेक आनुषंगिक विषयों का ज्ञान भी आवश्यक है । किसी प्राचीन काव्य-ग्रंथ का संपादन करने के लिए यथासंभव उसके सभी प्राप्त आलेखों का अध्ययन एवम् अनुशीलन करना पड़ता है ।''[9] आचार्य मिश्र के द्वारा संपादित ग्रंथों के अध्ययन से यह विदित होता है कि ग्रंथ सम्पादन के दौरान उनकी दृष्टि न सिर्फ कवि के जीवनवृत पर टिकी रही, बल्कि सम्बन्धित कवि अथवा रचनाकार से जुड़ी उपलब्ध रचनाओं में मूल पाण्डुलिपियों के निर्धारण हेतु उन्होंने भाषा, व्याकरणिक प्रयोग, सक्-संवत आदि के साथ-साथ इतिहास, धर्म, संस्कृति पर भी अपनी पैनी दृष्टि बनाये रखी । उन्होंने स्वंय स्वीकारते हुए कहा कि ''हस्तलेखों का पढ़ना और पाठों पर विचार करना सरल कार्य नहीं है । कदाचित् साहित्य के क्षेत्र में इससे बढ़कर मगजमार और पित्तमार कार्य दूसरा नहीं है ।''[10] कारण भी स्पष्ट है कि सम्पादन के दौरान प्रत्येक शब्द पर ध्यान दिया जाता है । एक-एक शब्द के अर्थ, उसके प्रयोग तथा पाठ में उसकी उपयोगिता कहाँ तक समीचीन है इस पर भी ध्यान दिया जाता है । फलतः कार्य दुष्कर प्रतीत होना स्वाभाविक है । मिश्रजी की दृष्टि सम्पादन के दौरान एक-एक शब्द पर बारीकी से रहती है । यहाँ तक की छापाखानों के तरफ से हुए त्रुटि को भी नजरअंदाज नहीं करते । इस आशय की ओर इन्होंने पाठकों का ध्यान बोधा ग्रंथावली की संपादकीय में आकृष्ट किया है। इनके अनुसार पं. *नकछेद तिवारी ने 'इश्कनामा' नामक ग्रंथ का सम्पादन भारतीय जीवन प्रेस से*

कराया। उसमें छापेखाने की गलती से पाठ में आए अन्तर का उललेख करते हुए ये लिखते हैं कि-- "प्रेस के प्रेतों के कारण कई शब्द कटकर कुछ इधर और कुछ उधर कहीं-कहीं मिल ही गए हैं । 'सुईबेह ते द्वार सकीन' इसमें 'सुईबेह ते द्वार सकीन' मुद्रित है । इसलिए हिन्दी के आधुनिक संग्रहों में उसका पाठ कुछ का कुछ हो गया है- 'सुईबेह कै द्वार सकीन' तक हो गया है ।"[11] कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसी स्थिति में सही एवम् मूल पाठ के निर्धारण हेतु शब्द के अर्थ, उसके प्रयोग आदि पर दृष्टि रखकर ही पाठ की प्रामाणिकता सम्भव हो सकती है ।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि - संपादकीय दृष्टि के पीछे मिश्रजी की दृष्टि प्रमुख एवम् महान रचनाकारों को उचित स्थान पर प्रतिष्ठित करना, शुद्धता एवम् शास्त्रीय परम्परा के अनुसार ग्रंथ का संपादन करना एवम् रचना की प्रामाणिकता को भी सिद्ध करना रहा है ।

2. **क iii. सम्पादकीय एवम् रचनात्मक दायित्व :**

ग्रंथों के सम्पादन के समय आचार्य मिश्र भूमिका स्वरूप जो सम्पादकीय लिखते थे वह मात्र ग्रंथ की औपचारिकता या सम्पादित ग्रंथ का परिचय मात्र नहीं रहता था, बल्कि उसके माध्यम से तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों एवम् साहित्यिक विचारों का गम्भीर आलोड़न होता था । वास्तव में सम्पादकीय उनके रचनात्मक चिंतन का एक विराट् पक्ष निर्मित करता है । जहाँ रचनाकार की आस्था, उसके विश्वास एवम् साहित्यिक मान्यताओं की अभिव्यक्ति दिखलाई पड़ती है । उदाहरण के तौर पर घनानंद कवित्त के सम्पादन को देख सकते हैं । आचार्य मिश्र घनानंद के माध्यम से सम्पूर्ण रीतिकालीन साहित्य के रीतिमुक्त धारा की प्रवृति की पूरी पड़ताल प्रस्तुत करते हैं । उसके रीतिमुक्तता की व्याख्या करते हैं और रीतिसिद्ध और रीतिबद्ध से इतर उसकी पूरी पहचान बताते हैं । वास्तव में इसके माध्यम से अपनी साहित्यिक सोच को

ही सृजित करते हैं । इसलिए अपनी सम्पादकियों के माध्यम से वे विविध रचनात्मक दायित्वों की पूर्ति करते हैं ।

स्वच्छंदधारा को विश्लेषित करते हुए वे लिखते हैं कि "स्वच्छंदधारा का साध्य काव्य था और साधन भी काव्य ही था । पर इस धारा के कवियों ने साधन की अपेक्षा साध्य पर अधिक ध्यान दिया ।"[12] इन्होंने सम्पूर्ण स्वच्छंद वृतिवाले कवियों की संवेदना को रेखांकित करते हुए कहा है कि "मध्यकाल के इन स्वच्छंदकर्ताओं की संवेदना केवल प्रेम की संवेदना थी, ये प्रेम की पीर' के पक्षी थे ।"[13] यहाँ यह देखा जा सकता है कि श्री मिश्रजी अपने रचनात्मक दायित्व में न केवल किसी खास कवि अथवा रचनाकार की कविता अथवा किसी विशेष रचना को केन्द्र में रखकर अपनी बात कहने का प्रयास करते थे बल्कि उस परम्परा से जुड़े तमाम वृतिवाले रचनाकारों की प्रवृति उनकी दृष्टि में हुआ करती थीं । इस कार्य में वे प्रर्याप्त समय लगाया करते थे ताकि अधिक से अधिक सामग्री का संयोजन हो सके और उन एकत्रित सामग्रियों के अध्ययन-मनन के पश्चात् ही सही पाठ का सम्पादन हो । उदाहरण के तौर पर हम 'जसवंत सिंह ग्रंथावली' के सम्पादन कार्य को ही ले सकते हैं। ध्यातव्य हो कि आचार्य मिश्रजी ने इस पुस्तक के सम्पादन का दायित्व सन् 1955 में ही लिया था, फिर 1960 में उसे मुद्रण के लिए भेजा गया तथा 1972 में यह प्रकाशित हुआ । यहाँ यह देखा जा सकता है कि किसी भी कार्य में वे पूरा समय पूर्ण मनोयोग से देते थे ताकि उससे जुड़े तमाम तथ्यों एवम् विचारों को व्यापक रूप से विश्लेषित किया जा सके । इस विश्लेषण में हमेशा से ही उनकी दृष्टि साहित्यिक रही। 'भूषण ग्रंथावली के सम्पादन के समय भी उनकी दृष्टि यही रही । भूषण ग्रंथावली की सम्पादकीय में वे लिखते हैं कि "भूषण की काव्यकृति का आधुनिक शैली से संपादन सर्वप्रथम मिश्रबंधु महोदय ने किया । उसमें विस्तृत भूमिका और मूल के

नीचे शब्दार्थों की टिप्पणी की योजना की गई । भूमिका में अधिकतर ऐतिहासिक पक्ष का ही उपबृंहण था । साहित्यिक पक्ष की यथावांछित विवृति उसमें न पाकर स्वर्गीय लाला भगवानदीन जी ने उसके संपादन की ओर हमारा ध्यान सं. 1985 वि. में आकृष्ट किया ।"[14] जिन रचनात्मक दायित्वों को वे अपने हाथ में लेते, उसकी पूर्णाहुति तक वे कभी किसी भी प्रकार की आर्थिक मदद की आशा नहीं करते थे, और न ही इस कार्य को व्यवसाय समझते थे । इसके अतिरिक्त आचार्य मिश्र अपने सम्पादन के दौरान विषय से सम्बन्धित पूर्व-प्रकाशन का उल्लेख करना नहीं भूलते, यहाँ तक कि उस पूर्व-प्रकाशित ग्रंथ में किस बात की चर्चा की गयी है और किस महत्वपूर्ण उपविषय की पड़ताल नहीं की गयी है या फिर पाठ की बनावट में किस प्रकार का परिवर्तन किया गया है - इन सब बातों का पूर्ण विवरण सम्पादित पुस्तक की सम्पादकीय में देना अपना परम कर्त्तव्य समझते थे । बोधा ग्रंथावली की संपादकीय में वे लिखते हैं कि "बोधा की अब तक दो ही रचनाओं का पता चला है - इश्कनामा या विरही सुभानदंपतिविलास और विरहवारीश या माधवानल काम कंदलाचरित्र । इश्कनामा का प्रकाशन पं. नकछेद तिवारी ने भारत जीवन प्रेस से करा दिया था । उसमें आरंभ के आश्रयदाता विषयक चार दोहे नहीं हैं ।"[15] यहाँ इस बात का उल्लेख करना समीचीन होगा कि उन्होंने उन पाठों का भी संशोधन किया जिसमें पाठान्तर की संभावना थी । उदाहरण के तौर पर पं. नकछेद तिवारी की रचना 'इश्कनामा' को भी लिया जा सकता है ।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आचार्य मिश्रजी ने अपने सम्पादकीय एवम् रचनात्मक दायित्व का निर्वाह पूरे मनोयोग से किया । इनकी सम्पादकीय मात्र औपचारिकता न होकर तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों एवम् साहित्यिक विचारों का गम्भीर आलोडन होता था । एक तरह से रचनात्मक चिंतन

एवम् साहित्यिक सोच का विराट पक्ष इनकी सम्पादकीय में परिलक्षित होता था ।

2. **ख पत्रिका सम्पादक के रूप में :**

पत्रिकाएँ किसी समय विशेष में समाज की सोच एवम् मानसिकता की सूचना देने का सबसे सशक्त माध्यम होती हैं । पत्रिका ही साहित्यकार को सही अर्थों में समाज से जोड़ती है । उनमें अपने समय की समस्याओं के साथ-साथ आवश्यकताओं एवम् मांगों की निश्चित सूचना होती है । समाज की गतिविधियों का विस्तृत चित्रण होता है । कहा जा सकता है कि अगर किसी युग को उसकी समग्रता में समझना है तो उस युग की पत्रिकाओं का अध्ययन सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो सकता है। यही कारण है कि तमाम साहित्यकार अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता के कारण पत्रिकाओं से निरंतर जुड़े रहे । हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल का प्रथम चरण तो पूरी तरह पत्रिकाओं से ही निर्मित होता है । ऐसे में यह जानकर आश्चर्य नहीं होता कि भारतेन्दु युग के लगभग प्रमुख साहित्यकार पत्रिका निकालते थे और सम्पादकीय कार्य में लगे रहते थे । वस्तुतः पत्रिकाएँ किसी भी साहित्यकार की जन-संपृक्ति का प्रमाण होती हैं । आधुनिक हिन्दी साहित्य का द्वितीय युग भी पत्रिका सम्पादन से निर्मित होता है । अगर 'सरस्वती' पत्रिका को निकाल दिया जाय तो हिन्दी साहित्य का द्वितीय उत्थान शून्य हो जाता है । ऐसे में आचार्य मिश्र जैसे गम्भीर एवम् साहित्य

को उत्तरदायित्व की तरह लेने वाले रचनाकारों के लिए पत्रिकाओं से असंपृक्त होना असंभव था ।

वैसे श्री मिश्रजी विद्यार्थी-जीवन से ही पत्रिका से जुड़े रहे । ''यह *सुना जाता है कि विद्यार्थी-जीवन में ही उन्होंने 'इन्दिरा' नामक हस्तलिखित पत्रिका* का सम्पादन आरंभ किया था । सहपाठियों के सहयोग से इस पत्रिका के अनेक अंक प्रकाशित हुए थे ।''[16] यहाँ यह देखा जा सकता है कि पत्रिका संपादन के प्रति रुचि जीवन के शुरुआती दौर से ही उनमें रही जो समय के साथ परवान चढ़ती हुई अति महत्वपूर्ण पत्रिकाओं के सम्पादन के रूप में प्रतिफलित हुई । उन सभी पत्रिकाओं में से सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवम् प्रभावशाली पत्रिका 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' हुआ करती थी, जो शोध-पत्रिका के रूप में जानी-पहचानी जाती थी । इस पत्रिका की खासियत यह थी कि उस समय के जितने हिन्दी साहित्य से जुड़े ज्वलंत विषय हुआ करते थे उन सब का एक तरह से वह पत्रिका दर्पण हुआ करती थी । इसके अतिरिक्त जो नयी-नयी खोज भी साहित्य के क्षेत्र में हुआ करती थी उनका लेखा-जोखा वे पत्रिका में संलग्न अवश्य करते थे । उदाहरण के तौर पर हम 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका (त्रैमासिक)' वैशाख-आषाढ़ संस्करण, सं. 2004 वर्ष - 52 को ले सकते हैं जिसमें मिश्रजी ने 'बोधा का वृत' शीर्षक के अन्तगर्त बोधा की साहित्यिक-चर्चा प्रस्तुत करते

हुए कहा है कि "रीतिबद्ध रचनाकारों की सी शास्त्रबद्ध प्रवृत्ति पन्नावाले बुंदेलखंडी बोधा में नहीं है । इससे इन्हें फिरोजाबादी बोधा से पृथक करने में कोई कठिनाई नहीं रह जाती । दोनों की शैली एक सी कहीं नहीं है, जैसा अनुमान लगाया गया है । इस प्रकार यह निश्चित है कि एक बोधा रीतिबद्ध रचना करने वाले थे, वे फिरोजाबाद (आगरा) के थे और महासिंह के वंशज आवासिंह के आश्रित थे । दूसरे रीतिमुक्त रचनाकार थे, वे पन्ना (बुंदेलखंड) के थे ।"[17]

ध्यातव्य हो कि आचार्य मिश्र साहित्यिक-चर्चा को बड़े सम्मान के साथ पत्रिका में स्थान देते थे । चूंकि नागरी प्रचारिणी पत्रिका उन दिनों प्रबुद्ध पाठकों की प्रमुख पत्रिका हुआ करती थीं, अतः इन्हें जब कभी भी नई साहित्यिक सामग्री हाथ लगती, उसे वे पत्रिका के माध्यम से प्रकाश में लाने का सार्थक प्रयास करते । उदाहरण के रूप में हम 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका (त्रैमासिक)' वर्ष - 51 अंक - 1 वैशाख संवत - 2003 में मिश्रजी द्वारा विवेचित विषय 'शिवभूषण की बहुत पुरानी प्रति' नामक शीर्षक की साहित्यिक-चर्चा देख सकते हैं जिसमें वे कहते हैं कि "इधर कुछ दिनों पूर्व मुझे भूषणकृत 'शिवभूषण' की एक बहुत पुरानी प्रति देखने को मिली जो संवत 1818 की लिखी हुई है । अबतक 'शिवभूषण की जितनी प्रतियाँ मिली हैं यह उन सबसे प्राचीन है । यह प्रति काशी के सुप्रसिद्ध वैद्य स्वर्गीय श्री चुन्नीलालजी

के संग्रह की है । यहाँ उसी प्रति पर कुछ विचार करने की आवश्यकता है, क्योंकि इस प्रति द्वारा भूषण के संबंध में कुछ नई बातें ज्ञात हुई हैं ।"[18] इन दोनों उदाहरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि मिश्रजी द्वारा संपादित 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' अवश्य ही शोध-पत्रिका कहलाने की अधिकारिणी थी क्योंकि इसमें उन नये-नये साहित्यिक गूढ़ विषयों की चर्चा की जाती थी जो सिर्फ इतिहास के पन्नों तक ही सीमित थे ।

प्रबुद्ध पाठकों में पढ़ने की रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती रहे इस उद्देश्य से भी वे वैसे सन्दर्भों का संकलन करते जो पाठकों में पत्रिका पढ़ने की उत्कंठा जागृत करे। इन्होंने पत्रिका में नयी साहित्यिक सामग्री के प्रकाशन पर भी बल दिया साथ-ही साहित्यिक-चर्चा को भी स्थान दिया ।

2. ख i सम्पादित पत्रिकाओं का विवरण :

इन पत्रिकाओं को देखने से यह बात स्पष्ट होती है कि अपने साहित्यिक-जीवन के शुरुआत में वे धार्मिक विषयों की पत्रिका के सम्पादन में संलग्न रहे थे । आज आधुनिक अध्ययन-क्रम में इन पत्रिकाओं की साहित्यिकता पर सवाल भले ही उठाएँ जाएँ परन्तु इतना तो निश्चित है कि आचार्य मिश्र के गम्भीर धार्मिक संस्कारों एवम् आदर्शवादी विचारों को प्रथम अभिव्यक्ति इन्ही के माध्यम से मिली । वस्तुतः इन पत्रिकाओं ने आचार्य मिश्र के वैचारिकता के पोषण में महत्वपूर्ण भूमिका

निभाई जो आगे चलकर आचार्य मिश्र के चिंतन का अनिवार्य हिस्सा बनती है । दूसरे वर्ग में वे पत्रिकाएँ आती हैं जो विश्वविद्यालयों या शैक्षिक संस्थानों से जुड़ी हुई रहीं। 'प्रज्ञा', 'मागधी', अथवा 'विक्रम' के सम्पादन को इस क्रम में देखा जा सकता है । ये संस्थागत पत्रिकाएँ वैचारिकता के निश्चित प्रतिमानों को लेकर प्रकाशित होती रही । इसमें सम्पादक की भूमिका, सामग्री की उत्कृष्टता एवम् विविधता के सापेक्ष निर्धारित होती है । वह अपनी चिंतन और सोच में पूरी तरह स्वतंत्र न होकर संस्थागत विचारों के सापेक्ष ही संयोजना संपादन कर पाता है । इन सभी में विशुद्ध साहित्यिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नागरी प्रचारिणी पत्रिका को लिया जा सकता है, जिसमें विभिन्न साहित्यिक विषयों को लेकर गम्भीर एवम् अनुसंधानपरक आलेख प्रकाशित होते थे । आचार्य मिश्र की साहित्यिक प्रतिबद्धता एवम् योग्यता की पूरी जाँच यहीं होती है । जो पत्र-पत्रिकाएँ श्री मिश्रजी द्वारा सम्पादित हुई हैं उसका विवरण यहाँ नीचे दिया जा रहा है -

(क) वर्णाश्रम - अर्द्ध-साप्ताहिक पत्र

(ख) श्रीकृष्ण - दैनिक पत्र

(ग) सनातन धर्म - साप्ताहिक पत्रिका

(घ) नागरी प्रचारिणी पत्रिका - त्रैमासिक शोध पत्रिका

(ङ) प्रज्ञा (बनारस यूनिवर्सिटी जर्नल) - अर्द्ध वार्षिक

(च) मागधी (मगध विश्वविद्यालय) - अर्द्धवार्षिक

(छ) विक्रम (विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन) - अर्द्धवार्षिक

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी द्वारा सम्पादित पत्रिकाएँ साहित्यिक हुआ करती थीं, जिनमें धार्मिक साहित्य, भाषा से जुड़े विषय, ऐतिहासिक सामग्री, शब्दों की व्युत्पत्ति, महत्वपूर्ण रचनाकार एवम् उनसे जुड़ी साहित्यिक बातें, प्राचीन

हस्तलिखित ग्रंथों से सम्बन्धित विषय, लोक-कथा का संबंध आदि विभिन्न विषय-वस्तुओं से जुड़ी सामग्री भी पत्रिकाओं में स्थान पाने योगय समझी जाती थीं । उदाहरण के तौर पर हम नागरी प्रचारिणी पत्रिका के दो-चार अंकों में संकलित सामग्री को देख सकते हैं । संवत 2002 के कार्तिक-माघ मास में प्रकाशित नागरी प्रचारिणी पत्रिका के अंक 3-4 में संकलित सामग्री क्रमशः इस प्रकर है -

''विक्रम की छठी से पंद्रहवीं शती तक की धर्म-साधना - श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी,

अपभ्रंश भाषा और साहित्य - श्री हीरा लाल जैन,

प्रशस्ति काव्य में इतिहास की सामग्री - श्री बटेकृष्ण,

वर्त्तमान कविता के आविर्भाव-काल की परिस्थितियाँ - डॉ. केसरी नारायण शुक्ल,

कुछ साहित्यिक शब्दों का व्युत्पादन - श्री बलदेव प्रसाद मिश्र''[19]

यहाँ यह देखा जा सकता है कि पत्रिका में संकलित सामग्री अलग-अलग विषय-वस्तुओं से जुड़ी होने पर भी साहित्यिक आधार लिये हुए है । उसी पत्रिका में अर्थात् नागरी प्रचारिणी पत्रिका के अंक 3-4 के वार्षिक विषय-सूची में तत्कालीन हिन्दी साहित्य के महान हस्तियों की सामग्री को इन्होंने स्थान दिया है । उन विद्वानों में प्रो. हीरा लाल जैन, श्री अगर चंद नाहटा, बाबू राम सक्सेना तथा श्री मिश्रजी की भी रचना संकलित है जिनके विषय क्रमानुसार नीचे दिये जा रहे हैं -

''अपभ्रंश भाषा और साहित्य - प्रो. हीरालाल जैन,

वीर गाथा काल का जैन भाषा साहित्य - श्री अगर चंद नाहटा,

मध्यदेश का भाषा-विकास - बाबू राम सक्सेना,

'आलम' और उनका समय - श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र''[20]

ध्यातव्य हो कि उसी पत्रिका के पेज 86 पर हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का कॉलम है जबकि पेज 108 पर हीरा लाल जैन का कॉलम है । श्री जैन ने

'अपभ्रंश भाषा और साहित्य विषय पर कॉलम प्रस्तुत किया है । विदित हो कि जिन रचनाकारों की रचनाएँ पत्रिकाओं में सम्मिलित की जाती थीं, उसमें से ज्यादातर मिश्रजी के ही समकालीन थे । यही कारण है कि उन लोगों की रचनाएँ पत्रिका के एक से अधिक अंकों में देखी जा सकती हैं -

''प्राचीन भारत में अश्वमेध - श्री कृष्ण वाजपेयी,

लोक-कथा संबंधी जैन-साहित्य - श्री अगर चंद नाहटा,

बोधा का वृत - श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र - पृ. 13,

प्राचीन हिन्दू गणित में श्रेठी व्यवहार - डॉ. श्री ब्रजमोहन''[21]

आचार्य मिश्र अपनी सम्पादित पत्रिकाओं के प्रत्येक अंक में समीक्षा एवम् सम्पादकीय लिखना आवश्यक समझते । यहाँ हम कुछ अंकों में उनकी सम्पादकीय एवम् समीक्षा देख सकते हैं -

''रामचरितमानस' के संवाद - श्री शंभु नारायण चौबे,

अबुल फजल का बध - श्री चंद्रबली पाण्डे,

शिवभूषण की बहुत पुरानी प्रति - श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 28,

ईत्सिंग - निर्दिष्ट 'सिद्ध-ग्रंथ' - श्री राजकुमार

जैन साहित्याचार्य काव्य न्यास तीर्थ प्राचीन हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों की खोज -

समीक्षा,

संपादकीय''[22]

नागरी प्रचारिणी पत्रिका के जितने भी अंक प्रकाशित हुए वे सभी काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित कराये गये हैं । काफी समय से यह सभा हिन्दी साहित्य के अभ्युत्थान का केन्द्र मानी जाती रही है । श्री आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

जी के पहले एवम् बाद में भी कई विद्वानों के सम्पादकत्व में नागरी प्रचारिणी पत्रिका प्रकाशित हुई । उदाहरण स्वरूप हम कुछ विद्वानों के नाम ले सकते हैं जिन्होंने मिश्रजी के पहले एवम् बाद में नागरी प्रचारिणी पत्रिका जैसी महत्वपूर्ण शोध-पत्रिका का सफलता पूर्वक सम्पादन किया । उन विद्वानों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं - रामचंद्र वर्मा, बेनी प्रसाद, राय बहादुर, हीराचंद ओझा, बाबू श्यामसुन्दर दास, कृष्णदेव प्रसाद गौड़, पं. रामचन्द्र शुक्ल, पं. केशव प्रसाद मिश्र, वासुदेव अग्रवाल, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, कृष्णनन्द जी, पुरुषोत्तम लाल, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, करुणापति त्रिपाठी, डॉ. सम्पूर्णानन्द, डॉ. नागेन्द्र, श्री कमलापति त्रिपाठी एवम् डॉ. हरिवंश आदि। नागरी प्रचारिणी पत्रिका के प्राचीन संस्करण भाग-1 सन् 1897 में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित हुआ । इसी पत्रिका के भाग - 2 , भाग - 3, भाग - 4, भाग-5, भाग - 6, एवम् भाग - 8 क्रमशः सन् 1898, सन् 1899, सन् 1900, सन् 1901, सन् 1902 एवम् सन् 1904 में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित हुए।

विदित हो कि नागरी प्रचारिणी पत्रिका के जितने भी अंकों का संपादन मिश्रजी ने किया प्रायः प्रत्येक अंक में अपनी एक रचना अवश्य सम्मिलित करते । उदाहरण के तौर पर हम नागरी प्रचारिणी पत्रिका के वर्ष 53 अंक - 1 को ले सकते हैं -

''रंगवल्ली कला का इतिहास - श्री परशुराम कृष्ण गोड़े

विद्यापति का समय - डा. विमान बिहारी मजुमदार

वत्सराज उदयन और उसका कौंटुबिक इतिहास - श्री नीलकंठ पुरुषोत्तम जोशी

व्यंजना अर्थ का व्यापर है शब्द का नहीं - प्रो. श्रीकांत नाथ शास्त्री तेलगी

नंद गाँव के आनंदघन - श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 48

प्रति संस्कृत देवनागरी लिपि - श्री श्रीनिवास

विविध

समीक्षा

संपादकीय''[23]

पत्रिका के एक अन्य अंक में श्री मिश्रजी की रचनाएँ संकलित देखी जा सकती हैं, जिसका सम्पादन स्वयं मिश्रजी ने किया -

''मालवा का प्रद्योत राजवंश - श्री सूर्य नारायण व्यास

अपभ्रंश भाषा के कतिपय अन्य दिगंबर जैन ग्रंथ - श्री अगर चंद नाहटा

आलम की कृतियाँ - श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 109

समीक्षा - पृ. सं. 117

सम्पादकीय - पृ. सं. 127''[24]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि श्री मिश्रजी ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका का सम्पादन भाग 50 विक्रमांक उतरार्ध संवत 2002 से लेकर भाग 53 विक्रमांक उतरार्ध संवत 2005 तक लगातार किया ।

इनके द्वारा सम्पादित पत्रिकाएँ वस्तुतः साहित्यिक हुआ करती थी, जिसमें धार्मिक, साहित्यिक, भाषा से जुड़े विषय, ऐतिहासिक सामग्री, प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ से सम्बन्धित विषय आदि का संयोजन होता था ।

2. **ख. ii सम्पादकीय दृष्टि :**

नागरी प्रचारिणी पत्रिका का सम्पादन करते हुए उन्होंने हिन्दी साहित्य के गम्भीर अध्ययन-अन्वेषण की नयी परम्परा का सूत्रपात तो किया ही साथ ही अपने समय के तमाम महान एवम् प्रमुख रचनाकारों के विचारों को पत्रिका के माध्यम से

प्रकट भी किया । अगर उनके द्वारा सम्पादित पत्रिकाओं की विषय-सूचि देखें तो प्रकट होता है कि अत्यन्त महत्वपूर्ण एवम् गम्भीर साहित्य को वे प्रश्रय देते थे । इसमें भी प्राचीन एवम् मध्यकालीन विषय को प्रमुखता से गृहीत करते थे । नागरी प्रचारिणी पत्रिका के अंक 3-4, संवत 2002 के वार्षिक विषय सूची को उदाहरण के तौर पर लिया जा सकता है, जिसमें इन्होंने अन्य विद्वानों के अतिरिक्त श्री बाबू राम सक्सेना द्वारा व्यक्त विचार-'मध्यदेश का भाषा-विकास' को भी प्रमुखता से सम्मिलित किया है । वस्तुतः इन सबसे एक निष्कर्ष यह निकलता है कि वे अपनी पत्रिका में विषयों का निर्धारण कितनी गम्भीरता एवम् सजगता से करते थे । निश्चित रूप से इसमें उनकी दृष्टि अनुसंधानपरक एवम् नवतामूलक रही है । इतना ही नहीं वे श्रद्धांजलियों के माध्यम से भी अपने युग के मूर्धन्य साहित्यकारों के वैशिष्ट को आरेखित करते हैं, साथ-ही उस युग एवम् समाज के बारे में भी महत्वपूर्ण दृष्टि देते हैं । एक अन्य महत्वपूर्ण सम्पादकीय दृष्टि उनकी यह रही कि पूर्व के प्रकाशनों में जो कई स्थलों पर त्रुटि देखी जाती रही और जिसे पाठक अब तक सही मानते रहे वैसे आलेखों का भी संकलन पत्रिका में वे अनिवार्य रूप से करते रहे । खास कर श्री मिश्रजी के द्वारा संकलित सामग्री को इसी उद्देश्य से देखा जाना चाहिए । उदाहरण के तौर पर नागरी प्रचारिणी पत्रिका के अंक 1, वर्ष 51, संवत 2003 में संकलित कॉलम शिवभूषण की बहुत पुरानी प्रति जो मिश्रजी के द्वारा लिखा भी गया है, के पीछे यही उद्देश्य देखा जा सकता है । उसी पत्रिका के अगले अंक में भी इनका एक कॉलम 'बोधा का वृत' संकलित है जो बोधा के जीवन-वृत को विवेचित करता है, जहाँ किसी भी प्रकार का कोई भ्रम नहीं रह जाता । वस्तुतः मिश्रजी का पत्रिका सम्पादन के पीछे निर्दिष्ट उद्देश्य साफ-साफ दिखालाई पड़ता । पत्रिका की गुणवत्ता को बनाये रखने के उद्देश्य से अपने समकालीन हिन्दी साहित्य के विद्वानों के विचारों के अतिरिक्त प्रायः यह देखा

गया कि वे धर्म से जुड़े विषय, इतिहास से जुड़े विषय एवम् शोध से जुड़े विषय का संकलन अवश्य करते थे । उदाहरण के तौर पर हम नागरी प्रचारिणी पत्रिका (त्रैमासिक) वर्ष 51 के अंक 1 वैशाख संस्करण, जो संवत 2003 में प्रकाशित हुई, को ले सकते हैं उसमें इन्होंने शोध-परक सामग्री का संकलन किया है जिसका विषय प्रचीन हस्तलिखित हिंदी-ग्रंथों की खोज है । पत्रिका में संकलित विषयों का संतुलन बनाये रखने के लिए अलग-अलग लेखन सामग्रियों का वे चयन कर उसे पत्रिका में स्थान देते थे । ऐसा कभी भी नही हुआ कि किसी खास तरह के विषय ही पत्रिका में भरे पड़े हों । हाँ, इस तरह की दृष्टि वे अवश्य रखते कि पत्रिका किस प्रकार की है ? अगर वह धार्मिक पत्रिका है, तो उसमें धर्म विषयक विचारों का संकलन होना चाहिये ; अगर पत्रिका शोध-परक है, तो कम-से-कम एक-दो विषय शोध-परक अवश्य होनी चाहिये । अगर पत्रिका शैक्षणिक संस्थानों से जुड़ी है, तो उस प्रकार की सामग्रियों का चयन अवश्य होना चाहिये जो शैक्षिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हों । 'प्रज्ञा', 'मागधी', 'विक्रम' पत्रिकाएँ अर्द्धवार्षिक पत्रिका थी जो क्रमशः बनारस, मगध एवम् विक्रम विश्वविद्यालयों से जुड़ी हुई थी, जिसे हम शैक्षणिक पत्रिकाएँ कह सकते हैं । वहीं 'सनातन-धर्म्' पत्रिका में धार्मिक विषयक सामग्रियों का संकलन हुआ करता था । कहने की आवश्यकता नहीं है कि मिश्रजी की दृष्टि पत्रिका की गुणवत्ता को बरकरार रखने के प्रति सचेत रहा करती थी, ताकि किसी भी दृष्टि से पत्रिका का महत्व कम न हों । पत्रिका पाठकों के बीच अधिक-से-अधिक लोकप्रिय हों, इसके लिए मिश्रजी का यह निरन्तर प्रयास रहता था, कि अधिक से अधिक वैसी सामग्री का संकलन एवम् चयन होना चाहिये, जिससे पाठकों को अबतक भली-भाँति परिचित होने का मौका नहीं मिला । उदाहरण स्वरूप हम नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष 51, अंक 1, संवत 2003 में संकलित श्री राजकुमार जैन साहित्याचार्य काव्य व्यास तीर्थ के विचार

'ईत्सिंग-निर्दिष्ट सिद्ध-ग्रंथ' का संकलन को ले सकते हैं जो पत्रिका में पाठकों की रुचि बनाये रखने के उद्देश्य से की गयी जान पड़ती है । इसी पत्रिका के अगले अंक में संकलित डॉ. श्री ब्रजमोहन द्वारा लिखित 'प्राचीन हिन्दू गणित में श्रेठी व्यवहार' को भी इसी सन्दर्भ में देखा जाना चाहिये ।

साहित्य से जुड़े विशेष कार्यक्रमों पर भी मिश्रजी की दृष्टि अवश्य रहती, जिसका उल्लेख वे अपने पत्रिका में अवश्य करते । उदारहण के तौर पर हम नागरी प्रचारिणी पत्रिका के अंक - 3, जो संवत 2003 में प्रकाशित हुई, को ले सकते हैं । मिश्रजी लिखते हैं कि "सर्व संमति से निम्नलिखित पुरस्कार-पदक संमुखांकित रचनाओं पर देने का सभा ने निश्चय किया है । यथा संभव शीघ्र उपयुक्त आयोजन करके इनके वितरण की व्यवस्था की जाएगी -

क्र.सं.	*पुरस्कार पदक*	*पुस्तक*	*लेखक*
1.	रत्नाकर पुरस्कार तथा राधाकृष्णदास पदक (सं. 2002)	घनानंद और आनंदघन	श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
2.	बटुक प्रसाद पुरस्कार तथा सुधाकर पदक (सं. 2002)	शेखर : एक जीवनी भाग - 2	श्री सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'
3.	द्विवेदी स्वर्ण पदक (सं. 2002)	जौहर	श्री श्याम नारायण पांडेय"[25]

पत्रिका की समग्रता की रूप-रेखा पर अगर हम दृष्टिपात करें तो हम देखते हैं कि प्रत्येक पत्रिका के अंत में समीक्षा एवम् सम्पादकीय के कॉलम अवश्य दीख पड़ते हैं । पत्रिका के किसी-किसी अंक में तो समीक्षा-सम्पादकीय के अतिरिक्त

विविध, प्राप्ति-स्वीकार आदि के कॉलम भी निर्दिष्ट रहते हैं ।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि पत्रिका सम्पादन में श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी की दृष्टि पत्रिका की गुणवत्ता के साथ-साथ पत्रिका के प्रत्येक पृष्ठ की महत्ता पर केन्द्रित दीखती है । अध्ययन-अन्वेषण की परम्परा का सूत्रपात होता रहे, इनकी यह भी दृष्टि रही है, साथ ही वैसी सामग्री का संकलन हो जिससे पाठक अभी तक भली-भाँति परिचित नहीं हो सके हैं आदि ।

2. **ख. iii. सम्पादकीय लेखन :**

सम्पादकीय लेखन वस्तुतः एक परम्परागत लेखन कार्य होता है जो ग्रंथ अथवा पत्रिका सम्पादक को अपनी बात पाठकों तक सम्प्रेषित करने का साधन होता है । ध्यातव्य हो कि किसी भी पत्रिका का सम्पादकी सम्पादक के लेखन-क्षमता की अभिव्यक्ति का माध्यम होता है । एक तरह से सम्पादकी पूरी पत्रिका का दर्पण होता है, जहाँ पूरी पत्रिका में संकलित सन्दर्भों की झलक देखी जा सकती है ।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र एक कुशल सम्पादक के रूप में प्रख्यात हैं चाहे वह ग्रंथ सम्पादक के रूप में हों या फिर पत्रिका सम्पादक के रूप में । इन सब के पीछे कारण उनकी सम्पादकीय लेखन रही है । पत्रिका के सम्पादकीय में वे समाज की ज्वलंत समस्याओं की ओर प्रबुद्ध पाठकों का ध्यान आकृष्ट करते हैं, तो कभी महान साहित्यिक पुण्य आत्माओं के अवदानों को श्रद्धांजलि के रूप में अपनी श्रद्धा-सुमन लेखनी के माध्यम से अर्पित करते हैं । उदाहरण के तौर पर हम नागरी प्रचारिणी पत्रिका के वर्ष 52, संवत् 2004 के अंक को ले सकते हैं जिसमें इन्होंने अपने सम्पादकीय में कई सन्दर्भों से जुड़े विषयों को सामिल किया, जिसे नीचे यहाँ दिया जा रहा है --

''बोधा का वृत - श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 13

आलम की कृतियाँ - श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 109

संपादकीय

1. दिवंगत ओझा जी, पृ. सं. 47
2. रेलवे विभाग और हिन्दी, पृ. सं. 48
3. संयुक्त प्रांत की राजभाषा हिन्दी, पृ. सं. 127
4. स्वर्गीय श्री कामता प्रसाद गुरु, पृ. सं.
5. भारतेन्दु युगीन वाङ्मय का पुनः प्रकाशन, पृ. सं. 178
6. यूरोप में हिन्दी भाषा, पृ. सं. 179
7. बापू का निधन, पृ. सं. 180
8. दिवंगता श्री सुभद्रा कुमारी चौहान, पृ. सं. 180''[26]

'दिवंगत ओझा जी' शीर्षक के तहत श्री गौरी शंकर हीराचंद ओझा जी के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए मिश्रजी सम्पादकीय में लिखते हैं कि ''श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा जी जैसे स्वभाषा प्रेमी विद्वान स्वदेश और विदेश में भी ढूँढे ही मिलेगा । ओझा जी का हिन्दी भाषा का प्रेम किसी से छिपा नहीं है । यदि वे चाहते तो अनुशीलन और अनुसंधानपूर्ण अपने सभी ग्रंथ अंगरेजी भाषा में लिख जितनी कीर्ति के भागी वे हुए उससे अधिक कीर्ति अर्जित कर सकते थे । आर्थिक दृष्टि से भी वे अपेक्षाकृत लाभ में ही रहते, परन्तु उन्होंने अपने सारे ग्रंथ हिन्दी भाषा में ही प्रस्तुत किए । ओझा जी जैसे विद्वान का हिन्दी प्रेम प्रशंसनीय और अनुकरणीय है ।''[27] यहाँ यह देखा जा सकता है कि श्री मिश्रजी ने इन थोड़े से शब्दों में ओझा जी का पूरा साहित्यिक व्यक्तित्व हमारे सामने रख दिया है, जो इनके सम्पादकीय व्यक्तित्व का परिचायक सिद्ध होता है । कहने की आवश्यकता नहीं कि ओझा जी को हिन्दी एवम् अंग्रेजी दोनों भाषाओं पर समानाधिकार था, पर उन्होंने रचना-कर्म की भाषा हिन्दी ही

रखी, साथ ही रचना का क्षेत्र भी हिन्दी साहित्य को ही चुना जो उनकी राष्ट्रभाषा के प्रति लगन, निष्ठा एवम् राष्ट्र के प्रति समर्पन का द्योतक है । अतः श्री मिश्रजी का यह कहना कि ओझा जी जैसे स्वभाषा प्रेमी देश-विदेश में ढूँढने से नहीं मिलेगा अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है ।

इस प्रकार के और भी उदाहरण लिये जा सकते हैं, जो नागरी प्रचारिणी पत्रिका के अलग-अलग अंकों की सम्पादकीय में मिलते हैं । एक उदाहरण हम नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष 51 अंक - 2 ; संवत् 2003, की सम्पादकीय से लेते हैं जिसमें उन्होंने डॉ. हीरानंद शास्त्री के मृत्योपरान्त अपनी श्रद्धा-सुमन अर्पित करत हुए श्रद्धांजलि के चंद शब्द 'दिवंगत डॉ. हीरानंद शास्त्री' शीर्षक के माध्यम से लिखते हैं कि "डॉ. हीरानंद शास्त्री संस्कृत और हिन्दी के मर्मज्ञ थे, पुरातत्व के पंडित तो वे थे ही । कई वर्षों तक उन्होंने भारत सरकार के पुरातत्व विभाग के संचालक के रूप में कार्य किया था । इस पद पर रहकर उन्होंने कई खोदाइयों का बहुत ही योग्यता पूर्वक संचालन किया । इस पद से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् वे बड़ौदा राज्य के पुरातत्व-विभाग के संचालक नियुक्त हुए । वहाँ भी उन्होंने बहुत ही विवेक पूवर्क कार्य किया । इधर वे पंजाब चले गए थे और वहीं गुरुदासपुर में उनका स्वर्गारोहण हो गया ।"[28] व्यक्तित्व के धनी एवम् सच्चिदानन्द हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय के पिता श्री हीरानंद शास्त्री जी की सेवा-भावना का उल्लेख करते हुए मिश्रजी ने कहा कि उन्होंने सरकारी सेवा में रहकर भी अपने महत्वपूर्ण दायित्वों का निर्वाह किया, साथ ही संस्कृत एवम् हिन्दी साहित्य में रुचि दिखाकर अपनी विद्वता का परिचय दिया ।

आचार्य मिश्रजी का सम्पादकीय लेखन बड़ा सधा हुआ होता था । कम शब्दों का प्रयोग कर अधिक से अधिक महत्वपूर्ण तथ्यों को पाठकों तक सम्प्रेषित करने

की शब्द-शक्ति मिश्रजी की सम्पादकीय में देखा जा सकता है । जासूसी कहानियों एवम् उपन्यासों के अग्रणी रचनाकारों में से एक..... गहमरी जी की उपलब्धियों एवम् हिन्दी साहित्य में उनकी देन को इंगित करते हुए श्रद्धांजलि स्वरूप नागरी प्रचारिणी पत्रिका की सम्पादकीय में वे लिखते हैं कि ''कथाकार की दृष्टि से गहमरी जी का महत्व अत्यधिक है । वे हिन्दी साहित्य में कथा की एक धारा के प्रर्वतक थे और यह धारा अकेले उन्हीं के उद्योग से अब तक प्रवाहित होती रही । उनके दिवंगत होने से इस धारा का कोई दूसरा साहित्यिक नेता दृष्टिगत नहीं हो रहा है । यहाँ हमारा अभिप्राय उनके द्वारा निर्मित जासूसी कथाओं से है, जिसमें कहानी और उपन्यास दोनों हैं ।''[29] अपनी संपादकीय में इन्होंने श्रद्धांजलि के रूप में कई महान हिन्दी साहित्य के विभूतियों की चर्चा की है जिसमें महामना मदनमोहन मालवीय, श्री श्याम बिहारी मिश्र, श्री अयोध्या सिंह उपाध्या हरिऔध आदि हैं । नागरी प्रचारिणी पत्रिका के तीसरे अंक की संपादकीय में उन्होंने महामना मालवीय जी को महान शक्ति के रूप में अवतरित माना । वे लिखते हैं कि ''मालवीय जी भारतीय संस्कृति के पुनः प्रस्थापक थे। आधुनिक युग में भारतीयता का ह्रास देख उन्होंने उसके अभ्युत्थान के लिए स्वयं प्रयत्न किया और अनेक व्यक्तियों को इस शुभ कार्य के लिए प्रेरित किया । आधुनिक युग में भारतीय संस्कृति की संवर्द्धना और उसका पोषण करने वाला मालवीय जी के समान दूसरा व्यक्ति नहीं दृष्टिगत होता । यद्यपि इस कोरे बुद्धिवाद के युग में बहुत से लोग कुछ बातें स्वीकार ही नहीं करते, फिर भी हम यह निवेदन करना चाहते हैं कि मालवीय जी किसी महान शक्ति के अंश के रूप में भारत-भूमि में अवतरित हुए थे और भारतीय जीवन और समाज के सभी क्षेत्रों में जब-जब भीर पड़ी तब-तब उन्होंने अपने जीवन की बाजी लगाकर स्वंय उसे टाला और दूसरों को उसे टालने को प्रेरित किया।''[30] वहीं हिन्दी-भाषा और साहित्य को समृद्धि प्रदान करने में श्री श्याम बिहारी मिश्र जी एवम् श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' जी जैसे दोनों साहित्यकारों के

योगदान की चर्चा करते हुए श्री मिश्रजी कहते हैं कि "भारतेन्दु युग के पश्चात् हिन्दी-भाषा ओर साहित्य को समृद्ध करने वालों में से ये प्रमुख हैं । इनकी विशेषता यह रही की इन्होंने भाषा और साहित्य के सभी अंगों की पुष्टि में हाथ बँटाया ।"[31]

'रेलवे विभाग और हिन्दी' शीर्षक सम्पादकीय के माध्यम से श्री मिश्रजी ने प्रबुद्ध पाठकों का ध्यान रेलवे विश्रामालयों में जहाँ-तहाँ हिन्दी में लिखे स्लोगनों तथा सूचनाओं में निहित अशुद्धियों अथवा त्रुटियों की ओर ध्यानाकर्षित करने का प्रयास किया है जिसमें उनका मानना है कि सार्वजनिक स्थानों पर इस प्रकार के अशुद्ध हिन्दी-भाषा के प्रयोग से हमें बचना चाहिए, वहीं दूसरी ओर हिन्दी के अधिकाधिक शुद्ध प्रयोग की ओर भी प्रबुद्ध पाठकों का रूझान दिलाने का वे प्रयास करते हैं ।

नागरी प्रचारिणी पत्रिका के वर्ष 52 की वार्षिक विषय सूची में संकलित संपादकीय के विभिन्न विषयों पर अगर हम दृष्टिपात करें तो जाहिर होता है कि श्री मिश्रजी का सम्पादकीय लेखन किसी खास विषय पर टिकी न रहकर अलग-अलग विषयों पर हुआ करती थीं । कहीं वे प्राचीन वाङ्मय के पुनःप्रकाशन की वकालत करते हैं तो कहीं वे भाषा-चिंतक के रूप में भी नजर आते हैं । एक ओर वे रेलवे में भाषा के शुद्ध प्रयोग की चर्चा करते हैं तो दूसरी ओर संयुक्त-प्रांत की राजभाषा हिन्दी को स्वीकारते नजर आते हैं । कहने की आवश्यकता नहीं कि उन्होंने अपनी संपादकीय में हमेशा ही तत्कालीन ज्वलंत विषयों को स्थान दिया ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मिश्रजी ने हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य विद्वानों, भाषा-प्रेमियों एवम् पुण्य-आत्माओं के अवदानों को श्रद्धांजलि के रूप में अपनी श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हुए अपनी निष्ठा एवम् अटूट लगन का परिचय दिया है, जो उनकी सम्पादकीय दूर-दृष्टि का परिचायक है । मिश्रजी की यह दृष्टि सिर्फ साहित्य की तरफ ही मुखर नहीं थी बल्कि इससे अलग हट कर भी देखी गयी है ।

संदर्भ :

1. रामचरितमानस - काशीराज संस्करण, सं. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, आत्मनिवेदन, पृ. सं. 26
2. वही, पृ. सं. 26
3. वही, पृ. सं. 21
4. वही, पृ. सं. 25
5. बोधा ग्रंथावली, संपा. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 1
6. वही, पृ. सं. 1
7. जीवनवृत - गंगालहरी, संपा. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 8
8. अनुवचन - भूषण ग्रंथावली, संपा. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 8
9. हिन्दी का गद्य-साहित्य, ले. रामचन्द्र तिवारी, पृ. सं. 622
10. संपादकीय - बोधा ग्रंथावली, संपा. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 2
11. वही, पृ. सं. 4
12. भूमिका - घनानंद-कवित्त (प्रथम शतक), ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 8
13. वही, पृ. सं. 9
14. आरंभ वचन, भूषण ग्रंथावली, संपा. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 5
15. संपादकीय - बोधा ग्रंथावली, संपा. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 4
16. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : (रचना यात्रा - शंभुनाथ राय), पु. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र अभिनन्दन ग्रंथ, संपा. - डॉ. विजेयेन्द्र स्नातक, पृ. सं. 42
17. नागरी प्रचारिणी पत्रिका (त्रैमासिक) वर्ष 52 अंक 1 वैशाख-आषाढ (संस्करण) संवत् 2004, संपा. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 24
18. वही, वर्ष - 51, अंक - 1, संवत् 2003,संपा. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 24,
19. वही, विषय-सूची : वर्ष 50, अंक 3-4, संवत- 2002, कार्तिक-माघ, संपा. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
20. वही, वर्ष 50, अंक 3-4, संवत- 2002, कार्तिक-माघ, संपा. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
21. वही, वर्ष 52, अंक 1, (नवीन संस्करण) वैशाख-अषाढ, संवत-2004, , संपा. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

22. वही, वर्ष 51, अंक 1, (नवीन संस्करण) वैशाख, संवत-2003, , संपा. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
23. वही, (त्रैमासिक) वर्ष 53, अंक 1, (नवीन संस्करण) वैशाख-अषाढ, संवत-2005,
24. वही, वर्ष 52, अंक 3, कार्तिक-पौष, संवत 2004, संपा. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र,
25. वही, वर्ष 51,अंक 3, संवत-2003 कार्तिक,संपा. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.-3
26. वही, वर्ष 52, संवत - 2002, संपा. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
27. वही, (त्रैमासिक) वर्ष - 52, अंक - 1, वैशाख-अषाढ (संस्करण), संवत- 2004, संपा. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
28. वही, वर्ष - 51, अंक - 2, संवत- 2003, संपा. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
29. वही, अंक - 1, वैशाख, संवत- 2003, संपा. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
30. वही,अंक - 3, कार्तिक, संवत- 2003, संपा. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
31. वही, अंक - 4, माघ, संवत- 2003, संपा. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

तृतीय अध्याय

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : पाठानुसंधित्सु एवम् पाठालोचक के रूप में

तृतीय अध्याय

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : पाठानुसंधित्सु एवम पाठालोचक के रूप में

3 : क. पाठालोचन का आधार :

ग्रंथ-संपादन के क्रम में सम्पादक का यह उत्तरदायित्व होता है कि ग्रंथ में सही एवम् प्रामाणिक पाठ के ही संकलन की व्यवस्था होनी चाहिये । ग्रंथ की उपयोगिता संकलित पाठ की प्रामाणिकता पर ही निर्भर करती है । चूँकि किसी कवि अथवा रचनाकार की हस्तलिखित रचनाएँ तो उपलब्ध नहीं मिलती, अतः ऐसी स्थिति में निर्धारित विषय-वस्तु से सम्बन्धित जो भी सामग्री एकत्रित होती है उसमें से उचित पाठ के निर्धारण हेतु यह आवश्यक है कि उन उपलब्ध सामग्रियों को पाठालोचन एवम् पाठानुसंधान की कसौटी पर कस कर देखा-परखा जाय । आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने भी यह स्पष्ट किया है कि मूल स्वाक्षर में हस्तलिखित रचनाएँ किसी भी प्राचीन कवि के उपलब्ध नहीं हैं । 'रामचरितमानस' काशीराज संस्करण के आत्मनिवेदन में वे कहते हैं कि "स्वयम् तुलसीदास के स्वाक्षर का हस्तलेख क्या हुआ। इस प्रश्न का उत्तर कठिन नहीं है । किसी प्राचीन कवि के स्वाक्षर के हस्तलेख नहीं मिलते । सुलेख लिखने वाले लेखक उस समय लेखन का व्यवसाय ही किया करते थे। सुलिखित हस्तलेख ने कर्तालिखित पांडुलिपि की उपेक्षा कराई और वह लुप्त हो गई । यह मानस ही नहीं, हिन्दी की किसी भी प्राचीन कृति के लिए कठोर सत्य है।"[1] अतः यह आवश्यक होता है कि पाठ तथा उसके अनुसंधान एवम् कुशल सम्पादन के लिए उपलब्ध सामग्रियों के विभिन्न तथ्यों पर समग्रता से विचार किया जाय। पाठ से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं पर विवेचन-विश्लेषण के निमित्त जो प्रथम सोपान है - वह है 'पाठालोचन' । डॉ. गोविन्द नाथ राजगुरु ने अपनी पुस्तक

'पाठालोचन के सिद्धान्त' में पाठ शब्द को व्याख्यायित करते हुए कहा कि "वैदिक मंत्रों को शुद्धतम रूप में रखने और इसी रूप में भावी पीढ़ियों को सौंप देने के उद्देश्य से उस युग के भी मनीषियों ने विभिन्न पद्धतियाँ अपनाईं । इन पद्धतियों को 'पाठ' कहा जाता था ।"[2] उपरोक्त विवेचन को और अधिक स्पष्ट करते हुए श्री राजगुरु ने कहा कि पाठ शब्द साहित्य के क्षेत्र में भिन्न अर्थ का बोध कराता है - "किसी विचार या भाव का लिखित रूप सामान्यतः पाठ कहलाता है ।"[3] वहीं समांतर कोश हिन्दी थियारस अनुक्रम खंड भाग - 2 में आलोचना का अर्थ "अवलोकन, विवेचन"[4] आदि माना गया है । मिश्रजी कहते हैं कि - "आलोचना में सामग्री दूसरे या दूसरों के द्वारा आकलित रहती है, उस आकलन को देखना और भली-भाँति देख लेना ही उसका काम रहता है ।"[5]

पाठालोचन के दौरान एक कुशल सम्पादक जिन-जिन आधारों को दृष्टि में रखकर पाठ की मौलिकता को सिद्ध करने का प्रयास करता है उसमें सबसे पहले लेखक या रचनाकार के मूल नाम को उजागर करना होता है, तत्पश्चात् रचना एवम् रचनाकार का समय ज्ञात करना होता है, साथ-ही मूल पाठ अथवा प्रामाणिक पाठ तक पहुँचने के लिए प्राचीन पाण्डुलिपियों का आलोडन-विलोडन भी अनिवार्य होता है । यहाँ तक कि ऐतिहासिक अवगाहन की भी आवश्यकता पड़ सकती है । यहाँ हम कुछ उदाहरणो के माध्यम से पाठालोचन के इन आधारों को देख-परख सकते हैं । आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने ग्रंथ संपादन के क्रम में जिन महत्वपूर्ण आधारों को दृष्टि में रखकर अपने कार्य को पूरा किया उनमें सम्पादित पुस्तकों से सम्बन्धित कवि अथवा रचनाकार का पूर्ण विवरण सर्वप्रथम प्रस्तुत करना वे आवश्यक समझते हैं । 'गंगालहरी' नामक पुस्तक के संपादन के क्रम में वे कविवर पद्माकर के जीवन-वृत पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि -- "पद्माकर के वंश के मूलपुरुष मधुकर भट्ट

अत्रिगोत्रीय और तैतरीय शाखा के दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे । इनके पिता मोहनलाल भट्ट मध्यप्रदेशांतर्गत सागर में रहा करते थे । इनके पूर्व पुरुषों का निवास बाँदा में भी था, इसलिए ये लोग बाँदावाले भी कहलाते थे ।''[6] इसी प्रकार'बिहारी की वग्विभूति' के रचनाक्रम में इन्होंने कवि बिहारी के जीवन-वृत पर प्रकाश डाला है । इनके अनुसार ''बिहारी का जन्म ग्वालियर में हुआ था । इनके पिता का नाम केशव था । ये केशव थे कौन ? बाबू राधाकृष्ण दास ने एक लेख लिखकर यह सिद्ध करने का यत्न किया कि वे प्रसिद्ध कवि केशव ही थे । रत्नाकर जी ने भी अपने लेख में इसे पूर्णतया तो नहीं, पर अंशतः स्वीकार किया ।''[7] उनके सम्पादित पुस्तकों में यह भी देखा गया है कि जरूरत पड़ने पर वे कवि अथवा रचनाकार के गुरू-परंपरा का भी उल्लेख करते हैं । उदाहरण स्वरूप हम 'घनानंद-कवित्त (प्रथम शतक)' को देख सकते हैं, जिसमें घनानंद के गुरु-परंपरा का उल्लेख सविस्तार हुआ है । उल्लेखनीय है कि - ''परमहंस-वंशावली के प्राप्त हो जाने से 'घनानंद' के सम्प्रदाय के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रह जाता है । जैसा कहा जाता है कि 'नामूलातु जनश्रुतिः' जनता में प्रचलित 'जनुश्रुति निराधार नहीं होती, पहले से ही प्रसिद्ध है कि घनानंद ने निम्बार्क-सम्प्रदाय में दीक्षा ली थी । इस परमहंस-वंशावली से यह प्रमाणित हो जाता है इसमें गुरू-परंपरा का उल्लेख इस क्रम से है -- नारायण→ सनकादि→निंबादित्य→ श्रीनिवासाचार्य→ विश्वाचार्य→ पुरुषोत्तमाचार्य →विलासाचार्य →स्वरूपाचार्य → माधवाचार्य →बलभद्राचार्य →पद्माचार्य →श्यामाचार्य →गोपालाचार्य →कृपाचार्य → श्रीदेवाचार्य →संदरभट्ट →पद्मनाभभट्ट →उपेन्द्राभट्ट →रामचन्द्रभट्ट → वामनभट्ट →कृष्णभट्ट →पद्माकरभट्ट →श्रवणभट्ट → भूरिभट्ट → माधवभट्ट (गांगलभट्ट ?) →श्रीकेशव (काश्मीरी) →श्री भट्ट →हरिव्यास → परमानिधि (परशुराम) →हरिवंश →नारायणदेव →बृंदावन (देव) ।''[8] रचनाकार के

सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के भ्रम की स्थिति पाठकों में न रह जाय, इसके लिए श्री मिश्रजी ऐतिहासिक सामग्रियों के अवलोकन को आवश्यक माना है ताकि तथ्य की पुष्टि की जा सके । भूषण ग्रंथावली के संपादन के क्रम में उन्होंने कहा कि "हमारे लिए सारी ऐतिहासिक सामग्री का पुनरावलोकन अनिवार्य हो गया । इस ऐतिहासिक अंश के चयन-कलन में श्री रामाकांत जी चौबे ने, देर से ही सही, हमारी भरपूर सहायता की ।"[9] वस्तुतः ऐतिहासिक तथ्यों के आलोडन-विलोड़न की तब आवश्यकता पड़ती है जब किसी कवि अथवा रचनाकार की रचनाओं एवम् उससे जुड़े तथ्यों में मतान्तर दृष्टिगत होता है । इन्होंने भूषण ग्रंथावली के संपादन के क्रम में ऐसे मतान्तर जैसी समस्या का उल्लेख किया है । ये लिखते हैं कि - "हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण जो (सन् 1900 से 1911 तक की गई खोज का संक्षिप्तीकरण था) प्रकाशित करते हुए खोज के निरीक्षक बाबू श्यामसुन्दर दास ने तत्सामयिक साहित्यान्वेषक की नूतन कल्पना में विश्वास करके उसका लेख भूमिका में मुद्रित करा दिया, जिसमें यह संभावना प्रकट की गई थी कि भूषण शिवाजी के दरबार में नहीं गए थे, उनका जन्म ही संवत् 1738 में हुआ था और मतिराम उनके भाई नहीं थे । इस नवीन उद्भावना से बहुत से वे साहित्यिक और आलोचक व्यग्र हो गए थे जो शिवाजी के ही दरबार में भूषण का जाना ठीक समझते थे ।"[10] अतः ऐसी अस्पष्टता की स्थिति के निराकरण का सही माध्यम इन्होंने ऐतिहासिक अंश की सहायता अथवा तथ्य के ऐतिहासिक पड़ताल को आवश्यक माना ।

पाठालोचन हेतु यह भी आवश्यक होता है कि प्राचीन पाण्डुलिपियों एवम् हस्तलेखों का अवलोकन समग्रता से किया जाय । श्री मिश्रजी ने ग्रंथ सम्पादन के क्रम में इन सब की सहायता ली है । पाठालोचन का कार्य आधारभूत सामग्री अथवा आलेखों पर अवलम्बित होता है, जिसकी कसौटी पर रखकर सही पाठ की

परख होती है, तभी उसकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है । वस्तुतः प्राचीन प्रति को आधार बनाने के पीछे मुख्य बात यह रही कि प्राचीन समय में छापाखानों का अभाव रहा, रचनाकार की मूल रचना की प्रतिलिपि उसके शिष्यों या अनुयायियों के द्वारा संकलित की जाती रही। बाद में राजा-महराजा या रईस व्यक्ति द्वारा प्रभूत धन व्यय कर विद्वानों के द्वारा अपनी रुचि के ग्रंथों की प्रतिलिपि अपने उपयोग के लिए करवाये जाते रहे । ध्यातव्य हो कि इस दौरान प्रतिलिपि कर्त्ता अगर बहुत सर्तक या समझदार नहीं है तब अज्ञानतावश अथवा प्रमादवश अशुद्धि की गुंजाइश बनी रहती है । अतः कालान्तर में वही अशुद्ध पाठ प्रचलित होकर जन सामान्य में फैल जाता है । यहाँ अब पाठालोचक का दायित्व बनता है कि वह विभिन्न प्राचीन एवम् नवीन प्रतियों के साक्ष्य के माध्यम से सही पाठ का निर्धारण करे ।

आचार्य श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने पाठालोचन के क्रम में प्राचीन हस्तलेखों एवम् पाण्डुलिपियों के अवगाहन को आवश्यक समझा । जिसे इन्होंने अपने कई सम्पादित पुस्तकों की सम्पादकीय, आरंभ वचन अथवा, आत्म-निवेदन में स्वीकार किया है तथा उन महानुभावों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की, है जिन्होंने इस कार्य में उनकी अंशतः अथवा पूर्णतः मदद की । उदाहरण के तौर पर हम भूषण ग्रंथावली, गंगालहरी, रामचरितमानस (काशीराज) संस्करण आदि में देख सकते हैं, जहाँ इनकी स्वीकारोक्ति स्वयं इनके शब्दों में वर्णित है । भूषण ग्रंथावली के आरंभ-वचन में ये कहते हैं कि - "प्रकीर्णक का संग्रह अनेक प्राचीन हस्तलेखों और पत्रिकाओं से किया गया है ।"[11] उन्होंने अपनी बात को और भी स्पष्ट करते हुए कहा - "मेरे प्रिय शिष्य श्री लक्ष्मीशंकर व्यास ने श्री चुन्नीलाल जी के संग्रह से संवत् 1918 वाला 'शिवभूषण' का हस्तलेख ला दिया । फलतः भूषण पर नए सिरे से विचार करने की आवश्यकता पड़ी और उसी का परिणाम भूषण की प्रस्तुत समीक्षा का लेखन और उनकी काव्यकृति

का चूर्णिका-चिर्चित संपादन है ।"[12] इसी प्रकार इन्होंने 'गंगालहरी' पुस्तक के सम्पादन के अनन्तर जिन हस्तलेखों को आधार बनाया एवम् पुस्तक की संपूर्णता में सहायता ली उसके प्रति श्री मिश्रजी ने अपनी कृतज्ञता 'गंगालहरी' पुस्तक के 'वक्तव्य' में अभिव्यक्त करते हुए कहा कि - "इसके प्रस्तुत रूप में जिन ग्रंथों और हस्तलेखों का आधार लिया गया है उनके कर्ताओं और स्वामियों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।"[13] उन्होंने 'रामचरितमानस' काशीराज संस्करण के सम्पादन के पूर्व मानस के प्राचीन हस्तलेखों एवम् पाण्डुलिपियों का विधिवत् आलोडन किया जिसे इन्होंने मानस के आत्मनिवेदन में स्पष्ट किया है । ये कहते हैं कि - "तीन महीनें महाराज के पुस्तकालय में सुरक्षित मानस के हस्तलेखों, विविध प्रकाशन-संस्थाओं, संपादकों द्वारा प्रकाशित-संपादित मानस के पाठानुसंधायी विशिष्ट मुद्रित संस्करणों का शिष्यमंडल की सहायता से आलोड़न करता रहा ।"[14] कहने की आवश्यकता नहीं कि पाठालोचन के क्रम में प्रत्येक पाठ की सूक्ष्मता से परख करनी होती है, जिसके लिए प्राचीन-से-प्राचीन पाण्डुलिपियों, हस्तेलेखों आदि से निर्धारित पाठ का मिलान करना होता है । इस मिलन के क्रम में भी अक्षरों की बनावट आदि का भी ध्यान रखना होता है ।

पाठालोचन जैसे सूक्ष्म एवम् कठिन कार्य हेतु संपादक को किसी निर्णय पर पहुँचने के लिए कुछ आधार ग्रंथों की भी सहायता लेनी पड़ती है । श्री मिश्र जी ने मानस के काशीराज संस्करण के सम्पादन के क्रम में तैयार किए गए "क्रोड़पत्रीय में जिन प्रतियों को आधार बनाया गया उनका नामोल्लेख यों किया गया है --

		संक्षिप्त नाम
1.	अनंत श्री चरण हस्ताक्षर की पोथी	अ.
2.	रामायण परिचर्चा	रा. प.

3.	बनवारी दास महंथ श्री गोसाईं जी के पोथी 1704 साल की	ब.
4.	जमादार चिथरू सिंह	ज.
5.	चित्ररामायण	चित्र., चि.
6.	केदार तेवारी जी की लिखी एक जिल्द में	के.
7.	गुटिका	गु.
8.	पंडित रामगुलाम जी के पाठ की	पं.
9.	महंथ रामचरण दास की टीका की	म
10.	भाई संत सिंह ज्ञानी के टीका की	भा.
11.	राजा गोपाल सरण सिंह	रा.
12.	मानस दीपिका	मा.
13.	गिरधारी तेवारी के हाथ की लिखी	गि.
14.	चौधरी इंद्रदत्त सिंह जी की पोथी	चौ.
15.	खेदूलाल की पोथी 1771 साल की	खे.

'अ. से तात्पर्य काष्ठजिह्वा स्वामी के स्वाक्षरों में लिखी पोथी से है ।''[15] वस्तुतः एक से अधिक आधार ग्रंथो का उपयोग संपादक बहुधा पाठ भेद एवम् पाठान्तर के निराकरण के लिए करता है जैसा कि यहाँ भी किया गया है ।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि पाठालोचक जिन हस्तलेखों का संग्रह करता है अथवा उसका आलोडन करता है उसमें वह यह भी देखता है कि हस्तलेख में किस प्रकार के कागज अथवा पन्ने का उपयोग किया गया है ? क्या कोई पन्ना उस हस्तलेख में नवीन भी है ? अगर कोई पन्ना हस्तलेख में नवीन है, तो इसका आशय यह होता है कि वह पन्ना अथवा विशेष कागज बाद में जोड़ा गया है । इस

आशय का उल्लेख श्री मिश्रजी ने अपने मानस के आत्मनिवेदन में किया है । क्योंकि मानस के संपादन के क्रम में जितने भी हस्तलेख उपलब्ध हुए, उनमें प्रति संख्या 1704 जो बनबारी दास महंथ श्री गोसाईंजी के मंदिर की पोथी थी तथा जिसके रचयिता की पहचान श्री रघु तिवारी के रूप में हुई, के सम्बन्ध में इन्होंने कहा कि- "हस्तलेख में कुछ मूल पन्ने नहीं हैं । बालकांड में पत्र संख्या - 1, 52-66, 108, 142-175, 180, 184, 190, 204, 215-219 सब मिलाकर 55 पन्ने नये हैं, लंका कांड का आरम्भिक पन्ना मात्र नवीन है । उत्तर कांड में प्रारम्भिक पन्ना और अंत में 43-62 पन्नें नवीन हैं । इस प्रकार 673 पन्नों में 87 पन्ने नवीन हैं ।"[16] स्पष्ट है कि इन्होंने पन्नों की स्थिति के आधार पर उपलब्ध हस्तलेखों व पाण्डुलिपियों की प्रामाणिकता को पहचानने में सहायता ली ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पाठालोचन के प्रमुख आधारों में कवि या रचनाकार का पूर्ण विवरण, ऐतिहासिक सामग्री का पुनरावलोकन, प्राचीन पाण्डुलिपियों का अवलोकन तथा आधार-ग्रंथों की सहायता परम आवश्यक है ।

3. क i पाठालोचन का क्षेत्र एवम् सीमाएँ :

पाठालोचन के निमित जो क्षेत्र निर्धारित हैं, उन्हीं क्षेत्रों में उसकी सीमा भी निहित होती है, जहाँ पाठालोचक किसी खास पाठ को स्वीकारने के लिए बाध्य हो जाता है । मिश्रजी के सम्मुख पाठालोचन के क्रम में इस प्रकार के जो पाठ आये उन्हीं में से कुछ उदारहण हम आपके समक्ष रखेंगे । उदाहरणतः भूषण ग्रंथावली के पाठालोचन के क्रम में एक स्थान पर श्री मिश्रजी ने शिव सिंहजी द्वारा दिए गये वक्तव्य को प्रश्नवाचक चिह्न से अभिव्यक्त करते हुए लिखा है कि - "इनके बनाए हुए ग्रंथ शिव राज भूषण, भूषण-हजारा, भूषण उल्लास, दूषण उल्लास ये चार सुने जाते हैं। फिर यह 1738 इन्होंने किस अटकल से लिखा ? शंभुनाथ सुलंकी और मतिराम को

इन्होंने मित्र लिखा है और दोनों के विवरण में संवत् 1738 है । भूषण और मतिराम भाई थे, अतः मतिराम को 1738 संवत् में यहाँ भी रख दिया गया ।''[17] जाहिर है कि जिन सूचनाओं के आलोडन-विलोडन की संभावना पाठालोचक को नहीं संभव दीखती, वैसी ही सूचनाओं को हू-ब-हू स्वीकारना पड़ता है, पर सजग पाठालोचक इतना अवश्य करता है कि वैसे स्थलों को प्रश्नसूचक शब्दों से सम्बोधित करता है । फिर भी जो सूचनाएँ उपलब्ध रहती हैं उन्हीं को समय-सापेक्ष आधार बनाकर पाठालोचक अपनी बात कहता है । इसके अतिरिक्त पाठ विशेष की भाषा के वास्तविक ज्ञान के आभाव में भी पाठालोचक दावे के साथ कुछ कहने में असमर्थ होता है । जिस प्रकार ''भारतीय साहित्य के विवेचन के लिए तमिल संस्कृति की जानकारी आवश्यक है । इसी तरह तमिल संस्कृति के विवेचन के लिए उत्तर भारत की संस्कृति का ज्ञान आवश्यक है ।''[18] मिश्रजी ने बोधा ग्रंथावली के सम्पादकीय में एक स्थान पर स्वीकारा है कि उन्हें बुंदेलखंड में प्रचलित भाषा के प्रयोग की वैसी जानकारी नहीं रही जैसी होनी चाहिये । वे लिखते हैं कि - ''बोधा के समय के कई प्रयोग अब उठ चुके हैं । इसलिए हो सकता है कि अर्थ कहीं क्वाचित् ठीक-सही न भी हो ।''[19] इस तरह के अन्य उदाहरण मानस में भी कुछेक स्थलों पर मिलते हैं । मानस के आत्मनिवेदन में एक स्थान पर इन्होंने लिखा है कि- ''मुद्रित 'परि' में कई स्थलों पर पाठ 1704 से मेल नहीं भी खाता । इसलिए मतभेद के लिए किंचित अवकाश देख चौधुरी साहब के प्रीत्यर्थ 'परि' की आधारभूत प्रति को 1700 का ही मानकर उसे इस संस्करण में 1704 वाली प्रति में गतार्थ नहीं किया गया है । यों स्पष्ट है कि 'अ.' 1700 से पूर्व की लिखित किसी प्रति की अनुलिपि नहीं है ।''[20] यहाँ पुष्ट प्रमाण के अभाव में इस बात की पुष्टि सभी दृष्टिकोण से नहीं हो सकी कि 1704 वाली प्रति ही 1700 की प्रति है । ऐसा भी देखा गया है कि कुछ स्थानों पर पाठालोचक अनुमान का भी सहारा

लेता है । मानस के एक स्थान पर श्री मिश्रजी लिखते हैं कि - ''मेघा भगत के लिए मानस की अनुलिपि अवश्य कराई गई होगी । अनुमान से यह अनुलिप कैथी में हुई होगी । भगत जी के लिए वही लिपि अधिक सुवाच्च रही होगी । तुलसीदास की निजी प्रति नागरी लिपि की थी, यह निःसंदिग्ध है । इस प्रकार लेखक के जीवन काल में ही मानस के दो प्राचीनतम हस्तलेख हो गये होंगे ।''[21] यहाँ संपादक मिश्रजी ने अनुमान के आधार पर ही अपनी बातें कही हैं क्योंकि वो मानते हैं कि आगे चलकर कैथी लिपि एवम् नागरी लिपि का सांकर्य हो गया, जिसने कई महत्वपूर्ण पाठान्तरों को जन्म दिया । शायद इस अटकल के आधार पर उन्होंने कहा कि मेघा भगत के मानस की अनुलिपि कैथी में हुई होगी ।

स्पष्ट है कि पाठालोचन की भी सीमा है खास कर वैसी स्थिति में जब किसी खास तथ्य की सूचनाओं के आलोडन-विलोडन की संभावना नहीं दिखती हो या फिर पुष्ट प्रमाण का अभाव हो अथवा पाठ विशेष की भाषा के वास्तविक ज्ञान का अभाव हो तो पाठालोचक दावे के साथ कुछ कहने में असमर्थ होता है ।

3. **ख पाठानुसंधान का आधार :**

पाठालोचन का कार्य जहाँ समाप्त होता है वहीं से पाठानुसंधान का कार्यारम्भ होता है । दोनों में अन्योन्याश्रय संबंध होता है । वस्तुतः पाठालोचन एवम् पाठानुसंधान एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । पाठानुसंधान भी दो शब्दों के मेल से बना है -- एक है 'पाठ' तथा दूसरा है 'अनुसंधान' । कोई भी पाठ उचित है या नहीं इसकी पुष्टि के लिए अनुसंधान का सहारा लिया जाता है ताकि पाठ की प्रामाणिकता एवम् श्रेष्ठता की सिद्धि की जा सके ।

यह देखा गया है कि समय बीतने के साथ-साथ प्राचीन साहित्य-ग्रंथों

के पाठों में विभिन्न श्रोतों से क्षेपक आते गये । ये क्षेपक अक्सर भूल या गलती के कारण आए । परन्तु कभी-कभी प्रतिलिपिकर्त्ता के प्रमाद अथवा अज्ञानतावश भी अशुद्ध पाठ का संकलन हो जाया करता है । इन अशुद्ध पाठों के निराकरण हेतु पाठानुसंधान के विभिन्न उपादानों के आधार पर पाठ संपादन का कार्य किया जाता है ।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने पाठानुसंधान के निमित कुछ आधार निश्चित किए, उन आधारों में से प्रमुखतः अक्षरों की बनावट, वर्तनी के प्रयोग, शब्द के उच्चारण तथा व्याकरणिक शुद्धता आदि तथ्यों को सम्मिलित किए जा सकते हैं । इसके अतिरिक्त पाठान्तर भी पाठानुसंधान के आवश्यक आधार माने जाते हैं । मिश्रजी का मानना है कि- "कुछ पाठान्तर जान-बूझकर किए जाते हैं, कुछ अनजाने हो जाते हैं । अधिकतर पाठांतर प्रमाद-जन्य होते हैं । पाठांतर के हेतु का बड़ा विस्तार है । थोड़े में उसकी रूपरेखा इस प्रकार खींचीं जा सकती है -

पाठान्तर हेतु

↓ ↓

चेष्टित (ज्ञात भाव) → ↓ **शोधजन्य**

अचेष्टित (अज्ञात भाव) → ↓ प्रमादजन्य

↓ ↓ ↓ ↓ ↓ ↓ ↓ ↓

अज्ञान सुधार संप्रदाय देश-भेद लेख्य लेखन लिखक श्रवण"[22]

ऊपर वर्णित वर्गीकरण पाठ में बहुधा होने वाले अन्तर के स्वाभाविक कारणों का प्रस्तुतिकरण है । इस वर्गीकरण में यह देखा जा सकता है कि पाठान्तर ज्ञात-अज्ञात दोनों भावों में बनी रहती है, जहाँ एक ओर लेखक के प्रमादवश लेखन

से इसकी उत्पत्ति की सम्भावना बनती है वहीं शोध-जन्य कारण भी कम उत्तरदायित्व नहीं होते।

पाठानुसंधान के लिए यह आवश्यक है कि अनुसंधानकर्ता को व्याकरण की समुचित जानकारी होनी चाहिये । कौन सी मात्रा किसी शब्द में कहॉ लगनी चाहिये और कहाँ नहीं लगनी चाहिये इस बात को आधिकार के साथ वही बता सकता है, जिसके पास व्याकरणिक ज्ञान हो । मिश्रजी ने मानस के सम्पादन के क्रम में इस बात का उल्लेख एक उदाहरण के माध्यम से किया है । वे कहते हैं कि - ''पंचनामा के 'दशरथहिं' में आनुनासिकता बतलाती है कि तुलसीदास की वर्तनी व्याकरण संमत प्राचीन रूपों के पक्ष में है । चन्द्रबिंदु उन्होंने पहले 'थ' पर लगाया, जो तत्वतः 'थ' पर लगाने के लिए नहीं था, मात्रा पर ही लगाने के लिए था ।''[23] व्याकरणिक ज्ञान से हम वर्तनी के अशुद्ध प्रयोग, वाक्य-रचना, शब्द प्रयोग आदि को समझ सकते हैं । शब्द की बनावट, शब्द के प्रयोग एवम् उसके उच्चारण आदि का भी समुचित ध्यान पाठ के अनुसंधान के क्रम में रखा जाता है । बहुत शब्द मिलते-जुलते होते हैं, जिस पर लोगों का ध्यान कम जाता है, पर एक सर्तक पाठानुसंधित्सु को चाहिये कि वह पाठ में आये ऐसे शब्दों का खुला एवम् साफ विश्लेषण करे ताकि प्रबुद्ध पाठकों को भी शब्द की पकड़ हो सके । मिश्रजी ने मानस के आत्मनिवेदन में एक स्थान पर एक शब्द को उदाहरण के तौर पर विवेचित किया है। वे कहते हैं कि - ''आयोध्याकांड के 115 वें दोहे में 'अयन-नयन' है, पर तुकांत के अनुरोध से 'ऐन-नैन' होना चाहिये । यहाँ 'अयन, नयन' के उच्चारण का रूप बताने के लिए कर्ता ने तथा हस्तलेखों में ऐसा लिखा है ।''[24] अपनी बात को और भी स्पष्ट करते हुए, साथ-ही मात्रा के प्रयोग एवम् उसके उच्चारण की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि रामचरितमानस, काशीराज संस्करण ''में मूर्धन्य 'ष' का ग्रहण 'ख' उच्चारण के

लिए है । पर 'ष' है । पुरानी हिन्दी में तालव्य 'श' नहीं है । मूर्धन्य 'ष' भी नहीं है।''[25]

अक्षरों की लेखन-शैली के साथ-साथ भाषा प्रयोग दक्षता Communicative competence का भी ज्ञान होना''26 अनुसंधान के उपादानों में से एक है । पाण्डुलिपि में अगर अक्षरों की बनावट में फर्क दिखती है तो पाठालोचक उसका गम्भीरता पूर्वक अध्ययन करता है । वह यह जानना चाहता है कि पाण्डुलिपि में आये मूल अक्षर से यह किस प्रकार भिन्न है अथवा किन कारणों से भिन्न है । यह भी जानने का प्रयास किया जाता है कि कहीं यह बाद में तो नहीं जोड़ा गया है, आदि । उन्होंने मानस में एक उदाहरण के माध्यम से अपनी बात को साफ एवम् स्पष्ट करने की कोशिश की है । वे लिखते हैं कि - ''तुलसीदास का प्रिय सिरनामा 'श्री जानकी' बल्लभो विजयते' भी यहाँ दर्शनीय है । उन्होंने वाल्मीकीय रामायण की प्रतिलिपि की थी प्रवाद ही प्रवाद है । सरस्वती भवन (वाराणरसेय संस्कृत विश्वविद्यालय) वाले हस्तलेख की पुष्पिका एक तो मूल के अक्षरों से भिन्न है ।''[27]

प्राचीन भाषाओं का समुचित ज्ञान पाण्डुलिपियों के अध्ययन-मनन में आवश्यक होता है, अर्थात् पाठानुसंधान कर्त्ता को प्राचीन भाषाओं का समुचित ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि अलग-अलग भाषाओं की प्रतिलिपियों के अर्थ को जानने के लिए यह आवश्यक है कि अनुसंधानकर्त्ता अत्यधिक सर्तक एवम् भाषा-वैज्ञानिक हो । मानस (काशीराज संस्करण) के संपादन के क्रम में उन्हें कैथी-लिपि में लिखे मानस के हस्तलेख मिले, जिसका उल्लेख उन्होंने आत्मनिवेदन में किया है । वे लिखते हैं कि- ''कैथी लिपि में मानस का इतना शुद्ध दूसरा हस्तलेख देखने में नहीं आया । मानस के पाठ-शोध के लिए कैथी के प्राचीनतम हस्तलेखों का उपयोग अनिवार्य प्रतीत होता है । मानस के जितने पाठानुसंधायी संस्करण प्रकाशित हुए हैं किसी में कैथी के प्राचीन या

परवर्त्ती हस्तलेख को आधार रूप में स्वीकृत नहीं किया गया है ।"[28] भाषा के साथ-साथ लिपि भी पाठानुसंधान के आवश्यक आधार माने जाते है ।

माना जाता है कि सन् संवत भी पाठानुसंधान के आधार हैं । एक सफल पाठानुसंधित्सु को चाहिये कि वह सन्-संवत में प्रयुक्त संख्याओं की बनावट का ख्याल रखे । मिश्रजी ने पाठकों का ध्यान इस ओर भी आकृष्ट करने का प्रयास किया है । इन्होंने मानस के आत्मनिवेदन में इस बात को एक उदाहरण के माध्यम से और भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है । ये लिखते हैं कि - "श्रवणकुंज अयोध्या में सुरक्षित मानस के प्रथम सोपान की प्रति यद्धपि सं. 1661 की कही जाती है तथापि जाँच से वह 1691 की ठहरती है । इसमें '9' के नीचे कटोरी लगाकर '6' बनाया गया है और '16' के निछत्र '6' को सछत्र किया गया है । उसी हस्तलेख में छत्र धारी '6' कहीं लिखित नहीं है ।"[29] इस तरह के भ्रम की स्थिति से मिश्रजी विद्वानों एवम् पाठकों को सर्तक करते हैं, क्योंकि पाठानुसंधान के क्रम में दिए गये सन-संवत् की तहकीकात आवश्यक होती है अन्यथा त्रुटि की संभावना बनी रहेगी । कुछ इसी प्रकार की स्थित इन्होंने भूषण ग्रंथावली के आरंभ वचन में बतायी है । ये लिखते हैं कि -- "अब 'शिवसिंह सरोज' में दिए जन्मकाल को देखिए । हिन्दी के ऐतिहासिकों को 'शिवसिंह सरोज' से बहुत धोखा हुआ है । यहाँ इतना ही कह देना प्रर्याप्त है कि उसमें कवियों का कविताकाल दिया गया है, जन्मकाल नहीं ।"[30]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पाठानुसंधान के क्रम में पाठानुसंधित्सु को एक भाषा वैज्ञानिक की भाँति पाठ में निहित अक्षरों की लिखावट, उसकी भाषा, लिपि तथा पाठ में आए सन्-संवत् के लेखन में प्रयुक्त वर्तनी का भी समुचित अवलोकन करना चाहिए।

3. ख. i पाठानुसंधान का क्षेत्र एवम् सीमाएँ :

क्षेत्र-विशेष में अनुसंधान की भी एक सीमा होती है, जिसके इतर कोई भी अनुसंधानकर्त्ता सीमाओं से परे अनुसंधानिक कार्यक्रम को आगे नहीं ले एकता । इसके पीछे कारण अनुपलब्ध सामग्रियाँ ही होती हैं, जिसकी कमी के कारण हमें निश्चित सीमा तक जाकर संतोष करना पड़ता है । अनुसंधानकर्त्ता की यह पूरी कोशिश रहती है कि वह अधिक-से-अधिक विश्वसनीय तथ्य विद्वानों एवम् पाठकों के सामने रख सकें । पर जब साधन ही सीमित पड़ जायें तब वैसी स्थिति में पूर्व के विद्वानों के दिये आधारों को ही मान्य मान लिया जाता है । आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने अपने पाठानुसंधान के क्रम में कई ऐसे स्थलों का उल्लेख अपने विभिन्न संपादित ग्रंथों में किया है जो अनुसंधान की सीमा को दर्शाते हैं ।

इन्होंने भूषण ग्रंथावली के आरंभ वचन के एक स्थान पर यह उल्लेख किया है कि अनुसंधानकर्त्ता पाठानुसंधान के क्रम में आवश्यक सुधार करना पड़ता है, पर कहीं-कहीं ऐसे भी स्थल पाठानुसंधान के क्रम में मिलते हैं, जिसे ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेना पड़ा है । वे लिखते हैं कि - ''शिव भूषण का पाठ और रूप सं. 1818 वाले हस्तलेख के अनुसार रखा गया है । अन्य हस्तलिखित प्रतियों के पाठांतर पादटिप्पणी में दिए गए हैं । जहाँ लेखक का प्रमाद जान पड़ा वहीं परिवर्त्तन किया गया। फिर भी कुछ ऐसे स्थल हैं जिन्हें ज्यों का त्यों रखा गया, भ्रम की संभावना होने पर भी, जैसे लटानुप्रास के उदाहरण 'औरन के जाँचे' प्रतीकवाले दोहे को ।''[31] भ्रम की स्थिति में जहाँ और अनुसंधान की गुंजाइस नहीं दिखती, वैसी स्थिति में संपादक उपलब्ध रचनात्मक अंश को ज्यों का त्यों रख देता है, क्योंकि बिना किसी उपलब्ध तथ्य के उस रचनात्मक अंश में परिवर्त्तन करना उचित नहीं होता ।

जब सम्पादक कोई बात अधिकार के साथ कहता है तो वह उसकी

कारयित्री प्रतिभा को दर्शाता है, पर जब किसी खास क्षेत्र से सम्बन्धित अन्तिम सत्य को कहने से परहेज करता है तो वह उसकी सीमा मानी जाती है । मिश्रजी ने डंके की चोट पर यह तो कह दिया कि 'रामचरितमानस' काशीराज संस्करण मानस के किसी भी प्राचीनतम प्रति की कसौटी है, पर साथ-ही इस बात से भी इन्कार नहीं किया कि मानस के इस संस्करण के लिए भी कसौटी की आवश्यकता है । इस बात का उल्लेख इन्होंने रामचरितमान के आत्मनिवेदन, में इस प्रकर किया है - ''सब कुछ होते भी यह कहने में कोई संकोच नहीं कि इस प्रति के पाठ अन्य स्थलों पर अधिकारपूर्ण विश्वसनीय हैं । मानस की कोई प्रति प्राचीनतम है या नहीं इसके लिए यह प्रति कसौटी है पर स्वयम् इस प्रति के लिए भी कसौटी अपेक्षित है ।''[32] निश्चित रूप से कोई भी पाठ प्रामाणिक है इस बात की पुष्टि मूल पाठ के उपलब्ध रहने पर ही संभव है । अन्य स्थानों पर हम सम्पादक की असमर्थता देख सकते हैं जहाँ वह अपने तरफ से बलपूर्वक कुछ कह नहीं पाता है । मिश्रजी ने मानस के पाठानुसंधान के क्रम में एक स्थान पर एक पाठ की पुष्टि हेतु प्रमाण का अभाव पाया, जिसका उल्लेख उन्होंने मानस के आत्मनिवेदन में किया है । जो इस प्रकार है -- ''राजा के मंगलाचरण में 'शंकर प्रार्थना' के आदि में 'यस्यांके' एकल पाठ है । अन्यत्र सर्वत्र 'वामांके' है । ऐसा परिवर्त्तन प्राचीन प्रतियों को मान्य करते हुए तुलसीदास कृत माना जा सकता है । पर पुष्ट प्रमाण के अभाव में बलपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।''[33] कहीं-कहीं यह भी देखा गया है कि सम्पादक अथवा लेखक पुष्ट प्रमाण के अभाव में अटकल से भी लिख दिया करते हैं । मिश्रजी ने अपने भूषण ग्रंथावली के आरंभ वचन में शिवसिंह जी द्वारा भूमिका में दिए वक्तव्य को स्थान दिया है । ये लिखते हैं कि -- ''स्वयम् शिवसिंह जी ने अपनी भूमिका में स्पष्ट लिखा है -- 'फिर कवियों का एक सूची पत्र बनाकर, उनके ग्रंथ, उनके विद्यमान होने के सन-संवत और उनके

जीवन-चरित्र जहाँ तक प्रकट हुए लिखे ।' ये सन-संवत् लिए कहाँ से गए इसका भी उल्लेख है -- 'जिन कवियों के ग्रंथ मैंने पाए उनके सन्-संवत् बहुत ठीक-ठीक लिखे और जिनके ग्रंथ नहीं मिले उनके सन्-संवत् हमने अटकल से लिख दिया है ।''[34]

कुल मिलाकार हम कह सकते हैं कि पाठानुसंधान के क्रम में अनुसंधानकर्त्ता के सम्मुख ऐसे स्थल अवश्य आते हैं जहाँ पर अनुसंधान की और अधिक गुंजाइश नहीं रह जाती है । ऐसी स्थिति में अनुसंधानकर्त्ता को पूरी तरह सर्तक रहना पड़ता है और प्रमाण के अभाव में पूर्व निर्धारित तथ्य को ही स्वीकार करना पड़ता है । हलाँकि ऐसे स्थल कम मिलते हैं पर मिलते अवश्य हैं, क्योंकि मूल प्रतिलिपि का अभाव इसका मुख्य कारण है ।

3. ग. सम्बन्धित कृतियों का अध्ययन

3. ग. i पाठालोचन की दृष्टि से :

प्राचीन ग्रंथों के प्रामाणिक पाठों के निर्धारण अर्थात् पाठालोचन एवम् पाठानुसंधान में मिश्रजी ने अपने जीवन के सर्वाधिक बहुमूल्य समय उत्सर्ग किए । मिश्रजी स्वंय कहते हैं कि यह कार्य बहुत ही श्रमसाध्य कार्य होता है इसमें बहुत ही धैर्य की आवश्यकता पड़ती है । वस्तुतः पाठालोचन के दौरान इस बात का ध्यान रखा जाता है कि जिस पाठ का वर्णन किया जा रहा है वह उपयुक्त है या नहीं या फिर जो पाठ मिले हैं वे उपयुक्त या प्रामाणिक हैं या नहीं । यहाँ हम मिश्रजी द्वारा सम्पादित कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथों का अध्ययन पाठालोचन की दृष्टि से करेंगे ।

सबसे पहले हम 'रामचरितमानस काशीराज संस्करण' में निहित महत्वपूर्ण तथ्यों का विश्लेषण करेंगे जो मिश्रजी द्वारा संपादित ग्रंथों में महत्वपूर्ण ग्रंथ मानी जाती है । वस्तुतः पाठालोचन की आवश्यकता वहाँ पड़ती है जहाँ उपलब्ध पाठों में अन्तर हो । मिश्रजी कहते हैं कि 'रामचरितमानस काशीराज संस्करण' के सम्पादन

की आवश्यकता इसलिए पड़ी क्योंकि पूर्व में जो भी ग्रंथ 'रामचरिचतमानस' से सम्बन्धित उपलब्ध थे सबों के पाठों में अन्तर देखा गया । "कवि के ही जीवन काल में इसके रूपान्तरण के अनेक साक्ष्य मिलते हैं ।"[35] ये कहते हैं कि परम्परा से रामनगर काशी में काशीराज की देख-रेख में जो रामलीला का आयोजन हुआ करता था उसमें मानस का पाठ प्रारंभिक रूप से किये जाने की परम्परा रही है । "लीला में पाठकर्त्ताओं के अतिरिक्त व्यास भी होते हैं । पाठ कर्त्ताओं के सम्मुख मानस की जो प्रति रहती है, व्यासों के पास उसकी जो पारंपरिक हस्तलिखित प्रति होती है तथा काशिराज के समक्ष जो उक्त प्रति रहती है सबमें पाठों की एकरूपता न होने से महाराज के मानस में मानस के पाठैक्य का संकल्प जगा ।"[36]

मिश्रजी ने 'रामचरितमानस काशीराज संस्करण' में पाठों की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए कुछ माणदण्ड निर्धारित किए जिसमें यह "निश्चय हुआ कि यथाशक्य 1785 के पूर्ववर्ती हस्तलेखों का ही उपयोग हो । छूट केवल प्राचीन परंपरा सूचक प्रतियों को ही दी जाय । साथ ही कैथी की इसी सीमा के अंतर्गत की प्रतियों का भी अवश्य विनियोग हो । स्थूल रूप में मानसप्रणेता के अवसानकाल के अनंतर एक शतक तक के उत्तरवर्ती हस्तलेखों का नियोजन हो और मानस के सर्जनकाल 1631 से 1785 तक संभव हो तो प्रत्येक दशक का एक हस्तलेख अवश्य हो ।"[37] इन्होंने यथासंभव निर्धारित प्रत्येक दशक के महत्वपूर्ण हस्तलेखों का संकलन किया ताकि प्रामाणिक पाठों का सही-सही निर्धारण हो सके । इस आशय का उल्लेख मिश्रजी ने अपने ग्रंथ में एक स्थान पर इस प्रकार किया है । ये लिखते हैं कि -- "अठारहवीं शदी के प्रथम एवम् द्वितीय दशक के दो (1704 वाले और 1714 की परंपरा वाले) महत्वपूर्ण हस्तलेखों का उल्लेख पहले किया जा चुका है । तृतीय दशक का महत्वपूर्ण हस्तलेख सं. 1721 का है, जो भारत कला भवन

(काशी विश्वविद्यालय) में आरक्षित है । इसका उपयोग नागरी प्रचारिणी सभा (वाराणसी) से प्रकाशित और श्री शंभु नारायण चौबे द्वारा संपादित संस्करण में भरपूर किया गया है । हस्तलेख संप्रति अयोध्या काण्ड विरहित है । अतः चौबे जी ने इसके संपूर्ण रूप की अनुलिपि (सं. 1762) का उपयोग किया है । बहुत प्रयास करने पर भी तीसरे दशक का कोई हस्तलेख नहीं प्राप्त हो सका और भारत कला भवन से भी उक्त प्रति 'निष्क्रमणं निषिद्धं' से संपादनार्थ अनुपलब्ध ही रही । चतुर्थ दशक (1737) की प्रति राजस्थान पुरातत्व मंदिर (जोधपुर) की है और उत्तरकाण्ड मात्र है । पंचम दशक की विशिष्ट प्रति की पुष्पिका यों है - 'संवत् 1743 वैशाष शुक्ले द्वादशी बालगोविंद सम्मेनेन निज तनय रामनारायनस्य पठनार्थ षडमासेन संपूर्ण लिखितमिति ।''[38] इसी प्रकार षष्ठ दशक की प्रतियों, सप्तम दशक की कई प्रतियों, अष्टम दशक की छः प्रतियों एवम् नवम् दशक की एक प्रति जो कैथी लिपि में उपलब्ध हो पाई उसका उल्लेख मिश्रजी ने किया है । इसके साथ ही वे स्पष्ट करते हैं कि -- ''कर्ता के साकेतवास से लगभग एक सौ वर्ष पश्चात् तक के हस्तलेखों को लक्ष्य किया गया है। तीन आधारभूत प्रतियों को उनकी विशेषता के कारण ही परवर्ती होने पर भी गृहीत किया गया है । उन्हें अपवाद ही समझना चाहिए । मानस के लेखन से इस प्रकार लगभग डेढ़ सौ वर्ष की सीमा के हस्तलेखों की परम्परा इसमें आधार रूप में रखी गई है ।''[39]

हस्तलेखों में भी होने वाले पाठान्तरों पर अपनी पैनी दृष्टि रखते हुए मिश्रजी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कैथी-लिपि एवम् नागरी-लिपि के प्रयोग पहले से ही होते रहे और ''इन्हीं दोनों प्राचीन हस्तलेखों की परंपरा आगे चली । कैथी के हस्तलेखों पर से भी नागरी के हस्तलेख लिखे जाते थे और नागरी के हस्तलेखों पर से भी कैथी के हस्तलेख उतरते रहते थे । इससे दोनों लिपियों की वर्तनी का सांकर्य

हो गया । कैथी की वर्तनी ने कई महत्त्वपूर्ण पाठांतरों को जन्म दिया ।''[40] मिश्रजी कहते हैं कि मानस में कुछ शब्द ऐसे प्रयुक्त हुए हैं जिनकी मात्राओं का उच्चारण पूर्वी की सरणि के अनुरूप नहीं है - '' 'चलै' और 'चलइ' में रूप भेद है, उच्चारण भेद नहीं । पश्चिमी पद्धति से कौन और 'कवन' की भी ऐसी ही स्थिति है । 'कौन' का पूर्वी उच्चारण 'कउन' होगा । मानस में चाहे 'कौन' लिखा हो पढ़ना 'कवन' होगा।''[41]स्पष्ट है कि इन्होंने मानस में सही शब्दों के संकलन हेतु शब्दों के अर्थ उसकी भाषा एवम् शब्द-विशेष प्रयोग को ध्यान में रखा ।

मिश्रजी ने पाठालोचन के क्रम में इस बात का भी ध्यान रखा कि अगर उपलब्ध प्रति में नवीन पन्ने संलग्न हैं तो वहाँ पाठों का चयन किस प्रकार किया जाय। इसके लिए इन्होंने शेष उपलब्ध प्रतियों के आधार पर मूल पाठ के निर्धारण का प्रयास किया । इन्होंने एक स्थान पर इस बात का उल्लेख भी किया है कि -- ''बालकाण्ड में 'कुंज' और 'रघु' मुख्य आधार है । जहाँ इन दोनों में से किसी में नवीन पन्ने हैं वहाँ शेष प्रतियों के सहारे पाठ का चयन एक ही से किया गया है।''[42] पाठालोचक का यह भी प्रयास रहता है कि वैसे ही हस्तलेखों का उपयोग पाठालोचन के दौरान किए जायें जो मूल लेखक के समय के हों अथवा उसके आस-पास के समय के हों । मिश्रजी ने भी अपने ग्रंथ में इस प्रकार की चर्चा करते हुए लिखा है कि ''मानस के केवल पंचम सोपान (सुंदरकाण्ड) की हस्तलिखित प्रति दुलही (लखीमपुर) की सं. 1762 की है । इसका उपयोग गीता प्रेस वाले संस्करण में सर्वप्रथम किया गया है । तुलसीदास के जीवन काल का हस्तलेख होने से इसका महत्व निर्विवाद है।''[43] मिश्रजी यह भी कहते हैं कि आधुनिक संशोधित पाठों में भी त्रुटि देखने को मिलती है । एक अर्धाली में प्रयुक्त 'घंट बिराजी' पाठ पर विचार करते हुए ये कहते हैं कि -

''चले मत गज घंट बिराजी । मनहु सुभग सावन धनराजी ।।

इस अर्धाली में 'घंट बिराजी' व्याकरण विरुद्ध है । 'विराजी' क्रिया 'घंटि बिराजी' पाठ चाहती है । पर हाथी के गले में 'घंटी' ? किसी-किसी ने मात्राधिक्य का विचार न कर 'घंटा' पाठ भी धर दिया है । संशोधन के पूर्व से प्राचीनतम प्रतियों में 'धय' पाठ है । इसी 'धय' को न समझने के कारण 'घंट' संशोधन किया गया । उपरलिखित पाठ उक्त सभी अधुनातन संस्करणों में गृहीत है । यहाँ वास्तविकता क्या है उस पर दृष्टि जाते ही प्रकृत पाठ सामने आ जाता है । संशोधन के पूर्व 'कुंज' एवम् 'रघु' में 'धय' है । संशोधन के पूर्व का 'धय' पाठ तत्त्वतः लिखावट की त्रुटि है । मूल पाठ 'घटा' है ।''[44] आशय यह कि पाठालोचन के क्रम में पाठ में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द के ऊपर ध्यान दिया जाता है साथ ही प्रयुक्त शब्द के संभावित अर्थ पर विचार पाठ के बाकी शब्दों के आधार पर किया जाता है ताकि मूल पाठ तक पहुँचा जा सके । उपर के विवेचन से भी यही स्पष्ट होता है कि उक्त अर्धाली में 'घंट' शब्द के स्थान पर मूल पाठ 'घटा' होना चाहिये । एक अन्य स्थान पर मिश्र जी ने तुलसीदास द्वारा प्रयुक्त संस्कृत शब्द पर भी वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करते हुए लिखते हैं कि -- ''तुलसीदास द्वारा प्रयुक्त संस्कृत शब्दों को ठीक से न समझने से भी परिवर्त्तन किया गया है । पार्वती सप्तर्षियों से कहती हैं --

देखहु मुनि अबिबेकु हमारा । चाहिअ सहासिवहि भरतारा ।।

'शिव' का एक नाम 'सदाशिव' भी है । इस शब्द का प्रयोग मानस में अन्यत्र है -- विनती सुनहुँ सदासिव मोरी । 'सदा' शिव से पृथक् 'भरतारा' से संबद्ध हो गया । अतः अर्थ को सुस्पष्ट करने के लिए पाठभेद करके व्यत्यय कर दिया गया और नया पाठ हो गया - 'चाहिअ सिवहि सदा भरतारा' पूर्ण वैज्ञानिक सम्पादन ने यही पाठ ठीक माना है ।''[45]

वस्तुतः पाठालोचन के क्रम में यह भी देखा जाता है कि अमुख रचना

लेखक की है या नहीं । अगर वह नहीं है तो किस आधार पर उसे लेखक का नहीं माना जा रहा है और अगर वह लेखक की है तो उसके पीछे कौन-सा आधार है । अपने संपादित ग्रंथ 'गंगालहरी' की समीक्षा में मिश्रजी लिखते हैं कि -- ''जहाँ हृदय के उद्‌गार सहज रूप में व्यक्त हैं वहाँ काव्यात्मक अभिव्यक्ति प्रायः नहीं है । ऐसी रचना इनके वास्तविक कविरूप की बोधक नहीं है । उसका अन्य प्रकार का महत्त्व हो, पर अंतवृति का नैसर्गिक रूप उसमें नहीं । उसे देखते ही यह नहीं कह सकते कि वह पद्‌माकर की ही कृति है । इसी अभाव को देखकर 'ईश्वरपचीसी' को इनकी रचना मानने में कुछ सज्जन हिचकते हैं । तात्पर्य यह कि भक्ति की रचना में भी एक अंश ऐसा है जिसे इनके हृदय के अनारोपित प्रवाह से पृथक कह सकते हैं। पर इसी में इनकी ऐसी रचना भी है जिसे देखते ही कहना पड़ता है कि वह इन्हीं की है। ऐसी रचना 'प्रबोधपचासा' में तो थोड़ी है पर 'गंगालहरी' पूरी की पूरी कवि के इस रूप को प्रकट करती है ।''[46]

मिश्रजी परोक्ष रूप से यह भी कहना चाहते हैं कि 'पाठालोचन' कोई आसान काम नहीं होता और न ही सबों से होने वाला यह काम है । कारण यह है कि इसके लिए अन्य जानकारी के अलावे पाठालोचक को मुद्रण के भी सभी विभागों की जानकारी होनी चाहिए तभी सही-सही पाठ का निर्धारण पाठालोचक कर पाएगा । 'बोधा ग्रंथावली' की संपादकीय में मिश्रजी लिखते हैं कि - ''छापेखानों में जो अक्षरों के खानों और उनकी व्यवस्था तथा अक्षरयोजकों की योग्यता उनसे सामान्यतया होनेवाली भूलों से जो परिचित न हो वह प्राचीन हस्तलेखों की प्रतिलिपि के आधार पर मुद्रित किसी ग्रंथ में साधारणतया हो जाने वाली भूलों, त्रुटियों से कोई सुसंगत कल्पना मूल के विषय में कर ही नहीं पा सकता । मैं दैवदुर्विपाक से मुद्रण के सभी विभागों और उसके कारनामों से बहुत निकट से परिचित हूँ, इसलिए कह सकता हूँ कि इस मुद्रित

प्रति का अवलंबन करके जैसा कुछ मैंने संपादन कर दिया है वह कदाचित् कोई अन्य व्यक्ति न कर पाता ।''[47]

पाठालोचन के क्रम में इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि पाठ का निर्धारण परंपरा एवम् उपलब्ध हस्तलेखों तथा समस्त सामग्रियों के आधार पर ही किए जायें । साथ ही दोहे, चौपाई, सोरठा आदि के क्रम सही न हो तो उसे भी अनुक्रम में संयोजित करते चले । इस आशय का उल्लेख मिश्रजी ने अपने ग्रंथ 'बिहारी' में इस प्रकार किया है । इनके अनुसार - ''इसमें पाठ का निर्णय परम्परा और हस्तलेखों तथा समस्त उपलब्ध सामग्री के आधार पर किया गया है । 'शेष-संग्रह' में वे दोहे रखे गये हैं जो सतसैया की विभिन्न टीकाओं में मिलते हैं । पर 'बिहारी-रत्नाकर' में वे स्वीकृत नहीं हैं । सतसैया का कोई क्रम नहीं था, उसके 'दोहरे' 'विनहि अनुक्रम' चल रहे थे । समय-समय पर उसके अनुक्रम बाँधे गए ।''[48] वहीं ऐतिहासिक सामग्रियों के अवलोकन का जिक्र करते हुए ये कहते हैं कि-- ''समुचित ऐतिहासिक सामग्री का आलोड़न न कर सकने से प्रतिपक्ष को अपेक्षित प्रमाण नहीं दे पाते थे । अतः हमारे लिए सारी ऐतिहासिक सामग्री का पुनरावलोकन अनिवार्य हो गया ।''[49]

यहाँ हम देखते है कि मिश्रजी ने जिन ग्रंथों का सम्पादन किया उनमें पाठालोचन की आवश्यकता महसूस की गयी । पूर्व में 'रामचरितमानस' के जितने भी पाठ थे सबों में अन्तर देखा गया । इसके लिए उन्होंने कुछ आधार निश्चित किए तथा उन आधारों के आलोक में सम्भावित प्रामाणिक पाठ के सम्पादन का प्रयास इन्होंने किया, जिसके तहत पाठ में सही शब्दों के संकलन हेतु शब्दों के अर्थ पर विचार, पाठ में नवीन पन्ने हों तो वास्तविक पाठ का चयन किस प्रकार किए जाए, खास रचना

लेखक की है या नहीं, तथा मुद्रण के सभी विभागों की समयक् जानकारी को भी इन्होंने ध्यान में रखा ।

3 ग. II. पाठानुसंधान की दृष्टि से :

मिश्रजी ने पाठ के अनुसंधान में अत्यधिक श्रम किया, खास कर जिन प्राचीन ग्रंथों का इन्होंने सम्पादन किया वे पाठानुसंधान की दृष्टि से काफी प्रामाणिक माने जाते हैं । जैसे उन्होंने 'रामचरितमानस काशीराज संस्करण' का सम्पादन किया। इसमें मिश्रजी द्वारा पाठानुसंधान के क्षेत्र में अनेक स्थलों पर प्रामाणिक कार्य हुए हैं । मानस के पाठानुसंधान के क्रम में एक स्थान पर मिश्रजी लिखते हैं कि-- "मानस के अयोध्याकाण्ड में नियम पूर्वक आठ अर्धाली के अनन्तर एक दोहा रखने का प्रयास करने पर भी कहीं-कहीं सात और कहीं-कहीं नौ अर्धालियाँ रखनी पड़ी हैं, फिर अन्य काण्डो की क्या कथा । विषय चरणों में 13-13 मात्राएँ मानस में बहुत आई हैं । सांकर्य भी है । पहले चरण में 13 और तीसरे में 12, या इसका विपर्यास है । 'सोरठिया दोहे' या 'सोरठे के दूसरे-चौथे चरण में मानस में 13-13 ही मात्राएँ मिलती है । इससे निष्कर्ष निकला कि 12 मात्रा वाले दोहे या दोहरे के चरणों से पलटकर सोरठा नहीं बनाया जा सकता ।"[50]

मिश्रजी एक स्थान पर मानस के पूर्व में हुए संशोधन पर विचार करते हुए कुछ स्थानों पर अपनी प्रतिक्रिया पाठानुसंधान की दृष्टि से इस प्रकार करते हैं । मिश्रजी के अनुसार -- "अरण्यककाण्ड में जैसी परिवृत्ति और उसकी जैसी भाषा है वह तुलसीदास की नहीं हो सकती । लंकाकाण्ड में हुआ संशोधन वैज्ञानिक पाठानुसंधायक तुलसीदास का ही मानते हैं । उनकी उपलब्धि है कि कवि ने मानस में स्वयम् छह बार संशोधन किया । यदि मानस में अन्य सोपानों में कहीं कम मात्रा वाले

दोहरे न होते तो माना जा सकता था कि लंकाकाण्ड में उनका रहना ठीक नहीं हैं । पर जब अन्य काण्डों में भी छिटपुट रूप में दोहरे मिलते हैं तब विशेष कठिनाई आ खड़ी होती है । यदि लंकाकाण्ड में हुए संशोधन के लिए प्रामाणिक आधार नहीं मिलता तो उसे स्वयम् कवि का किया संशोधन मानने में बाधा है ।''[51]

इसी प्रकार मिश्रजी ने एक स्थान पर मानस के निर्माण पर लगे समय से सम्बन्धित वक्तव्य पर प्रतिक्रिया अपने अनुसंधानात्मक दृष्टि से इस प्रकार करते हैं। मिश्रजी लिखते हैं कि -- ''मानस के अनुसंधायकों का कहना है कि उसके निर्माण में लगभग तीन वर्ष लगे होंगे । जब उसकी अनुलिपियाँ तीन-तीन वर्ष का समय लेती हैं तब सृष्टि ने कितना समय लिया होगा, राम जाने । निश्चय पूर्वक यही कहा जा सकता है कि 1641 विक्रमी के आसपास मानस सर्वजन सुलभ हो गया था ।''[52]

ग्रंथ के प्रकाश में आने के सम्बन्ध में इन्होंने इस प्रकार विचार करते हुए लिखा है कि ''जब अनुलिपिकाल 1662 है तब ग्रंथ इसके पूर्व अवश्य बन गया होगा । अयोध्याकाण्ड को छठे तथा किष्किंधा-सुन्दरकाण्ड को सातवें दशक का ही मानें तो सत्रवीं शदी के चतुर्थ दशक में निर्मित हुए ग्रंथ के हस्तलेख एवम् भाषांतर इस प्रकार क्रमशः पाँचवें, छठे और सातवें दशक के मिल जाते हैं ।''[53]

रामचरितमानस काशीराज संस्करण के आत्मनिवेदन में एक स्थान पर मिश्रजी ने कुछ संकेत दिए हैं जो इनके पाठानुसंधान के कार्यों की पुष्टि करते हैं । ये लिखते हैं कि -- ''परिशिष्ट में आधारभूत प्रतियों के 'संक्षिप्त पाठभेद' के अतिरिक्त बढ़ोतरी, आभाव-सूचक सारणी और प्रक्षेपों का संकलन है । मूल के स्रोतों का समावेश फिर भी नहीं किया जा सका । पाठांतर में हस्तलेख के रूप को यथासाध्य ज्यों का त्यों व्यक्त किया गया है । पर कैथी और नागरी की प्रतियों की लेख-शैली में भिन्नता होने के कारण विद्यमान रूपों के अतिरिक्त दोनों वर्तनियों की एकवाक्यता मान ली गई

है । कैथी लिपि में दंत्य 'स' को 'श' लिखते हैं । उसमें दीर्घ और ह्रस्व इकार की मात्रा के लिए दीर्घ का ही व्यवहार होता है ।''[54]

'गंगालहरी' ग्रंथ के संपादन के क्रम में एक स्थान पर मिश्रजी अपनी अनुसंधानात्मक दृष्टि से लिखते हैं कि -- ''गंगालहरी में तीन दोहे और बावन कबित्त मानहरणधनाक्षरी हैं । कुछ प्रतियों में कुछ छंद अधिक हैं । ऐसा जान पड़ता है कि इनको प्रतिलिपिकारों ने बाद में जोड़ दिया है ।''[55] यहाँ हम देख सकते हैं कि पाठानुसंधान के क्रम में मिश्रजी ने रामचरितमानस के निर्माण काल उसकी समय-सीमा, दोहे की मात्रा, सोरठे के निर्माण, के साथ-साथ परिशिष्ट में बढ़ोतरी, अभाव-सूचक सारणी, प्रक्षेप आदि के साथ-साथ गंगालहरी में आये कुछ नवीन छंदों पर अपनी पैनी दृष्टि रखते हुए उसका उल्लेख किया है ।

संदर्भ :

1. आत्मनिवेदन - रामचरितमानस, काशीराज संस्करण, संपा. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 18
2. अध्याय : 1, पाठ स्वरूप - पाठालोचन के सिद्धान्त, लेखक - डॉ. गोविन्दनाथ राज गुरु, पृ. सं. 3
3. वही, पृ. सं. 5
4. समांतर कोश हिन्दी थियारस अनुक्रम खंड भाग - 2, ले. अरविन्द कुमार, पृ.सं. 739
5. साहित्य में स्थान - हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 146
6. जीवनवृत - गंगालहरी, सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 8
7. बिहारी का वृत - बिहारी की वाग्विभूति, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 45.
8. कवि का सम्प्रदाय, पुस्तक - घनानंद कवित्त (प्रथम शतक), भूमिका - लेखक - आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 34
9. आरंभ-वचन - भूषण ग्रंथावली, सं.विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 5
10. वही, पृ. सं. 5
11. वही, पृ. सं. 7
12. वही, पृ. सं. 6
13. वक्तव्य - गंगालहरी, संपा. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 7
14. आत्मनिवेदन - रामचरितमानस, काशीराज संस्करण, संपा. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 5
15. वही, पृ. सं. 6
16. वही, पृ. सं. 8
17. आरंभ-वचन - भूषण ग्रंथावली, सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 4
18. भूमिका, पुस्तक - भारतीय साहित्य की भूमिका, ले. राम विलास शर्मा, पृ. 7
19. बोधा ग्रंथावली - संपादकीय, सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 9
20. आत्मनिवेदन - रामचरितमानस, काशीराज संस्करण, संपा. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 8
21. वही, पृ. सं. 18
22. वही, पृ. सं. 20
23. वही, पृ. सं. 22

24. आत्मनिवेदन - रामचरितमानस, काशीराज संस्करण, संपा. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 21
25. वही, पृ. सं. 21
26. प्रयोजनमूलक हिन्दी : अवधारणा, प्रासंगिकता, स्वरूप, एवम् विविध आयाम, पत्रिका - भाषा, सं. कार्यालय - केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, भारत सरकार, पृ.सं. 11
27. आत्मनिवेदन - रामचरितमानस, काशीराज संस्करण, संपा. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 19
28. वही, पृ. सं. 11
29. वही, पृ. सं. 15
30. भूषण ग्रंथावली - सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, आरंभ वचन, पृ. सं. 3-4
31. आरंभ वचन, वही, पृ. सं. 6
32. रामचरितमानस, काशीराज संस्करण, आत्मनिवेदन - संपा. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 10
33. वही, पृ. सं. 19
34. आरंभ-वचन (प्र.सं.) - भूषण ग्रंथावली, सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 3-4
35. आत्मकथ्य, पुस्तक - गोस्वामी तुलसीदास कृत श्रीरामचरितमानस (की लोक भारती टीका), ले. योगेन्द्र प्रताप सिंह, पृ. सं. 7
36. आत्मनिवेदन - रामचरितमानस, काशीराज संस्करण, संपा. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 5
37. वही, पृ. सं. 12
38. वही, पृ. सं. 15-16
39. वही, पृ. सं. 17
40. वही, पृ. सं. 18
41. वही, पृ. सं. 20-21
42. वही, पृ. सं. 23
43. वही, पृ. सं. 15
44. वही, पृ. सं. 27-28
45. वही, पृ. सं. 28
46. समीक्षा - गंगालहरी, संपा. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 16
47. संपादकीय, बोधा ग्रंथावली - संपा. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 7
48. उपक्रम, बिहारी - ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 6

49. आरंभ-वचन, भूषण ग्रंथावली - संसपा. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 5,
50. आत्मनिवेदन - रामचरितमानस, काशीराज संस्करण, संपा. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 9
51. आत्मनिवेदन - रामचरितमानस, काशीराज संस्करण, संपा. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 9
52. वही, पृ. सं. 12
53. वही, पृ. सं. 13
54. वही, पृ. सं. 24
55. व्यक्तव्य, गंगालहरी - संसपा. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 5

चतुर्थ अध्याय

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : इतिहासकार के रूप में

चतुर्थ अध्याय

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : इतिहासकार के रूप में

4. क इतिहास और इतिहास दृष्टि :

'इतिहास' शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है बीती हुई घटनाओं का कालक्रम विवेचन । "इतिहास की व्युत्पत्ति इति+ह+आस के मेल से मानी जाती है । जिसका अर्थ है - इति = ऐसा, ह = निश्चय पूर्वक, आस = हुआ - (इत्थं निश्चयेन बभूव) "[1] वस्तुतः "भारतीय साहित्य में इतिहास शब्द का प्रयोग सबसे पहले अथर्ववेद में मिलता है । शतपथ ब्राह्मण, जैमिनीय, वृहदारण्यक तथा छान्दोग्योपनिषद् में भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है ।"[2] इतना ही नहीं अन्य महत्वपूर्ण ग्रंथों में भी इतिहास की चर्चा हुई है । जैसे महाभारत, विष्णुपुराण, अर्थशास्त्र, आदि । "महाभारत में इतिहास को एक ऐसा पूर्ववृत कहा गया है जिसके माध्यम से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उपदेश दिया जा सके ।"[3] डॉ. कृष्णा धवन अपने साहित्येतिहास ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य का इतिहासः परम्परा और विकास' में इतिहास की चर्चा करते हुए कहते हैं कि - "कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में इतिहास को अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयुक्त करते हुए इसके अन्तर्गत पुराण, इतिवृत, आरण्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र सभी की गणना की है ।"[4] डॉ. नगेन्द्र ने इतिहास शब्द का अर्थ बताते हुए कहा कि "इतिहास का अर्थ है - ऐसा ही था या ऐसा ही हुआ ।"[5] महाभारत को भी इतिहास की संज्ञा दी गई है। डॉ. श्रीनिवास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का इतिहास में 'महाभारत' को इतिहास शब्द से इस प्रकार विवेचित किया है -- "जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतत्यों विजिगीषुणः, अर्थात यह जय नामक इतिहास है जिसे जिज्ञासुओं द्वारा सुना जाना

चाहिए । उपनिषदों में इतिहास और पुराण को पाँचवां वेद कहा है । इतिहास के साथ पुराण को रखने में यह दृष्टि रही है कि पुराण में भी पूर्ववृत्त सम्बन्धिनी चिन्तना रही है। पुराणों के पंचलक्षणों में सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित-गिनाये गये हैं। ये सर्ग यानी प्रत्यय, प्रतिसर्ग प्रत्यय के बाद की सृष्टि, वंश सूर्य चंद्रवंश आदि, मन्वन्तर और वंश के व्यक्ति चरित्र ये बातें बहुत कुछ घटित की स्मृति हैं यानी इतिहास हैं ।"[6] आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने भी महाभारत एवम् पुराण को इतिहास ही माना है । इन्होंने अपनी पुस्तक 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' में इस आशय का उल्लेख करते हुए कहा कि - "महाभारत परम्परा में इतिहास ही माना जाता है । पुराण भी पुराना इतिहास ही है ।"[7] डॉ. नगेन्द्र ने 'इतिहास' शब्द की विशद् विवेचन आगे अपनी पुस्तक में इस प्रकार किया है -- "इतिहास का सम्बन्ध अतीत से है; दूसरे यह कि उसके अन्तर्गत केवल वास्तविक या यथार्थ घटनाओं का समावेश किया जाता है । उसमें उन सभी लिखित या मौखिक वृत्तों को सम्मिलित किया जाता है जिनका सम्बन्ध अतीत की यथार्थ परिस्थितियों व घटनाओं से है ।"[8] इसके अतिरिक्त "इतिहास न अतीत की अंध पूजा है और न वर्तमान का तिरस्कार ।"[9] यहाँ यह कहा जा सकता है कि पूर्व में घटित वैसी घटना जिसका क्रमवार लेखा-जोखा समय-सापेक्ष संकलित हो अथवा - "अतीत के किसी भी तथ्य, तत्त्व एवं प्रवृत्ति के वर्णन, विवरण, विवेचन व विश्लेषण को - जो कि काल-विशेष या काल-क्रम की दृष्टि से किया गया हो - इतिहास कहा जा सकता है ।"[10] इतिहास के सम्बन्ध में साहित्येतिहासकार शिवकुमार मिश्र ने कालिंग वुड के विचारों को अपनी पुस्तक 'हिन्दी आलोचना की परम्परा और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' में इस प्रकार उल्लेख किया है - "कालिंग वुड ने किसी भी सही इतिहास को विचार का इतिहास कहा है । उनके अनुसार इतिहास

इतिहासकार के मन में उन विचारों का पुनर्निर्माण होता है जिनका इतिहास वह अध्ययन कर रहा होता है ।"[11] इतिहास शब्द के सम्बन्ध में हम कुछ और विद्वानों के भी विचारों को देख सकते हैं । उदाहरण स्वरूप साहित्येतिहासकार डॉ. सुधीन्द्र कुमार के वक्तव्य को ले सकते हैं जिन्होंने इतिहास के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि - "अतीत की बातें इतिहास का विषय हुआ करती हैं । वे बातें व्यक्तिगत, सामाजिक, वर्गीय, क्षेत्रीय, राष्ट्रीय, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, विचारात्मक, क्रियात्मक इत्यादि किसी भी प्रकार की हो सकती है । सामान्य तौर पर 'इतिहास' शब्द अतीत के घटनाचक्रों से जुड़ी बातों के अर्थ में ग्रहण किया जाता है । इस शब्द के उच्चारण से मस्तिष्क में युद्ध-विग्रह, षड्यंत्र, सत्ता, रक्तपात, गद्दी, तलवारों, भालों, तोपों आदि के चित्र उभर आते हैं । लेकिन इतिहास का यह बिम्ब बहुत उथला और प्राथमिक है । सच्चा इतिहासकार इनके पीछे और आगे तक निहित विचारों तक जाता है, उनमें प्रवेश करता है, देखता है, मनन करता है, फिर निष्कर्ष प्रस्तुत करता है ।"[12]

उपरलिखित विवेचनों से स्पष्ट होता है कि किसी घटना की निश्चित सूचना का श्रोत इतिहास है जो पूर्व में घटित हुआ है । कालक्रम से जुड़ी सूचना में किसी परिवर्त्तन की संभावना कदापि नहीं रहती है । इतिहास में हम न सिर्फ प्रसिद्ध घटनाओं का लेखा-जोखा पाते हैं, बल्कि उन घटनाओं की भी हमें सूचना मिलती है जो प्रसिद्ध न होते हुए भी यथार्थ में घटित हुई है । ये हमें न सिर्फ ईसवी-सन् की सूचना देती है बल्कि घटना-चक्र के पीछे छिपे कारणों एवम् परिस्थितियों की वास्तविकता से भी रू-ब-रू कराती है ।

इसके अतिरिक्त हम साहित्यिक ग्रंथों में भी ऐतिहासिक तथ्यों की चर्चा

देखते हैं जैसे वाण द्वारा रचित 'हर्षचरित', कल्हण की कालजयी रचना 'राजतरंगिणी' आदि में इस आशय की पुष्टि करते हुए डॉ. कृष्ण धवन कहते हैं कि - "हर्षचरितकार ने मालव नरेश द्वारा हर्ष के बहनोई, मौखरी ग्रहवर्मन के बध, राज्यवर्धन द्वारा मालव-नरेश की पराजय, गौड़-नरेश शशांक द्वारा राज्यवर्धन की कपट से हत्या, हर्ष की गौड़ के विरुद्ध लड़ाई और बीच में ही विन्ध्यावती में राज्यश्री की खोज का मार्मिक वर्णन किया है ।"[13] यहाँ यह देखा जा सकता है कि साहित्य की इस अनुपम पुस्तक में भी ऐतिहासिक तथ्यों की भरमार है ।

शारांशतः हम कह सकते हैं कि इतिहास हमें सिर्फ युद्ध की विभीषिका एवम् युद्ध की तारीख की ही सूचना नहीं देता है, बल्कि तत्कालीन परिस्थितियों, उससे जुड़े कारणों को भी विश्लेषित करता है ।

इतिहास दृष्टि : इतिहास की दृष्टि अतीत की घटनाओं के तथ्यपरक विवरण पर होती है जो अपरिवर्त्तनशील होती है । इतिहास के तथ्य भले ही अतीत के हों पर इतिहास अपने दृष्टिकोण के आलोक से नयी दिशा प्रदान करता है । नयी प्रेरणा, नया संदेश के साथ-साथ इसकी पैनी दृष्टि अतीत की घटनाओं के अन्तराल में प्रविष्ट होकर तथ्य को हमारे सामने रखता है । डॉ. धवन ने साहित्य के विद्वान नलिन विलोचन शर्मा के विचारों का उल्लेख अपने साहित्येतिहास ग्रंथ में इस प्रकार किया है- "नलिन विलोचन शर्मा 'साहित्य के इतिहस दर्शन' में लिखते हैं कि - प्रथम घटनाओं के वास्तविक क्रम को घोषित करने के लिए इतिहास' शब्द का प्रयोग होता है । यह सुविधाजनक होते हुए भी युक्ति-संगत नहीं है । जब हम अशोक या नेपोलियन को 'इतिहास का निर्माता' कहते हैं तो हमारा तात्पर्य यह नहीं होता है कि वे इतिहास के लेखक हैं बल्कि यह कि उन्होंने संसार के घटना प्रवाह को मोड़ा है । इसी प्रकार जब हम इतिहास के प्रभाव की बात करते हैं तो हमारा आशय इतिहास ग्रंथों का प्रभाव न

होकर परिस्थितियों का प्राबल्य होता है ।"[14] वस्तुतः इतिहास किसी जाति अथवा वर्ग के अभ्युदय अथवा उत्थान के कारणों का भी पता लगाता है । यहाँ तक कि जाति-विशेष के रहन-सहन, भाषा एवम् परिवेश की पूरी पड़ताल भी इसकी पैनी दृष्टि में होती है ।

वस्तुतः साहित्य में इतिहास-लेखन की परम्परा भारतीय साहित्येतिहासकारों से पूर्व पाश्चात् विद्वानों में देखी जा सकती है । बहुत संभव है कि इतिहास-लेखन की दृष्टि पाश्चात्य विद्वानों से आरम्भ होती हुई भारतीय साहित्येतिहासकारों में विकसित हुई । डॉ. कृष्णा धवन लिखते हैं कि -- "यह बड़े आश्चर्य की बात है कि संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य के प्रथम इतिहास भारतीय लेखकों द्वारा न लिखे जा कर पाश्चात्य विद्वानों द्वारा लिखे गये । संस्कृत साहित्येतिहास लेखन का शुभारम्भ भी पाश्चात्य विद्वानों ने ही किया ।"[15]

जहाँ तक इतिहास-दृष्टि का प्रश्न है, इसका अर्थ होता है - दृष्टि-विशेष । अर्थात् किसी वस्तु, घटना अथवा समय को विशेष विचार, संवेदना अथवा मान्यताओं के आधार पर विश्लेषित करना । यह बात मानी हुई है कि इतिहासकार की दृष्टि उसके विश्वासों एवम् वैचारिक अवधारणाओं से नियंत्रित होती है, यद्यपि इसका समर्थन नहीं किया जा सकता, परन्तु यह होता रहा है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता । यहाँ यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि विशेष इतिहास-दृष्टि कभी-कभी मूल्यांकन के नये पक्ष को भी उद्घाटित करता है । इस तथ्य को अगर ध्यान में रखकर हम हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखको की इतिहास-दृष्टि की विवेचना करें तो स्पष्ट होगा कि हर इतिहासकार की एक विशेष दृष्टि रही है । गार्सा द् तासी, गिर्यसन, मिश्र-बन्धु, आचार्य शुक्ल या बाद के तमाम इतिहासकारों ने

विशेष दृष्टि के तहत ही साहित्य का मूल्यांकन प्रस्तुत किया है । जैसा कि कहा गया है कि यह रचनाकार की संभावना और सीमा दोनों के रूप में ही दिखलाई पड़ती है।

4. **ख. साहित्य का इतिहास :**

साहित्य का इतिहास सामान्य इतिहास से भिन्न होता है । साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी की दृष्टि स्वीकृत है । श्री शुक्ल जी ने साहित्येतिहास को परिभाषित करते हुए कहा कि -- ''जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्त-वृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्त-वृत्ति के परिवर्त्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है । आदि से अंत तक इन्हीं चित्त-वृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है ।''[16] साहित्येतिहास लेखन की अगर हम बात करें तो देखते हैं कि हिन्दी साहित्य में इतिहास लेखन की शुरुआत 1883 ई. में हुई जब शिवसिंह सेंगर ने हिन्दी कवियों का संग्रह प्रस्तुत किया । जबकि - ''पाश्चात्य साहित्य में साहित्यिक-इतिहास लेखन का कार्य सत्रहवीं शताब्दी से आरम्भ हुआ पर हिन्दी साहित्य में यह कार्य अतिआधुनिक है । हिन्दी साहित्य में इतिहास लेखन का प्रयास 19 वीं शदी के अन्तिम दशक से आरम्भ हुआ ।''[17] वैसे डॉ. ग्रियर्सन ने 'माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ नादर्न हिन्दुस्तान' सन् 1889 ई. में प्रस्तुत किया । उसके बाद से तो कई साहित्येतिहासकारों ने इस क्षेत्र में अपनी लेखनी चलाई । आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी द्वारा लिखित साहित्येतिहास की पुस्तकों में 'हिन्दी साहित्य का अतीत प्रथम एवम् द्वितीय भाग तथा 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' स्वीकृत है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी की रचना 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' साहित्येतिहास में मील का पत्थर माना जाता है, क्योंकि ''आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'

पहली बार अनेक विशेषताओं से मंडित होकर प्रकाशित हुआ । उन्होंने इस ग्रंथ में शिक्षित जन-समूह की बदलती हुई प्रवृत्तियों को लक्ष्य करके हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल विभाजन और रचना का उपक्रम किया ।''[18]

प्रो. वासुदेव सिंह जी ने अपने 'हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास' में साहित्येतिहास लेखन के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि -- ''हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन का इतिहास लगभग 140 वर्षों का है । गार्सा द तासी द्वारा लिखित 'इस्तदवार' द ला लितरेत्यूर ऐन्दुई ए ऐन्दुस्तानी' नामक ग्रन्थ इस दिशा में प्रथम प्रयास माना जाता है यद्धपि सही अर्थों में यह भी इतिहास नहीं है । वास्तविक इतिहास लेखन का कार्य लगभग सौ वर्ष पूर्व ग्रियर्सन द्वारा प्रारम्भ हुआ, जिसमें सर्वप्रथम युग-विभाजन, पृष्ठ-भूमि-निर्देश, प्रवृत्ति-निरूपण, तुलनात्मक आलोचना एवम् मूल्यांकन आदि का प्रयास किया गया है ।''[19] साहित्येतिहास लेखन की शर्त यह होती है कि काल-विशेष में समाज की मूल प्रवृत्तियों का उद्घाटन, प्रवृत्ति-निरूपण, सम्यक् मूल्यांकन आदि का समावेश हो । भारतीय साहित्येतिहासिक दृष्टि प्रारम्भ से ही आदर्शवादी एवम् अध्यात्मपरक रही है । ऋषियों-मुनियों के चारित्रिक विशेषताएँ हीं प्राचीन साहित्येतिहास की सामग्री के रूप में संकलित किए जाते रहे हैं, जिसमें अधिक से अधिक प्राचीन कवियों एवम् उनके कृतियों की सूचना मात्र रहता है, उदाहरणतः चौरासी वैष्णवन की वार्ता, दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, अष्टसखान की वार्ता, अथवा भक्तमालों की लम्बी परम्परा आदि साहित्येतिहास के साँचे में फिट नहीं बैठते क्योंकि साहित्य के इतिहास लेखन की जो वैज्ञानिक पद्धति है उसका सर्वथा अभाव उपरोक्त पुस्तकों में देखा जा सकता है । उदाहरण के तौर पर हम 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' एवम् 'दो सौ वावन वैष्णवन की वार्ता' से क्रमशः एक-एक अंश लेकर देख सकते हैं 'चौरासी वैष्णवन वार्ता' में एक स्थान पर वर्णन आया है कि -- ''एक समय

श्री आचार्य जी महाप्रभू पृथ्वीपरिक्रमाकौं पधारे हुते तब तहां दामोदर दास श्री आचार्य जी महाप्रभून के साथ है सो श्री आचार्यजी महाप्रभू आप दामोदर दासों अपने श्री मुखसों द्रमला कहते जो यह मार्ग तेरे लिये प्रगट कीनों है सो श्री आचार्य जी महाप्रभू सो पृथ्वीपरिक्रमा करते श्री गोकुल पधारे सो श्री गोकुल में एक चोंतरा श्री गोविंद घाट ऊपर हुतो तहां श्री आचार्य जी महाप्रभू आय विश्राम करते ताठोर ऊपर श्री आचार्यजी महाप्रभून की बैठक है ।''[20] इसी प्रकार के एक और उदाहरण देखे जा सकते हैं जो दो सौ बावन वैष्णवनं की वार्ता से उधृत की गयी है, जो इस प्रकार है - ''प्रथम गोविंद दास आंतरी गाम में रहते, तहाँ गोविंद स्वामी कहावते और आप सेवा करते गोविन्ददास परम भगवद्‌भक्त नित्य याही रीतीसों रहते जो श्री भगवत् चरणारविंदकी प्राप्ति कैसें होय ? याही बात की तलासी करते रहते । एक समय गोविन्द दास आंतरी गांमते ब्रजकों आये और महावन मे आयके रहे ।''[21]

उपरोक्त दोनों उदाहरणों में यह देखा जा सकता है कि आध्यात्मिक वातावरण से उद्धरण ओत-प्रोत है । कालक्रम का कोई वर्णन नहीं है । उद्धरण की शुरुआत 'एक समय की बात' से होती है । निश्चत अवधि का सर्वथा अभाव है । पुनः वर्णन की शैली साहित्येतिहास की शैली से भिन्न है । पर इतना अवश्य है कि साहित्येतिहास लेखन की वर्त्तमान वैज्ञानिक पद्धति में इन ग्रंथों से इतिहास की आधारभूत सामग्री ली जा सकती है । यह तय है कि उन दिनों साहित्येतिहासिक दृष्टि का वैसा विकास नहीं हुआ था जैसी आज है, जिसे हम वैज्ञानिक दृष्टि अथवा शुद्ध साहित्येतिहासिक दृष्टिकोण कह सकते हैं ।

प्रारम्भिक दौर के साहित्य के इतिहास ग्रंथ में अर्थात 19 वीं शदी के अन्तिम चरण में लिखे गये इतिहास ग्रंथ भले ही वर्त्तमान वैज्ञानिक पद्धति में न लिखे गये हों पर साहित्येतिहास लेखन की शुरुआत में पहला कदम माना जा सकता है ।

एक अंश हम उदाहरण के तौर पर हिन्दी साहित्य की पुस्तक 'शिवसिंह सरोज' से भी ले सकते हैं जो उपरोक्त कथन को और भी पुष्ट करता है, उदाहरण द्रष्टव्य है --

"1. अकबर कवि, श्री मोहम्मद जलालुद्दीन अकबर बादशाह

(1)

शाह 'अकबर' बाल की बाह, अचिंत गही चलि भीतर भौने
सुंदरि द्वारहि दृष्टि लगाय के, भागिबे की भ्रम पावत गौंने
चौंकत ही सब ओर बिलोकति, संक सकोच रही मुख मौने
यौं छबि नैन छबीली के छाजत, मानो बिछोह परे मृग छौने ?"[22]

उपर के उदाहरण से स्पष्ट है कि कविता की ये पंक्तियाँ मोहम्मद जलालुद्दीन अकबर बादशाह के समय की सृजित हैं तथा इसके कवि का नाम भी अकबर ही है । श्रृंगार-रस की प्रधानता है जबकि निश्चित समय-सीमा का अभाव है । पर हाँ, कवि की सूचना अवश्य है । यहाँ हम यह भी कह सकते हैं कि साहित्य का इतिहास, लेखन-कला की प्रारम्भिक दृष्टि से भी सामान्य इतिहास से भिन्न है, पर वास्तविक साहित्येतिहास लेखन की परम्परा अथवा यूँ कहें कि प्रौढ़ साहित्येतिहास लेखन का कार्य आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी के द्वारा संवत् 1968 वि. में प्रस्तुत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' से माना जा सकता है । वस्तुतः "इतिहास निर्माण में व्यक्ति की विशेष भूमिका होती है । पर वास्तव में इतिहास जनता रचती है । इस सम्बन्ध में जर्मन कवि - नाटककार वर्टोल्ड बखेट की एक कविता बेहद प्रासंगिक है -

पढ़ने वाले मजदूर के सवाल
हर पन्ने पर एक जीत दर्ज है
किसने तैयार किया था विजेताओं का भोज ?

हर दस साल पर एक महान आदमी

किसने चुकाया इसका मोल ?"[23]

वस्तुतः समाज विभिन्न समुदायों, जातियों एवम् धर्मों के लोगों का समूह होता है, जहाँ इतनी विभिन्नता होगी निश्चित रूप से विचारों एवम् व्यवहारों में भी उतना ही गतिरोध एवम् मतैक्य होगा । यहाँ श्री रामचन्द्र शुक्ल जी के विचार अक्षरशः सत्य प्रतीत होते हैं, जहाँ शुक्ल जी ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि - "जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है ; अतः कारण-स्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक होता है । इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य का विवेचन करने में यह बात ध्यान में रखनी होगी कि किसी विशेष समय में लोगों में रुचि विशेष का संचार और पोषण किधर से और किस प्रकार हुआ ।"[24] कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्य के इतिहास मे हम विशेष वर्ग के लोगों की विशेष रुचि, क्रिया-कलाप एवम् प्रवृत्तियों का वर्णन-विश्लेषण पाते हैं ।

डॉ. नगेन्द्र जी ने इस सम्बन्ध में अपने विचार कुछ इस प्रकार व्यक्त किए हैं - "साहित्य के इतिहस में हम प्राकृतिक घटनाओं व मानवीय क्रिया-कलापों के स्थान पर साहित्यिक रचनाओं का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से करते हैं । वैसे देखा जाय तो साहित्यिक रचनाएँ भी मानवीय क्रिया-कलापों से भिन्न नहीं है, अपितु वे विशेष वर्ग के मनुष्यों की विशिष्ट क्रियाओं की सूचक हैं ।"[25] आशय यह कि साहित्य के इतिहास में साहित्य के प्रारम्भिक काल से लेकर तत्कालीन विकास की ऐतिहासिक रूप-रेखा प्राप्त होती है । इसका कारण यह है कि हमारी सामाजिक-परम्परा समय-सापेक्ष अपनी परम्परा की छाप एवम् संस्कार अमिट रूप में छोड़ता चलता है जो अतीत की धरोहर बन जाती है । इसका सीधा प्रभाव साहित्य पर पड़ता है जिसे वह

ग्रहण करता रहता है । साहित्य के इतिहास में इतिहासकार विभिन्न कालों की कालगत रचनाओं खासकर विशिष्ट रचनाओं और रचनाकारों का एक प्रक्रिया के तहत अध्ययन, मनन एवम् मूल्यांकन करता है । जिस प्रकार इतिहास में सब कुछ कालक्रमानुसार विवेचित रहता है, ठीक उसी प्रकार साहित्य के इतिहास में भी कृतिकारों का विवेचन अथवा वर्णन भी कालक्रमानुसार होता है । इस संबन्ध में डॉ. कृष्णा धवन का मानना है कि - "साहित्य के इतिहास में प्रमुख साहित्यकारों के मतों का वैज्ञानिक रीति से आलोचनात्मक परीक्षण किया जाता है क्योंकि साहित्यिक-गतिविधियों तथा क्रियाकलापों पर उनका व्यापक और कभी-कभी स्थायी प्रभाव पड़ता है । साहित्य का इतिहासकार अपने युग और उसके प्रभाव की उपेक्षा नहीं कर सकता। युग-विशेष की परिस्थितियों और प्रवृत्तियों को समझकर ही वह उनकी व्याख्या करता है ।"[26] डॉ. धवन ने साहित्य के इतिहास को राजनैतिक इतिहास से अलग बताते हुए कहा कि -- "राजनैतिक इतिहास द्वारा किसी देश के अतीत की सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, विशिष्ट घटनाओं और व्यक्तियों आदि की जानकारी मिलती है । साहित्य के इतिहास में साहित्य, के प्रारम्भिक काल से लेकर आज तक के विकास की ऐतिहासिक रूप-रेखा प्राप्त होती है ।"[27]

साहित्यक के इतिहास में दो तत्वों का सर्व मिलन होता है -- एक तो साहित्य दूसरा इतिहास । अतएव साहित्येतिहासकार को क्षेत्र विशेष के इतिहास की प्रर्याप्त जानकारी अपेक्षित होती है, साथ ही साहित्य के इतिहास में कवियों, नाटककारों, कथा-कहानीकारों, उपन्यास-लेखकों, संस्मरण-लेखकों, रिपोरताज-लेखकों आदि गद्य एवम् पद्य दोनों विद्याओं के रचनाकारों की कालजयी एवम् अन्य महत्वपूर्ण रचनाओं का कालक्रमानुसार समीक्षात्मक विवेचन उधृत होता है जहाँ धर्म, दर्शन, राजनीति आदि मानवीय संबन्धों का उल्लेख भी रहता है । यहाँ डॉ. धवन के विचार

मुझे प्रासंगिक लगते हैं क्योंकि उन्होंने साहित्येतिहासकार के कुछ माप-दण्ड भी निर्धारित किए हैं जैसे -- "साहित्य के इतिहासकार को निष्पक्ष तथा पूर्वाग्रह से भी पूर्णतः मुक्त रहना चाहिए । निश्चय ही मन-मस्तिष्क की इतनी देव-दुर्लभ विभूति एक व्यक्ति को नहीं मिल सकती । फिर भी इस सम्बन्ध में अधिक-से-अधिक जागरूक तथा प्रयत्नशील साहित्य के इतिहास-लेखक को रहना चाहिए । काव्य का अच्छा मर्मज्ञ, नाटक, उपन्यास, कहानी, कला का पारखी, निबन्धों के बन्ध का, आलोचना-साहित्य की सीमाओं का सुस्पष्ट निर्देशन तथा विश्लेषण करने वाला मेधावी विद्वान ही साहित्य का इतिहास लिख सकता है ।"[28]

इस प्रकार साहित्य का इतिहास साहित्यिक रचनाओं का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से करता है, जो मानवीय क्रिया-कलापों से अभिन्न होती है, साथ-साथ साहित्य के प्रारम्भिक काल से लेकर आज तक के विकास की रूप-रेखा होती है । इसके अतिरिक्त साहित्यकारों के मतों का आलोचनात्मक परीक्षण भी समाहित रहता है।

4. **ख i साहित्य के इतिहास का वैशिष्ट्य :**

"वैशिष्ठ्य का अर्थ विशिष्ठता"[29] अथवा विशेषता होता है । साहित्य के इतिहास की भी कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो इसे सामान्य इतिहास से पृथक करती हैं, ये विशेषता अथवा सामान्य इतिहास से भिन्नता ही साहित्येतिहास के वैशिष्ट्य का सूचक है । बाबू गुलाब राय ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' में इस आशय को विश्लेषित करते हुए कहा कि - "इतिहास का मुख्य बल इतिवृत पर होता है, विकास में इतिवृत के उस अंश पर बल देते हुए दिखलाया जाता है कि एक युग अपने विगत युग से और एक साहित्यकार काल-क्रम में अपने पूर्ववर्त्ती रचनाकार से कहाँ और कैसे भिन्न और विशिष्ट है । साहित्य का इतिहास अपने विकासात्मक

अध्ययन में इसी पर केन्द्रित रहने का प्रयास करता है । साहित्य के इतिहास में नामों और तिथियों की अपेक्षा प्रवृत्तियों और परिस्थितियों का अध्ययन अधिक आवश्यक है, क्योंकि उनके द्वारा ही विकास-क्रम के सोपानों और स्तरों को सुगमता से समझा जा सकता है ।''[30] प्रवृत्तियों और परिस्थितियों के समुचित विवेचन-विश्लेषण के लिए यह आवश्यक होता है कि साहित्येतिहासकार उन प्रवृत्तियों पर नूतन प्रकाश डाले। अतः ''किसी भी विषय-वस्तु का अध्ययन सुबोध और वैज्ञानिक बनाने के लिए उसे वर्गों या खण्डों में विभाजित करना संगत रहता है । इतिहास में हम देश के स्थान पर काल-खण्डों का अध्ययन करते हैं । साहित्य के इतिहास को इसलिए विद्वानों ने विभिन्न काल-खण्डों में विभाजित करके अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।''[31]

साहित्य का इतिहास समाज सापेक्ष होता है । ''साहित्य का काम समाज की संवेदनाओं को झकझोर कर उसमें प्रगति चेतना का संचार करना तथा उसे एक दिशा देना है''[32], साथ-ही जनता की प्रवृत्ति एवम् परिस्थिति तथा सामाजिक विकास-क्रम साहित्य के इतिहास का मूल ध्येय होता है । इस आशय पर बल देते हुए साहित्येतिहासकार बाबू गुलाब राय जी कहते हैं कि -- ''साहित्य के इतिहास में नामों की अपेक्षा प्रवृत्तियों और परिस्थितियों का अध्ययन अधिक आवश्यक है, क्योंकि उनके ही द्वारा विकास-क्रम की श्रेणियाँ समझी जा सकती हैं ।''[33] जैसा कि साहित्य का इतिहास जनता की चित्त-वृत्तियों का संकलन है। अतः जाहिर है कि युग की तत्कालीन परिस्थितियाँ एवम् उस युग के लोगों की मानसिकता को आरेखित करना साहित्येतिहास के वैशिष्ट का द्योतक है । समाज के शिक्षित एवम् बुद्धिजीवी वर्ग की मानसिकता, उनके विचारों की प्रवृति का सीधा प्रभाव साहित्य पर पड़ता है । चूँकि ''साहित्य का अस्तित्व समाज से अलग नहीं होता, इसलिए साहित्य का विकास समाज के विकास से कटा हुआ नहीं हो सकता ।''[34] स्पष्ट है कि साहित्य पर पड़ने वाले

प्रेरक प्रभाव साहित्य के स्वरूप एवम् उसकी धारा में भी परिवर्त्तन लाते हैं, जिससे विभिन्न काव्य-धाराओं की शाखाएँ फूटती हैं । इन तमाम शाखाओं को समयबद्ध कर उसका सम्यक् निरूपन, मूल्यांकन, विश्लेषण एवम् विवेचन साहित्य के इतिहास का वैशिष्ट्य है ।

साहित्येतिहास का दायित्व सिर्फ यह नहीं है कि समाज के लोगों की चित्तवृत्ति एवम् उसकी परिस्थिति को विश्लेषित करे, बल्कि इसका यह भी "दायित्व है कि समाज के वर्तमान यथार्थ से उसके अप्रासंगिक हो चुके यथार्थ की मुटभेड़ न हो"[35], इस पर भी पहल करे । इतना ही नहीं सामाजिक विचार-व्यवहार, लोगों द्वारा प्रयोग में लायी जाने वाली भाषा, तत्कालीन शासनतंत्र की प्रशासनिक राजनीति का साहित्य के साथ सरोकार, यहाँ तक कि प्रेम, घृणा, द्वेष तथा भाईचारे का सम्यक् विश्लेषण, मूल्याँकण, साहित्येतिहास के वैशिष्ट्य की परिधि के अन्तर्गत आता है । इसके अतिरिक्त "साहित्य का इतिहास केवल साहित्य का इतिहास नहीं होता, उसमें अनेक इतिहासों का संगम होता है ।"[36]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि साहित्य का इतिहास नामों एवम् तिथियों की अपेक्षा प्रवृत्तियों और परिस्थितियों के अध्ययन पर बल देता है ताकि विकास-क्रम को समझा जा सके । इसमें विषय-वस्तु को सरल-सुबोध एवम् वैज्ञानिक बनाने हेतु काल-खण्डो का निर्धारण होता है ।

4. **ख ii साहित्य के इतिहास की सीमाएँ :**

विशेषताओं के अतिरिक्त साहित्य के इतिहास की कुछ सीमाएँ भी हैं । सामान्यतः यह देखा गया है कि साहित्येतिहासकार साहित्य के इतिहास में सिर्फ प्रमुख रचनाओं एवम् साहित्यकारों की चर्चा करके यह मान लेता है कि सम्पूर्ण काल की चर्चा

हो गयी । बल्कि तथ्य यह है कि किसी भी युग के साहित्य का स्वरूप उस युग के तमाम छोटे-बड़े रचनाकारों से निर्मित होता है, न कि दो-चार बड़े रचनाकारों की रचनाओं से, जिसे साहित्य का इतिहास हमेशा नजर अंदाज करता है अथवा छोड़ देता है । यह तय है कि छोटे बड़े सिद्धहस्त रचनाकारों की कालजयी रचनाएँ भी सामाजिक संरचना के बदलाव को प्रभावित करते हैं । इस सम्बन्ध में साहित्येतिहासकार डॉ. नगेन्द्र कहते हैं कि -- ''आदिकाल में रचित गोरखनाथ आदि की बानी या परवर्ती युग का वार्त्ता-साहित्य शुद्ध साहित्य की परिधि में नहीं आता, किन्तु क्या इतिहासकार उनकी उपेक्षा कर सकता है ? उनके अभाव में विकास-परम्परा की कुछ आवश्यक कड़ियाँ लुप्त हो जायेंगी । आधुनिक काल के आरम्भ में रचित स्वामी दयानन्द का 'सत्यार्थप्रकाश' निश्चय ही ललित साहित्य का अंग नहीं है, परन्तु क्या आलोचना की भाषा के विकास का अध्ययन उसके बिना सम्भव है ? इसी प्रकार वर्त्तमान युग में भी ज्ञान के साहित्य के ऐसे अनेक गौरव-ग्रन्थ हैं जिनका उल्लेख इतिहास में करना अनिवार्य है ।''[37] इतना अवश्य है कि नित नवीन सामग्री का प्रकाशन हो रहा है । शोध परिणाम निरन्तर आ रहे हैं, पर इतिहास की अपनी भी सीमाएँ है । तथ्य यह है कि साहित्येतिहास की विषय-वस्तु वैसी ही सामग्री बन सकती है, जिसकी प्रामाणिकता सिद्ध हो । इस सम्बन्ध में डॉ. नगेन्द्र जी ने अपने साहित्येतिहास की पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' की भूमिका में लिखा है कि -- ''प्रत्येक नवीन शोध-परिणाम प्रामाणिक नहीं होता, प्रमाण-सिद्ध स्थापनाओं को भी समय-सिद्ध होने में देर लगती है।''[38]

साहित्य के इतिहास की यह भी सीमा है कि किसी दो भाषाओं के मध्य स्पष्टतः कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती और न ही किसी भाषा के उत्पत्तिकाल के विषय में ठोस आधार दिया जा सकता है ।''[39] इस तरह के विचार को

स्वीकारते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में कहा है कि-- "रीतिकाल के भीतर रीतिबद्ध रचना की जो परम्परा चली है उसका उपविभाग करने का कोई संगत आधार मुझे नहीं मिला । रचना के स्वरुप आदि में कोई स्पष्ट भेद निरूपित किए बिना विभाग कैसे किया जा सकता ? किसी काल-विस्तार को लेकर यों ही पूर्व और उत्तर नाम देकर दो हिस्से कर डालना ऐतिहासिक विभाग नहीं कहला सकता ।"[40] साहित्यिक काल-विभाजन में भी लगभग यही बात लागू होती है । इस सम्बन्ध में साहित्येतिहासकार लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय जी का मानना है कि - "काल-विभाजन का यह तात्पर्य नहीं होता है कि एक काल के समाप्त होते ही दूसरे दिन साहित्यिक-धारा दूसरी दिशा में प्रवाहित होने लगती है । वास्तव में साहित्य के इतिहास में गणित के नियम लागू नहीं होते । एक काल की विचार-धारा दूसरे काल तक जाती है ।"[41]

साहित्येतिहास की यह भी सीमा है कि इसके अन्तर्गत सिर्फ वैसे साहित्य को समाहित किया जा सकता है जिसका सम्बन्ध सर्जनात्मक साहित्य से हो । सर्जनात्मक साहित्य से हमारा अभिप्राय वैसे साहित्य से है "जो युगानुकूल परिवर्तित होकर समाज को प्रगति और सुख-सम्पन्नता की ओर ले जाय ।"[42] साहित्येतिहासकार डॉ. नगेन्द्र ने भी इस सम्बन्ध में अपने स्पष्ट विचार अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' की भूमिका में दिए हैं । डॉ. नगेन्द्र ने कहा कि -- "यह ठीक है कि साहित्य का अर्थ मूलतः यहाँ भी सर्जनात्मक साहित्य ही है और एक सीमा से आगे सम्पूर्ण वाङ्मय को उसके साथ समेटना सम्भव नहीं है । मध्ययुग में आयुर्वेद, ज्योतिष आदि शास्त्र तथा साम्प्रदायिक साहित्य आदि सभी कुछ पद्य में ही लिखित हैं और गद्य में भी अनेक कच्ची-पक्की टीकाएँ वचनिकाएँ वात्ताएँ, ख्यातें और बातें मिलती हैं । इधर आधुनिक युग में ज्ञान-विज्ञान के असंख्य ग्रन्थों की रचना निरन्तर हो रही है । यह सब

साहित्य के अन्तर्गत तो नहीं आ सकती ।"[43]

यह भी देखा गया है कि साहित्येतिहासकारों की दृष्टि प्रायः एकांगी रहती है । इस सम्बन्ध में डॉ. धवन के विचार कुछ इस प्रकार हैं - इनके अनुसार "हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखक हिन्दी के समूचे साहित्य का परिचय देने की अपेक्षा कुछ विशिष्ट लेखकों को ही इतिहास में स्थान देना चाहते हैं । उनकी इस एकांगी दृष्टि के कारण हिन्दी के कितने ही लेखक, विशेषतः संस्कृत से हिन्दी में अनुवाद करने वाले दर्शन-शास्त्र के उद्‌भट लेखक, हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रायः उल्लिखित नहीं होते । हिन्दी साहित्य के इतिहास में लगभग स्थान नहीं है । अम्बिका प्रसाद वाजपेयी जैसे प्रतिभाशाली सम्पादक प्रायः उपेक्षित हैं । दृष्टिकोण की यह एकांगिता हिन्दी साहित्य के इतिहास के लिए घातक हैं ।"[44] वहीं साहित्येतिहास लेखकों में बहुत मतभेद प्रारम्भ से ही देखे जा सकते हैं । उदाहरण के तौर पर हम अपभ्रंश भाषा और साहित्य को ही ले सकते हैं । विद्वानों में यह मतभेद हमेशा से रहा है कि अपभ्रंश-भाषा और उसके साहित्य को कितनी मात्रा में और किस रूप में हिन्दी से जोड़ा जाय । डॉ. धवन ने साहित्य-लेखन में केन्द्रीय दृष्टि का उल्लेख करते हुए कहा है कि "साहित्य के इतिहास लेखन के लिए जिस केन्द्रीय दृष्टि की आवश्यकता होती है, वह केन्द्रीय दृष्टि भी बहुत से इतिहास लेखकों में नहीं रही । इस केन्द्रीय दृष्टि का निर्माण इतिहास-ग्रंथो, विशेषतः इतिहास दर्शन के गम्भीर परिचय के बिना सम्भव नहीं है । इसलिए जब कभी द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि से किसी विचारक ने कुछ लिखा तो वह हिन्दी के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी बात समझी गई । वास्तव में जब तक किसी सुस्पष्ट विचारधारा और किसी विशिष्ट दृष्टिकोण को अपनाए बिना हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखा जाएगा तब तक इस प्रकार की भ्रांतियाँ होती रहेंगी।"[45] डॉ. नगेन्द्र ने अपनी पुस्तक 'भारतीय समीक्षा और आचार्य शुक्ल की काव्य

दृष्टि' में अपनी विचार-धारा कुछ इस प्रकार से व्यक्त किया । डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं कि-- ''यद्यपि भारतीय साहित्य का इतिहास नाम से कई- एक ग्रंथ आज उपलब्ध हैं, परन्तु ऐसा इतिहास अभी तक नहीं लिखा गया जिसमें भारतीय साहित्य के विकास का उसकी समग्रता में, अर्थात् प्राचीन तथा आधुनिक सभी भाषाओं के साहित्य-विकास का आकलन किया गया हो ।''[46]

शारांशतः यह कहा जा सकता है कि साहित्य के इतिहास की सीमा यह रही है कि साहित्य के इतिहास में सिर्फ प्रमुख रचनाकारों को ही स्थान मिलता रहा है, छोटे-मोटे रचनाकार प्रायः उपेक्षा के शिकार होते हैं या फिर लुप्त ही रहते हैं। इसके अतिरिक्त दो भाषाओं के मध्य कोई स्पष्ट विभाजक रेखा भी नहीं खींची जा सकती जबकि साहित्य के इतिहास में सिर्फ सर्जनात्मक साहित्य को ही स्थान मिलता है तथा साहित्येतिहास लेखकों की एकांगी दृष्टि भी इसकी सीमा को ही अभिव्यक्त करती है ।

4. ग. **आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के इतिहास ग्रंथों की समीक्षा :**

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने हिन्दी साहित्येतिहास के निर्माण में प्रर्याप्त योगदान दिया है । 'हिन्दी साहित्य का अतीत प्रथम एवम् द्वितीय भाग' में इनके द्वारा निर्देशित वर्ण्य-विषय तथा स्थापनाएँ साहित्येतिहास को विवेचित एवम् विश्लेषित करने की नयी दृष्टि और विस्तृत आयाम प्रदान करते हैं । इन दो महत्वपूर्ण ग्रंथों में हिन्दी साहित्य के मध्यकाल के पूर्वार्ध (भक्तिकाल) तथा मध्यकाल के उत्तरार्ध (श्रृंगारकाल) का विवेचन है । ''उनके आदिकाल एवं पूर्वमध्यकाल सम्बन्धी विचार 'हिन्दी साहित्य का अतीत' प्रथम भाग में और उत्तर मध्यकाल सम्बन्धी विचार 'हिन्दी साहित्य का अतीत' द्वितीय भाग में एवं बिहारी, भूषण, घनआनन्द ग्रन्थावली, केशव

ग्रन्थावली, भिखारी दास ग्रंथावली, पदमाकर पंचामृत आदि ग्रन्थों की भूमिका में मिलते हैं ।''[47] इन ग्रंथों में इन्होंने जिन बिन्दुओं को केन्द्र में रखकर तथ्यों का विवेचन-विश्लेषण किया, उसके सम्बन्ध में डॉ. रामचन्द्र तिवारी ने अपनी दृष्टि स्पष्ट करते हुए कहा है कि -- ''मिश्रजी ने प्रमुखतः तीन रूपों में इतिहास निर्माण में योग दिया है -- 1. इतिहास की कालावधि में विस्तार, 2. कालों का नामकरण, और 3. तथ्यान्वेषण ।''[48] इसके अतिरिक्त कई ग्रन्थों की भूमिका में इन्होंने हिन्दी साहित्य के उन तथ्यों का विवेचन किया है जिनके सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य देखा गया है । उदाहरण के तौर पर हम बोधा ग्रंथावली को ले सकते हैं जिसमें 'कवि का जीवन वृत' शीर्षक के तहत मिश्रजी लिखते हैं कि - ''हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में स्वच्छंद काव्य प्रवृत्ति वाले कवियों की अत्यंत विशिष्ट काव्यधारा प्रवाहित हो रही थी । पर उस धारा और उस प्रवृत्ति के कवियों पर इतिहासकारों ने बहुत कम ध्यान दिया । परिणाम यह हुआ कि भक्तिकाल के अनन्तर जो काव्यकाल प्रवाहित हुआ उसका उपयुक्त विभाजन करने का उन विद्वानों को कोई स्पष्ट मार्ग न दिखाई पड़ा । फलतः उस काव्यकाल का नाम कहीं 'अलंकृतकाल' और कहीं 'रीतिकाल' रखा गया ।''[49] यहाँ विद्वानों की उपेक्षापूर्ण दृष्टि एवम् आपसी मतांतर का भी उल्लेख इन्होंने किया है ।

4. ग. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद के इतिहास ग्रंथों की समीक्षा

4. ग. I. हिन्दी साहित्य का अतीत भाग -1

'हिन्दी साहित्य का अतीत भाग - 1' सर्वप्रथम सन् 1958 ई. में सरस्वती मन्दिर वाराणसी द्वारा प्रकाशित हुआ । इस पुस्तक में श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने साहित्येतिहास के कई महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर प्रकाश डाला है । जिन साहित्यिक तथ्यों को इन्होंने विवेच्य का विषय बनाया, उनमें प्रमुखतः हिन्दी साहित्य का आविर्भाव काल, हिन्दी भाषा का कद, अपभ्रंश साहित्य, सिद्धनाथों का साहित्य क्या

हिन्दी साहित्य का अंग है अथवा नहीं ? हिन्दी साहित्य का अतीत वैभव एवम् समृद्धि, आदि कवि विद्यापति एवम् उनकी रचनाएँ, काल-विभाजन एवम् नामकरण, समृद्ध हिन्दी साहित्य का मध्यकाल, ज्ञानमार्गी, प्रेममार्गी, कृष्णभक्ति, रामभक्ति, भक्ति की उत्पति अथवा आगमन, साधना के मार्ग एवम् उसका विवेचन, सम्प्रदाय एवम् पंथ में तात्विक भेद, 'ज्ञान' शब्द का विवेचन, समाज सुधारक के प्रति विशेष दृष्टि, कबीरदास की रचनाएँ जो काव्य की दृष्टि से स्वीकृत हैं, जायसीः प्रेमामार्गी कवियों का प्रतिनिधि, मसनबी शैली का विश्लेषण, पद्मावत को इतिहास से जोड़कर देखे जाने की वकालत, प्रेमकाव्य की कोटियों का निर्धारण, भक्ति के चारों सम्प्रदायों का विवेचन, गीत परम्परा की चर्चा, सूरदास वास्तव में वात्सल्य भाव के उपासक, गोस्वामी तुलसीदास विश्व कवि के रूप में प्रतिष्ठत एवम् उनकी रचना रामचरितमानस विश्वकाव्य कहलाने की अधिकारिणी, साथ-ही गोस्वामी जी के समन्वय की भावना एवम् उनके काव्य का वर्गीकरण आदि हैं । इस पुस्तक के पुरोवचन में श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी कहते हैं कि - "पहले भाग में प्रस्तावना के अतिरिक्त आदिकाल एवम् भक्तिकाल के प्रमुख विवेच्य रखे गये हैं ।"[50]

श्री मिश्रजी ने अपने इस ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य का अतीत भाग - 1' के 'पुरेवचन' में हिन्दी-भाषा को सबसे ऊँचा स्थान दिया है । ऊँचा इस मायने में कि हिन्दी अन्य देशी भाषाओं में सबसे जेठी है । इसके पीछे इनका तर्क यह है कि -- "जब तक प्रादेशिक स्वच्छंदता ने सिर नहीं उठाया था तब साहित्य के अभेद और भाषागत ऐक्य के कारण सारी कृतियाँ हिन्दी की ही समझी जाती थीं । इसलिए हिन्दी का आयाम या आभोग विस्तृत था ।"[51] साथ ही इन्होंने इस बात का भी खुलासा किया कि जितनी भी रचनाएँ हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत मानी गयीं या मानी जाती हैं वे समस्त साहित्यिक रचनाएँ नहीं हैं । इसका उल्लेख भी इन्होंने साहित्येतिहास में करते

हुए कहा है, कि -- "हिन्दी के भीतर खींची जाने वाली समस्त रचना काव्य नहीं हैं। सिद्धों-नाथों की बानियाँ हिन्दी भाषा में कही गई हैं, उनकी मानी भी जा सकती हैं पर हिन्दी-काव्यधारा से उनका कोई सम्बन्ध नहीं।"[52] लगभग इसी तरह के साहित्यिक-विचार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने भी अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में समायोजित करते हुए कहा है कि -- "सिद्धों और योगियों की रचनाएँ साहित्य की कोटि में नहीं आतीं।"[53] पर डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने उपरोक्त कथन के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है कि - "धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं जा सकती।"[54] पर इतना तो तय है कि मिश्रजी ने वैसी रचनाओं को शुद्ध सर्जनात्मक साहित्यिक परिसर में स्वीकारा जिसमें काव्यात्मक भंगिमा और सर्व सामान्य भावसत्तात्मक संवेदना हो।

अपभ्रंश-साहित्य के सम्बन्ध में श्री मिश्रजी का मानना है कि -- "इतिहास की दृष्टि से अपभ्रंश-वाङ्मय का पृथक ही विवेचन करने की आवश्यकता है। प्राकृतिक-साहित्य की भाँति अपभ्रंश-साहित्य भी कई दृष्टियों से हिन्दी साहित्य से पृथक है। उनका विचार संस्कृत-प्राकृत के साहित्यों की भाँति पूर्व-पीठिका के रूप में ही होना उचित है।"[55] इसका कारण विद्वानों ने यह बताया कि अपभ्रंश में लिंग-भेद नहीं के बराबर रहा जबकि हिन्दी में दो लिंग अर्थात् स्त्रीलिंग एवम् पुल्लिंग मौजूद हैं। "अपभ्रंश में संयुक्त व्यंजन जिस रूप में प्रयुक्त होते थे, हिन्दी में उनके स्थान पर एक व्यंजन ध्वनि को लेकर पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर को दीर्घ कर दिया गया है। यहाँ कम्म > काम, अज्ज > आज और अट्ठ > आठ हो गया है।"[56] स्पष्ट है कि व्याकरणिक दृष्टि से भी अपभ्रंश एवम् हिन्दी, नदी के दो तटों की भाँति अलग है। वहीं बौद्धों, सिद्धों नाथों एवम् जैनों की समस्त रचनाएँ अपभ्रंश में ही हैं जिसे इन्होंने हिन्दी साहित्य

से पृथक माना है । हालाँकि इनसे मिलते-जुलते विचार शुक्ल जी के भी रहे हैं । शुक्ल जी के विचार में - "अपभ्रंश की पुस्तकों में कई तो जैनों के धर्म-तत्त्व-निरूपण संबंधी जो साहित्य की कोटि में नहीं आतीं ।"[57] अन्य साहित्येतिहासकारों ने भी अपनी संस्तुति उपरोक्त बातों पर दिया है । साहित्येतिहासकार विश्वम्भर मानव ने भी स्वीकारा कि अपभ्रंश साहित्य "बौद्धों, सिद्धों, जैन धर्माचार्यों और नाथ-पंथियों की तो यह मुख्य भाषा ही है।"[58] पर कुछ विद्वानों के विचार अलग रहे हैं जिनमें डॉ. हजोरी प्रसाद द्विवेदी के विचार सर्वोपरि है । डॉ. द्विवेदी जी का मानना है कि "परवर्ती हिन्दी साहित्य में चरित्रगत-दृढ़ता, आचरण-शुद्धि और मानसिक-पवित्रता का जो स्वर सुनाई पड़ता है उसका श्रेय इस साहित्य को ही है ।"[59] वहीं द्विवेदी जी ने जैन साहित्य के सम्बन्ध में कहा है कि -- "जैन रचनाओं का महत्व बहुत अधिक है । ये हमें लोक-भाषा के काव्य रूपों को समझने में सहायता पहुँचाती हैं और साथ-ही उस काल की भाषागत अवस्थाओं और प्रवृतियों को समझने की कुंजी भी देती हैं ।"[60]

हिन्दी साहित्य के आविर्भाव-काल के सम्बन्ध में भी विद्वानों के मध्य मतान्तर देखा जा सकता है । "कुछ विद्वानों ने अपभ्रंश को हिन्दी से अभिन्न मानते हुए हिन्दी साहित्य का आविर्भाव काल लगभग सातवीं शदी से माना है जो वस्तुतः अपभ्रंश-साहित्य का आविर्भाव काल है ।"[61] आचार्य शुक्ल जी ने स्पष्टतः कहा कि जिन विद्वानों ने अपभ्रंश साहित्य के आविर्भाव काल को ही हिन्दी साहित्य का आविर्भाव काल स्वीकारा है और जिन आधारों पर इसे स्वीकारा गया है वे आधार ही अब अप्रमाणिक, अस्तित्वहीन या परवर्ती सिद्ध हो चुके हैं । इस तरह के आधार एवम् सोच को शुक्ल जी विचित्र कल्पना मानते हैं । वहीं 'हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास के प्रथम भाग में यह स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि -- "हिन्दी का प्रारंभ राजनीतिक परिस्थियों के कारण

वीरकाव्य से होता है''[62], पर आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने अपनी राय इस सम्बन्ध में कुछ अलग हट कर दी है । चूँकि, इन्होंने अपभ्रंश एवम् हिन्दी साहित्य को अलग-अलग स्वीकारा है अतः इस सम्बन्ध में ये ''हिन्दी-साहित्य का अविर्भाव सं. 1000 के लगभग से मानते हैं । इसके पूर्व की रचना हिन्दी-साहित्य के अधिकार क्षेत्र से बाह्य है । अपभ्रंश के भी दो विभाग हो सकते हैं -- पूर्वकालिक और उत्तरकालिक। पूर्वकालिक अपभ्रंश हिन्दी से दूर पड़ता है ; उत्तरकालिक निकट ।''[63] साथ ही इन्होंने यह भी स्वीकारा कि वे रचनाएँ जो हिन्दी साहित्य के अधिक निकट हैं हिन्दी-साहित्य की सीमा में आवृत की जानी चाहिये । इस बात का उल्लेख उन्होंने अपनी पुस्तक हिन्दी साहित्य का अतीत प्रथम भाग में इस प्रकार किया है । वे कहते हैं कि -- ''भाषा और साहित्य दोनों की दृष्टि से नैसर्गिक विकास प्राप्त अपभ्रंश ही साहित्य की सीमा में आवृत होता है ।''[64]

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने हिन्दी साहित्य के अतीत को समृद्ध माना है । वे कहते हैं कि किसी देशी भाषा के बनिष्पत हिन्दी साहित्य का अतीत समृद्ध है । साहित्येतिहासकार डॉ. श्री निवास शर्मा ने भी पाठकों का ध्यान प्राचीन ग्रंथों की ओर आकर्षित किया है । श्री शर्मा जी के अनुसार अब तक उपलब्ध बाङ्मय में ''वैदिक वाङ्मय में चारों वेद -- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद - वेद के छह अंग-- शिक्षा, कल्प, निरूक्त, छन्द, व्याकरण, ज्योतिष । ब्राह्मण ग्रंथ -- शतपथ ब्राह्मण, ऐतरेय, ताण्डय, कौशीतकी आदि आरण्यक -- वृहदारण्यक आदि । उपनिषद्-- ईश कठ केन आदि, दर्शन ग्रंथ -न्यायसांख्य वेदान्त मीमांसा, योग वैशेषिक आदि, यह सब विपुल साहित्य है । इसके पश्चात् वाल्मीकि रामायण, महाभारत, 18 पुराण, स्मृतिग्रंथ, काव्य, नाटक लौकिक संस्कृत के वाङ्मय के प्रसार हैं । वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत के बाद पालि का पिटक-साहित्य-विनय-पिटक, सुत्तपिटक, अभिधम्म-पिटक

और पिटकोत्तर साहित्य है । उसके बाद प्राकृत का 'कहा-साहित्य', सतसई साहित्य और 'प्रबन्ध-काव्य' है । उसके बाद अपभ्रंश का आगम-साहित्य, चरिउ-साहित्य, दूहा-साहित्य है ।''[65] इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी साहित्य का अतीत विपुल वाङ्मय की विभिन्न साहित्यिक कोटि के ग्रंथों से सम्पन्न है, ऋद्ध है, समृद्ध है ।

श्री मिश्रजी ने साहित्येतिहास के काल-विभाजन एवम् नामाकरण पर भी अपने विचार व्यक्त किये हैं । हम यह भी देखते हैं कि इन दो विवेच्च विषयों पर चर्चा मिश्रजी से पहले भी कई विद्वानों ने किया है । हम यहाँ उनके विचारों को भी देखने एवम् समझने का प्रयास करेगें । डॉ. श्री निवास शर्मा ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में इस आशय का विश्लेषण करते हुए कहा कि -- ''हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों में सबसे प्रथम प्रयास गार्साद तासी नामक फ्रांसीसी विद्वान का माना जाता है । वे पूर्वी भाषाओं के प्रोफेसर थे । उन्होंने 'इस्तवार द ल लितरेत्यूर ऐंदुई ऐ ऐदूस्तानी' के नाम से फ्रेंच भाषा में जिसका अर्थ है (हिन्दूई और हिन्दुस्तानी साहित्य का इतिहास) लिखा ।''[66] तत्पश्चात् शिवसिंह सेंगर, ग्रिसर्सन, मिश्रबन्धु आदि ने अलग-अलग दृष्टिकोण से साहित्येतिहास के ग्रंथ लिखे । डॉ. रमाशंकर शुक्ल रसाल ने ''आदिकाल को सं. 1000 से 1400 तक मानते हुए उसे बाल्यावस्था की संज्ञा दी है । इसी प्रकार उन्होंने मध्यकाल को किशोरावस्था और आधुनिक काल को युवावस्था कहा ।"[67] इस नामकरण को विद्वत समाज ने अस्वीकार किया । प्रो. वासुदेव सिंह ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास' में यह लिखा कि - ''रसाल जी ने साहित्य को व्यक्ति मानकर उसके तीन अवस्था-भेद कर दिये हैं । उनकी पद्धति के अनुसार शीघ्र ही हिन्दी की 'वृद्धावस्था' आने वाली है और कदाचित् सौ-दो सौ वर्षो बाद 'मृत्युकाल' भी आ जाएगा । ।''[68] इस प्रकार साहित्येतिहास के वर्गीकरण में अन्य विद्वानों के अतिरिक्त डॉ. रामकुमार वर्मा जी का भी स्थान है । डॉ. वर्मा ने

"आदि-काल को संधि-काल (सं. 650 - 1000) और चारणकाल (1000 - 1365) नामक दो शीर्षकों में विभक्त किया है और भक्ति-काव्य को सन्तकाव्य, प्रेमकाव्य में विभक्त किया है ।"[69] विद्वानों ने डॉ. वर्मा द्वारा सुझाये गये नामकरण के सम्बन्ध में यह तर्क दिया कि चारणकाल कोई नया नाम नहीं है यह तो डॉ. ग्रियर्सन द्वारा पहले ही दिया गया नाम है । डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त ने काल विभाजन एवम् नामकरण कुछ अलग ढंग से इस प्रकार किया - "1. प्रारम्भिक काल (1184 - 1350 ई.) 2. मध्यकाल (1350 - 1857 ई.) 3. आधुनिक काल (1857 से अब तक)"[70] पर विद्वानों ने डॉ. गुप्त के दिए गये नामकरण में से प्रारम्भिक काल' को पूर्व में मिश्र बन्धुओं द्वारा किए गये नामकरण 'आरम्भिक काल' से मिलता-जुलता बताया । इसके अतिरिक्त भी कई साहित्येतिहासकारों ने काल-विभाजन एवम् नामकरण को विवेचित करने का प्रयास किया पर विद्वत समाज ने यह महसूस किया कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी के पूर्व लिखे गये साहित्य के इतिहास ग्रंथों में वैज्ञानिक पद्धति का सर्वथा आभाव रहा जबकि शुक्लोत्तर साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में भी आचार्य शुक्ल द्वारा लिखे गये हिन्दी साहित्य का इतिहास ग्रंथ प्रकाश स्तम्भ के समान माना गया है। शुक्ल जी की यह विशेषता रही कि इन्होंने समाज की प्रवृत्तियों को लक्ष्य कर कालविभाजन एवम् नामकरण का प्रयास किया । एक स्थान पर शुक्ल जी लिखते हैं कि - "शिक्षित जनता की जिन-जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य स्वरूप में जो-जो परिवर्त्तन होते आए हैं, जिन-जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्य-धारा की भिन्न-भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं, उन सबके सम्यक् निरूपण तथा उसकी दृष्टि से किए हुए सुसंगत काल विभाग के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता था ।"[71] इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्ल जी ने प्रवृत्ति को केन्द्र में रखकर काल विभाजन एवम् नामकरण इस प्रकार किया -

"आदिकाल (वीरगाथाकाल , सं. 1050 - 1365)

पूर्वमध्यकाल (भक्तिकाल, सं. 1365 - 1700)

उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल, सं. 1700 - 1900)

आधुनिक काल (गद्यकाल, सं. 1900 - अबतक) "[72]

विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता एवम् प्रवृत्ति को दृष्टि में रखकर ही शुक्ल जी ने आदिकाल का नामकरण 'वीरगाथाकाल' रखा । पर डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त जी का मानना है कि -- "यदि एक टोकरी में पचास आम, बीस केले और दस संतरे हों, तो प्रमुखता के आधार पर उसे 'आम की टोकरी' कहना अवैज्ञानिक है, वैज्ञानिक दृष्टि से 'फलों की टोकरी कहना उचित होगा ।"[73] वस्तुतः प्रमुख प्रवृत्ति के सामने गौण प्रवृति की सर्वथा अनदेखी नहीं की जानी चाहिये । "प्रमुख प्रवृति को प्रमुख स्थान देना तो उचित है किन्तु गौण प्रवृत्तियों की सर्वथा उपेक्षा करना उन्हें गौण स्थान भी न देना अनुचित है ।"[74] डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की सोच थोड़ी अलग दीख पड़ती है । श्री द्विवेदी जी ने अपने ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास' में इस बात का उल्लेख किया है कि -- "दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के उपलब्ध लोकभाषा साहित्य को अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न भाषा का साहित्य कहा जा सकता है । वस्तुतः वह हिन्दी की आधुनिक बोलियों में से किसी-किसी के पूर्व रूप में ही उपलब्ध होता है । यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखक दसवीं शताब्दी से इस साहित्य का आरंभ स्वीकार करते हैं । इसी समय से हिन्दी भाषा का आदिकाल माना जा सकता है ।"[75] पर आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने शुक्ल जी द्वारा सुझाये गये नामकरण 'वीरगाथाकाल' को सटीक नहीं माना । उन्होंने इस बात का भी खण्डन किया कि आदिकाल की कुछ रचनाएँ अपभ्रंश की हैं, जिनमें कोई विशेष प्रवृति नहीं है। वहीं दूसरी तरह की रचनाएँ इन्होंने 'रासो' नामधारी बताया जिसके तीन रूप क्रमशः

"रासा, रासो, और रास"[76] नामधारी रचनाएँ अलग-अलग भाषाओं एवम् बोलियों के अनुरूप मिले, जिसमें रासा नामधारी रचनाएँ खड़ी बोली की प्रवृति के अनुरूप, रासो नामधारी रचनाएँ ब्रजभाषा की पद्धति के अनुरूप जबकि रास नामधारी रचनाएँ अवधी के चलन के अनुरूप पाये गये । वहीं कालों के नामकरण के सम्बन्ध में मिश्रजी का मानना है कि बहुधा काल-विभाजन एवम् नामकरण के लिए साहित्येतिहासकार कृति, पद्धति या विषय में से कोई एक के आधार पर ही अपने विचार रखता है । इनका मानना है कि कृति के आधार पर किया गया नामकरण स्थूल लक्ष्य का परिचायक है । इन्होंने इस बात का उल्लेख अपनी पुस्तक 'बिहारी' में करते हुए कहा कि - "रासो की भाँति सदा कृति की नामवाली एक रूप नहीं हुआ करती, अतः यह ढंग भी बहुत स्थूल लक्ष्य का परिचायक है ।"[77] वहीं पद्धति को केन्द्र में रखकर किए गये नामकरण को भी इन्होंने सटीक नहीं माना । इनके अनुसार - "पद्धतियाँ एक ही समय में कई होती हैं । आधुनिककाल 'गद्यकाल' तो कहा जाता है पर पद्य की रचना प्रचुर परिमाण में हो रही है । इसी गद्यकाल में 'छाययावाद' का डंका पिट चुका है पर उसकी समाई गद्यकाल में कहाँ है । इस प्रकार व्याप्ति निर्दृष्ट नहीं रह जाती । वस्तुतः इस प्रकार के नामकरण तभी ठीक माने जा सकते हैं जब साहित्य के वर्ण्य-विषय की एकरूपता किसी प्रकार घटित न होती हो।"[78] इसके साथ ही इन्होंने यह कहा कि "साहित्य के इतिहासों में विभाजन और नामकरण का सर्वोत्कृष्ट ढंग वर्ण्य-विषय की व्याप्ति के अनुसंधान से सम्बद्ध है।"[79] मिश्रजी ने वर्ण्य-विषय के दो विभाग किए -- पहला बाह्य और दूसरा आभ्यान्तर । इनकी दृष्टि से आदिकाल में वीर-पुरुषों की गाथाओं का वर्णन, ग्रंथों में मिलते हैं अतः वीरगाथा उनका वर्ण्य हुआ, वहीं कवियों ने जिस भाव या रस की अभिव्यक्ति को लक्ष्य करके काव्यबद्ध किया उस प्रवृत्ति को इन्होंने आभ्यान्तर पक्ष की संज्ञा दी । इसका उल्लेख उन्होंने अपनी पुस्तक 'बिहारी' में इस प्रकार किया

है - ''हिन्दी के आदिकाल को ही लीजिए । इस काल में वीर पुरुषों की गाथाओं का वर्णन करने वाले ग्रंथ अधिक मिलते हैं । अतः वीरगाथा उनका वर्ण्य हुआ । अर्थात् इन ग्रन्थों में बाह्यार्थ वीरकथा है। पर कवियों ने जिस भाव या रस की अभिव्यक्ति लक्ष्य करके काव्यबद्ध की वह भी तो वर्ण्य ही है । वह बाह्यार्थ नहीं तो काव्यार्थ तो है ही, अर्थात् प्रवृति का मानस या अभ्यांतर पक्ष है । *अतः इस दृष्टि से यदि आदिकाल को वीर-गाथा-काल न कहकर 'वीर रस-काल' या संक्षेप में 'वीर'-काल'* कहा जाय तो कोई हानि नहीं ।''[80] साहित्येतिहासकार लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने भी अन्तःसाक्ष्य वाली सामग्री की खोज को अधिक विश्वसनीय बताया है । इसका उल्लेख श्री वार्ष्णेय जी ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में करते हुए कहा कि - ''अन्तः साक्ष्य वाली सामग्री ही अधिक विश्वसनीय मानी जाती है । हिन्दी में अन्तःसाक्ष्य वाली सामग्री की खोज और वैज्ञानिक सम्पादन-कार्य समय-समय पर विविध व्यक्तियों और संस्थाओं द्वारा होता रहा है ।''[81] अतः इस दृष्टि को केन्द्र में रखकर मिश्रजी ने आदिकाल जिसे इन्होंने वीररस काल या वीर काल की संज्ञा दी तथा इसकी समय सीमा में 50 वर्षों के अन्तर को उद्देश्य के निर्धारण हेतु आवश्यक समझा तथा इस काल की अन्तिम समय सीमा सदी की समाप्ति तक ले जाने की वकालत की, ताकि सुविधा एवम् विकास की गति का निर्धारण हो सके । यहाँ इन्होंने स्पष्ट किया कि - ''यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी या पुरानी हिन्दी के साहित्य का आरम्भ 1050 से ही माना जा सकता है, क्योंकि उससे भी पूर्ववर्ती काल में उसी प्रकार की भाषा में साहित्य-निर्माण के प्रमाण मिलते हैं ।''[82] साथ-ही-साथ इन्होंने विद्यापति को आदि कवि होने की पुष्टि की । इसके लिए इन्होंने विद्यापति के सम्पूर्ण रचनात्मक व्यक्तित्व पर प्रकाश तीन रूपों में डाला -1. भाषा की प्रकृति, 2. साहित्य की परम्परा और 3. संस्कृति की एकता । इस आधार पर उनका मानना है कि-- ''भाषा की प्रकृति और प्रवृति के कारण विद्यापति की

पदावली की भाषा, अवधी के निकट पड़ती है । यदि हिन्दी वाले विद्यापति को अपना कवि मानते हैं तो भाषा-विज्ञान इन्हें हिन्दी के इतिहास से निकाल नहीं सकता ।''[83] भाषागत आधार पर इन्होंने विद्यापति की रचना को हिन्दी साहित्य की परम्परा में तिरोहित माना । साथ ही यह कहा कि ''हिन्दी साहित्य की अब तक उपलब्ध सामग्री के ऐतिहासिक प्रमाणों से निभ्रांत रूप से उसके आदि कवि विद्यापति ठहरते हैं ।''[84]

श्री शुक्ल जी द्वारा निर्धारित पूर्व मध्यकाल की काल सीमा को मिश्रजी ने भी स्वीकारते हुए कहा कि - ''भक्ति की रचनाएँ सम्वत् 1700 तक छाई हुई थी।''[85] श्री शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य के 900 वर्षों के इतिहास को चार कालों में विभाजित किया है जबकि श्री मिश्रजी ने 1000 वर्षों के साहित्य के इतिहास को चार कालों में विभाजित किया है । ''इस प्रकार एक सहस्त्र (1000) वैक्रम से दो सहस्त्र (2000) वैक्रम तक अर्थात् एक सहस्त्र वर्षों का दीर्घकालीन हिन्दी साहित्य है ।''[86] एक सहस्त्र वर्षों को विवेचित करते हुए इन्होंने कहा कि - ''मध्यकाल के दो विभाग हैं-- पूर्व मध्यकाल और उत्तर मध्यकाल । पूर्व मध्यकाल सं. 1400 से 1700 तक, उत्तर मध्यकाल सं. 1700 से 1900 तक और आधुनिक काल सं. 1900 से 2000 तक है । आदिकाल या ऐतिहासिकों का वीरगाथाकाल 400 वर्षों का, पूर्व मध्यकाल या भक्तिकाल 300 वर्षों का, उत्तर मध्यकाल या रीतिकाल अथवा श्रृंगारकाल 200 वर्षों का तथा आधुनिक काल या गद्यकाल 100 वर्षों का है ।''[87] भक्तिकाल नामकरण के सम्बन्ध में मिश्रजी का मानना है कि ''भक्तिकाल नाम में भक्ति शब्द की व्याप्ति उसके भाव होने से अधिक है ।''[88] भक्तिकाल को इन्होंने समृद्ध एवम् सुसम्पन्न माना क्योंकि इस काल में अनेक विद्वानों एवम् रचनाकारों का आगमन हुआ है । इसका उल्लेख इन्होंने अपनी पुस्तक हिन्दी साहित्य का अतीत भाग - 1 में इस प्रकार किया है ।

इनके अनुसार - ''हिन्दी साहित्य की सच्ची समृद्धि उसके मध्यकाल की है । मध्यकाल में पूर्वमध्यकाल भक्तिकाल है और उत्तर मध्यकाल रीतिकाल या श्रृंगार काल।''[89] श्री मिश्रजी ने पूर्वमध्य काल अर्थात् भक्तिकाल को उपविभागों में बाँटकर उसके अन्तर्गत आने वाले सम्प्रदाय एवम् जुड़े विद्वानों के सम्बन्ध में विमर्श किया है । भक्तिकाल को उन्होंने निम्नलिखित उपविभागों में बाँटा है, ये हैं क्रमशः निगुर्ण पंथ के अन्तर्गत ज्ञानमार्गी एवम् प्रेममार्गी शाखा तथा कृष्णभक्ति एवम् रामभक्ति शाखा । ज्ञानमार्गी शाखा के अन्तर्गत इन्होंने जिन संत-कवियों का विवेचन किया है उनमें कबीर दास, गुरुनानक, दादूदयाल, सुन्दरदास आदि हैं वहीं प्रेममार्गी शाखा के अन्तर्गत इन्होंने मलिक मोहम्मद जायसी को प्रमुखता दी है । कृष्णभक्ति शाखा के अन्तर्गत इन्होंने जिन विद्वानों की चर्चा की उनमें सूरदास, नंददास, नरोत्तम दास तथा मीराबाई हैं, जबकि रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत इन्होंने गोस्वामी तुलसीदास का विवेचन किया है। कबीर दास के सम्बन्ध में इनका मानना है कि कबीरदास जी ने निवृत्तिमार्ग का उपदेश दिया जिससे तत्कालीन समाज का अवश्य कल्याण हुआ, दूरियाँ मिटीं, वैषम्य मिटा । वहीं सूरदास के सम्बन्ध में इनका मानना है कि सूरदास जी निवृत्ति मार्गोपदेश के कारण ही निर्गुन पंथ का विरोध कर भक्तिमार्ग को प्रवृतिमूलक माना तथा उद्धव के प्रतिपक्ष में गोपियों को खड़ा किया जिनमें लोक से जुड़े रहने की प्रवृति थी । इसके अतिरिक्त इन्होंने कृष्ण-भक्ति शाखा की महत्ता पर भी प्रकाश डाला । इनके अनुसार - ''कृष्ण-भक्ति शाखा ने सात्विक प्रेम की महत्ता का प्रतिपादन करके जीवन में फैले या फैलनेवाले बाजारू प्रेम या लोभ की व्यभिचारी वृति का उन्मूलन किया । इस भक्ति के प्रसार से जीवन से व्यक्ति-बद्ध प्रेम में निर्मलत, त्याग, तपस्या का भाव पुष्टि को प्राप्त हुआ ।''[90]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मिश्रजी आदिकाल अथवा वीरगाथाकाल या

वीरकाल की सीमा सं. 1000 वि. से 1400 वि., पुनः पूर्वमध्यकाल संवत् 1400 वि. से 1700 वि. एवम् उत्तर मध्यकाल सं 1700 वि. से 1900 वि. तथा आधुनिककाल सं. 1900 वि. से 2000 वि. का मानते हैं जिसमें कुलमिलाकर आदिकाल या वीरगाथा काल या वीरकाल कुल 400 वर्षों का जबकि पूर्व मध्यकाल 300 वर्षों का, उत्तर मध्यकाल या रीतिकाल या श्रृंगारकाल 200 वर्षों का एवम् आधुनिक काल या गद्यकाल 100 वर्षों का माना । इस प्रकार एक सहस्त्र (1000) वैक्रम से दो सहस्त्र (2000) वैक्रम अर्थात् एक सहस्त्र वर्षों का दीर्घकालीन हिन्दी साहित्य इन्होंने स्वीकारा है ।

4. **ग ii हिन्दी साहित्य का अतीत भाग - 2**

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का अतीत दूसरा भाग भी साहित्य के इतिहास की पुस्तक मानी जाती है, जिसमें उत्तर-मध्यकाल के हिन्दी साहित्य की विस्तार से चर्चा की गई है । वस्तुतः "यह वह काल है जिसमें कला की साधना विशुद्ध कला के धरातल पर की गयी ।"[91] उत्तरमध्यकाल के सम्बन्ध में जितने भी नामकरण विद्वानों द्वारा सुझाएँ गये हैं उनमें से कुछ महत्वपूर्ण नामकरणों पर इन्होंने अपने विचार व्यक्त किए हैं, साथ-ही उत्तरमध्यकाल के महत्वपूर्ण रचनाकारों की रचनाओं को रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध एवम् रीतिमुक्त काव्यधाराओं के अन्तर्गत विवेचित किया है ।

इन्होंने विद्वानों के वैसे विचारों को सिरे से खारिज किया है जिसमें यह बात आई है कि - "हिन्दी का मध्यकाल भक्तिकाल है । उसे भक्तिकाल और रीतिकाल या श्रृंगारकाल में विभाजित करना उचित नहीं ।"[92] वस्तुतः विभाजन एवम् नामकरण काल विशेष अथवा युग की प्रवृतियों का सूचक होता है । इनके विचार में - "विभाजन

और नामकरण में एक ओर तो किसी विशेष काल या युग की व्यापक प्रवृत्तियों के बोध का लक्ष्य होता है और दूसरी ओर अन्तरविभाग की सुभीता ।''[93]

वस्तुतः उत्तरवर्ती मध्यकाल को साहित्येतिहासकारों ने अलग-अलग नामों से सम्बोधित किया है -- ''किसी ने अलंकृतकाल, किसी ने रीतिकाल और किसी ने श्रृंगर-काल नाम से अभिहित किया ।''[94] यहाँ तक कि इस काल को रीति-श्रृंगारयुग नाम से भी अभिहित करने का प्रयास किया गया ।

इस सम्बन्ध में मिश्रजी का मानना है कि साहित्य के काल-विभाजन एवम् नामकरण मुख्यतया कृति, कर्त्ता, विषय और पद्धति को दृष्टि-पथ पर रखकर किया जाता है । पर ''साहित्य के इतिहासों में विभाजन और नामकरण का सर्वोत्कृष्ट ढंग वर्ण्य-विषय की व्याप्ति के अनुसंधान से संबद्ध है ।''[95] वर्ण्य-विषय की दृष्टि में इन्होंने दो पक्ष स्वीकार किए हैं -- एक अभ्यांतर तथा दूसरा बाह्य पक्ष, जिसमें से इन्होंने अभ्यांतर पक्ष की वकालत की है । इसी दृष्टि पथ के आधार पर इन्होंने उत्तरमध्यकाल को श्रृंगारकाल कहना उचित समझा । हालाँकि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल का नाम रीतिकाल रखा, साथ-ही उन्होंने यह भी कहा कि -- ''वास्तव में श्रृंगार और वीर इन्हीं दो रसों की कविता इस काल में हुई । प्रधानता श्रृंगार की ही रही । इससे इस काल को रस के विचार से कोई श्रृंगार काल कहे तो कह सकता है।''[96] यहाँ हम देख सकते हैं कि शुक्ल जी ने भी श्रृंगारकाल नाम के प्रति अपना अभिमत दिया है, वही रीतिकाल नामकरण के प्रति एक तरह से असंतोष का भाव व्यक्त होता है । एक स्थान पर आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने रीतिकाल नाम से कहीं अधिक महत्व अलंकृतकाल नाम को दिया है । इस आशय का उल्लेख इन्होंने 'हिन्दी साहित्य का अतीत भाग - 2' में इस प्रकार किया है, इनके अनुसार -- ''सच

पूछा जाय तो अलंकृतकाल नाम रीतिकाल नाम से कहीं अधिक युगगत प्रवृति का प्रदर्शक है ।''[97] वहीं रीतिकाल नामकरण के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए उन्होंने कहा - ''यदि रीतिकाल नाम की ओर देखते हैं तो उसमें रीति अर्थात् रस, अलंकार, शब्द-शक्ति, नायक, नायिका, पिंगल आदि काव्यरीति अवश्य वर्ण्य-विषय ही हैं पर 'रीति' शब्द बाह्यार्थ का ही बोधक है, अभ्यांतर का नहीं ।''[98] इसके अतिरिक्त मिश्रजी ने रीति एवम् श्रृंगार का तुलनात्मक विवेचन करते हुए कहा कि - ''रीति की सीमा में जितनी कृतियाँ समाविष्ट हैं वे अधिकतर श्रृंगार की हैं । थोड़ी सी वीररस या शुद्ध भक्ति की रचनाएँ श्रृंगार की सीमा में आबद्ध नहीं होती । जिन्होंने नवरस का प्रतिपादन लक्ष्य बनाया उन्होंने भी श्रृंगार की व्यापक प्रवृति के कारण विस्तार से श्रृंगार का ही वर्णन किया ।''[99] आचार्य मिश्रजी ने उत्तरमध्यकाल को श्रृंगारकाल ही कहना इसलिए भी उचित समझा क्योंकि उन्होंने पाया कि उस काल में जितने भी ग्रंथों की रचना हुई प्रायः सभी ग्रंथों के रचनाकारों की रचना का अभ्यांतर पक्ष किसी न किसी रूप में श्रृंगार ही रहा । चाहे वो केशवदास हों, देव, पद्माकर या फिर भूषण ही क्यों न हों सब की दशा लगभग एक सी रही । पर हाँ, भूषण ने अपनी रचना वीररस में की । तो हम कह सकते हैं कि भूषण की रचना वीर-रस की है । इस आशय का भी उल्लेख मिश्रजी इस प्रकार करते हैं । इनके अनुसार -- ''भूषण ने शिवाजी की प्रशंसा शिवभूषण में की । सारी रचना वीररस में की, पर उनके बहुत से फुटकल छंद श्रृंगार के भी मिलते हैं, जो 'रीति' के पूरे कायदे-कानून के अनुसार निर्मित हैं ।''[100] कहा जा सकता है कि वीर-रस की योजना में श्रृंगार को भी स्थान मिला है जो यह सिद्ध करता है कि पूरे रीतिकाल के समस्त ग्रंथों की अगर छानबीन की जाय तो सभी प्रकार के ग्रंथों में श्रृंगार किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान मिलेगा और ग्रंथ श्रृंगार-संवलित।

डॉ. बच्चन सिंह ने भी अपने साहित्येतिहास में यह माना कि रीतिकाल की अधिकांश रचनाएँ श्रृंगारिक ही है । इसका उल्लेख डॉ. सिंह ने इस प्रकार करते हुए कहा कि - "रीतिकाल में कुछ कवियों में चौंकाने की प्रवृत्ति है ; पर अधिकांश ने सरस श्रृंगारिक रचनाएँ की हैं ।"[101] डॉ. सिंह ने आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी द्वारा दिये गये नामकरण पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा कि - "विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इस काल को 'श्रृंगारकाल' कहते हैं । उनके मतानुसार 'रीति' की संकीर्ण सीमा में घनआनंद, ठाकुर, बोधा आदि अट नहीं पाते । इनके लिए शुक्लजी को फुटकल खाता खोलना पड़ा है । 'श्रृंगारकाल' नाम में रीतिबद्ध और रीतिमुक्त दोनों प्रकार के कवियों को समाविष्ट किया जा सकता है ।"[102] साथ ही डॉ. बच्चन सिंह ने श्री मिश्र जी के 'रीति' शब्द के न छोड़ पाने का मोह को भी विवेचित करते हुए कहा कि - "श्रृंगारकाल' नाम स्वीकार कर लेने पर भी भूषण आदि के लिए फुटकल खाता खोलना ही पड़ेगा । श्रृंगारकाल नाम रखकर भी मिश्रजी रीति शब्द से मुक्त नहीं हो पाते ।"[103] साहित्येतिहासकार हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी कहा कि संसार के साहित्य में श्रृंगार-रस का बोलबाला है, यहाँ तक कि "वीर-रस और धर्म सम्बन्धी रचनाओं में भी सर्वत्र ही इस रस ने अपना प्रभाव विस्तार किया है । सगुण भाव के भक्तों ने तो श्रृंगार रस को सम्पूर्ण भाव से अपना लिया ।"[104] हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने भी कहा कि सत्रहवीं शताब्दी के बाद हिन्दी साहित्य में प्रधानता श्रृंगार रस की ही रही । इस आशय का उल्लेख श्री द्विवेदी जी अपने साहित्येतिहास ग्रंथ में यों किया है -- "सत्रहवीं शताब्दी के बाद लगभग प्रत्येक कवि की कविता में श्रीकृष्ण और गोपियों का नाम तो अवश्य आ जाता है, पर प्रधानता ऐहिकतापरक श्रृंगार रस की ही रह जाती है।"[105]

डॉ. कृष्ण धवन कहते हैं कि - "वैसे तो शुक्ल जी के रीतिकाल नामकरण से सभी विद्वान सहमत हैं लेकिन इस युग को रीतिकाल कहने से इस युग में जो वीर और भक्ति का काव्य रचा गया उसकी उपेक्षा हो जाती है ।"[106] पर अधिकांश विद्वानों ने शुक्ल जी के प्रति सहमति जतायी है । स्पष्टतः उत्तरमध्यकाल के नामकरण के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि रीतिकाल अथवा श्रृंगारकाल के अतिरिक्त जितने भी नामकरण इस काल के सुझाए गये उसका खण्डन विद्वानों ने किया और लगभग सभी साहित्येतिहास के विद्वानों ने इस काल में श्रृंगार की प्रधानता को स्वीकारा । 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' के छठे भाग में 'प्रधान रस श्रृंगार' शीर्षक के तहत रचनाकार इस तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि -- "रीतिग्रंथकार कवियों तथा रीतिबद्ध कवियों के काव्यों पर दृष्टि डालने के उपरांत हम यह कह सकते हैं कि उनमें श्रृंगार रस का ही प्राधन्य है ।"[107] यहाँ तक कि आचार्य शुक्ल जी ने भी इसी प्रधानता को देखते हुए श्रृंगारकाल जैसे नामकरण में भी अपनी सहमति जताई । आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी का यह भी मानना है कि -- "श्रृंगारकाल नाम स्वीकृत करने से वर्ण्य-विषय की व्याप्ति के बोध के साथ ही फुटकल खाते से निकलकर कई उत्कृष्ट कवि असल खाते में आ जाते हैं ।"[108]

उत्तरमध्यकाल की काल-सीमा आचार्य शुक्ल जी ने संवत 1700 से 1900 तक माना है । जबकि आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी इस काल का आरम्भ संवत 1700 से 100 वर्ष पूर्व ले जाते हैं । सौ वर्ष पूर्व ले जाने के पीछे उनकी यही धारणा रही है कि इस काल की कड़ी भक्तिकाल की कड़ी के गर्भ से घूमती हुई आगे बढ़ी है । यहाँ तक कि - "अकबर के दरबारी कहे जानेवाले 'करनेल' कवि ने कर्णाभरण, श्रुतिभूषण और भूपभूषण उसी आदर्श पर निर्मित किए जिस आदर्श पर आगे

चलकर अन्य अनेक अलंकार-ग्रंथों का निरूपण हुआ । जयदेव का चंद्रलोक ही इनका भी आधार था ।''[109] आचार्य मिश्रजी का यह भी मानना है कि श्रृंगार की प्रवृत्ति का लोप साहित्य में कभी नहीं होता और यह प्रवृति प्राकृत और अपभ्रंश-काल के साथ-साथ वीरगाथा काल या वीरकाल, यहाँ तक कि भक्तिकाल में भी निरंतर प्रवाहित होती रही । फर्क इतना ही रहा कि कभी यह मंद हुई तो कभी प्रखर । खासकर संवत 1600 से इस काल का आरम्भ मानने के पीछे उनका तर्क यही रहा कि भक्ति की धारा के समानान्तर श्रृंगार की पृथक धारा भी साथ-साथ उस समय से प्रवाहित होती दिखाई देती है । इसके सम्बन्ध में मिश्रजी ने चौदह रचनाकारों के नाम एवम् उनकी रचनाओं को अपने साहित्य के इतिहास 'हिन्दी साहित्य का अतीत - दूसरा भाग' में उधृत किया है, जिनमें प्रमुखतः मोहनलाल, करनेस, केशवदास, सेनापति आदि हैं, जिनकी रचनाएँ क्रमशः श्रृंगारसागर, कर्णाभरण, रसिकप्रिया, सङ्ऋतुवर्णन आदि वर्णित हैं । अतः इनका स्पष्ट मानना है कि - ''संवत 1600 के आगे-पीछे ही श्रृंगार काल की सारी प्रवृत्तियाँ प्रवर्तित हो जाती हैं । रीतिमुक्त रचना करनेवाले रसखानि और आलम भी 1640 के आस-पास अपनी वाग्धारा बहा रहे थे ।''[110]

इस काल के विभाजन के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में स्पष्ट लिखा है कि - ''रीतिकाल के भीतर रीतिबद्ध रचना की जो परम्परा चली है उसका उपविभाग करने का कोई संगत आधार मुझे नहीं मिला । रचना के स्वरूप आदि में कोई स्पष्ट भेद निरूपित किए बिना विभाग कैसे किया जा सकता है ?''[111] जाहिर है कि मिश्रजी ने पुष्ट प्रमाण के आधार पर इस काल का नामकरण श्रृंगारकाल किया साथ ही साहित्यिक दृष्टि से काल का उपविभाग भी प्रस्तुत किया । इन्होंने माना कि - ''रीति की सारी सामग्री रीति-ग्रंथकारों

का साधन थी, वह उनकी काव्य-सामग्री थी, शास्त्र-सामग्री नहीं । श्रृंगारिक-रचना रीतिबद्ध थी । रीतिबद्ध कृति उन्हीं की नहीं थी जो लक्षण लिखकर और लक्ष्य बनाकर उसमें उसका विनियोग करते थे, प्रत्युत उनकी कृति भी रीतिबद्ध ही थी जो लक्षणग्रंथ न रचकर रीति का संभार लेकर केवल लक्ष्य प्रस्तुत करते थे, जैसे बिहारी, रसनिधि आदि ।''[112] उन्होंने रीतिबद्ध एवम् रीतिमुक्त रचनाकारों में भी अन्तर बताते हुए कहा कि - ''रीतिबद्धकर्त्ता की कृति चेतनावस्था (कान्सस स्टेज) में गढ़ी जाती थी और रीतिमुक्त कर्ता की कविता अंतः संज्ञा (सबकांसस या अनकांसस स्टेज) में लीन हो जाने पर आप-से-आप उद्‌भूत होती थी ।''[113] इस प्रकार उन्होंने पूरे श्रृंगारकाल को इस प्रकार उपविभाजित किया --

''श्रृंगारकाल

- ↓ रीतिबद्ध काव्यधारा
  - ↓ लक्षणबद्ध काव्य
  - ↓ लक्ष्यमात्र काव्य
- ↓ रीतिमुक्त या स्वच्छंद काव्यधारा
  - ↓ रहस्योन्मुख काव्य
  - ↓ शुद्ध प्रेमकाव्य''[114]

इस विभाजन से इतना तो फर्क अवश्य पड़ा कि जिन रचनाकारों को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जा रहा था वे अपने क्षेत्र के प्रतिनिधि कवि सिद्ध हुए जिनमें ठाकुर, आलम, बोधा, घनानंद आदि का नाम लिया जा सकता है । आचार्य मिश्रजी ने संवत 1600 से 1975 तक के समय को अलग-अलग उपविभागो में विभक्त कर विभिन्न संज्ञाओं से अभीहित किया । उनके अनुसार चूँकि भक्तिकाल से ही श्रृंगार की प्रवृति धीरे-धीरे प्रबलता की ओर बढ़ने लगी थी अतः संवत् 1600 से संवत् 1700 तक के समय को इन्होंने प्रस्तावना-काल या उपक्रमकाल कहा । 1900 से 1975

तक को अवसान-काल या उपसंहारकाल कहा । आगे कहते हैं कि संत 1975 तक आते-आते श्रृंगारकाल एकदम स्वच्छंद हो गई ।

डॉ. नगेन्द्र ने भी अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखा है कि -- ''श्रृंगारिकता की प्रवृत्ति रीतिकवियों की कविता का प्राण है ।''[115] डॉ. नगेन्द्र इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि इस काल-विशेष में श्रृंगारपरक लक्षण ग्रन्थों की रचना हुई । पर इसके वावजूद भी डॉ नगेन्द्र ने श्री मिश्रजी द्वारा सुझाए श्रृंगारकाल नामकरण को युक्ति संगत नहीं माना । ये यह स्वीकार करते हैं कि - ''इसमें सन्देह नहीं कि इस युग में अधिकांश रचनाएँ श्रृंगारिक ही हैं, तथापि ये आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए लिखी गयी हैं ।''[116] कुल मिलाकर डॉ. नगेन्द्र ने इस काल के लिए श्रृंगारकाल नामकरण से ज्यादा तवज्जों 'रीतिकाल' नामकरण को दिया है । दूसरी तरफ हम देखते हैं कि डॉ. नगेन्द्र ने इस काल को रीतिकाल संज्ञा देना भी अपने-आप में व्यापक नहीं माना है । डॉ. नगेन्द्र के अनुसार - ''यद्यपि यह कहा जा सकता है कि 'रीतिकाल' संज्ञा भी अपने आप में व्यापक नहीं है, क्योंकि घनानन्द, आलम, बोधा, ठाकुर, सूदन आदि वे कवि भी तो इसके अन्तर्गत नहीं आ पाते जिन्होंने अपने काव्य-ग्रंथों की रचना न तो काव्यांगों के विवेचन के लिए की और न उन पर काव्यशास्त्र का प्रभाव ही रहा ।''[117]

डॉ. कृष्ण धवन ने भी अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का इतिहास परम्परा और विकास' में एक स्थान पर स्पष्ट किया है कि आचार्य शुक्ल जी द्वारा सुझाए नामकरण रीतिकाल में कुछ भ्रांति अवश्य है । डॉ. धवन लिखते हैं कि - ''रीतिकाल नाम देने से इस युग के सबसे श्रेष्ठ कवि आनन्दघन, रसखान तथा बोधा रीतिकाल की सीमा में समा नहीं पाते, क्योंकि इन कवियों ने न तो लक्षण ग्रंथों की रचना की और न ही रीतिकालीन कविता की पद्धति को ही स्वीकार किया । यहाँ

शुक्ल जी दुविधा में पड़ जाते हैं ।"[118] हलाँकि डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी जी यह मानते हैं कि श्रृंगार रस की साधना में सन्तुलित दृष्टि का अभाव है । इस तथ्य का उल्लेख करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं कि -- "रीतिकाल का काव्य यद्यपि श्रृंगार प्रधान है, पर इस श्रृंगाररस की साधना में जीवन की सन्तुलित दृष्टि का अभाव है ।"[119] वहीं डॉ. बच्चन सिंह 'श्रृंगारकाल' नामकरण पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहते हैं कि-- "श्रृंगारकाल नाम स्वीकार कर लेने पर भी भूषण आदि के लिए फुटकल खाता खोलना ही पड़ेगा । श्रृंगारकाल नाम रखकर भी मिश्रजी रीति शब्द से मुक्त नहीं हो पाते हैं।"[120] इतना तो तय है कि इस काल में श्रृंगार की प्रधानता लगभग सभी साहित्येतिहासकारों ने स्वीकार की है यहाँ तक कि - "हिन्दी साहित्य के वृहत् इतिहास के षष्ठ भाग का नाम श्रृंगारकाल रखना इसके मूल आयोजकों ने अत्यधिक समीचीन समझा था ।"[121] हलाँकि डॉ. नगेन्द्र ने श्रृंगारकाल की तुलना में रीतिकाल नामकरण की वकालत करते हुए हिन्दी साहित्य के वृहत् इतिहास के षष्ठ भाग की सम्पादकीय वक्तव्य में लिखा है कि - "अनेक कारणों से हमने परम्परा सिद्ध 'रीतिकाल' नाम ही ग्रहण किया है, श्रृंगार काल नहीं । यों तो दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं, फिर भी श्रृंगार की अपेक्षा 'रीति' शब्द ही हमारे दृष्टिकोण के अधिक निकट है । इस साधारण से परिवतर्तन के लिए हम इतिहास के मूल आयोजकों से क्षमायाचना करते हैं ।"[122] यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि मिश्रजी ने भी कभी रीति शब्द का बहिष्कार नहीं किया पर उन्होंने इतना अवश्य कहा कि - "श्रृंगारकाल नाम देनेवाला 'रीति' का बहिष्कार कब करता है । प्रवृति के अधिकार शीर्षक में श्रृंगार को और उसके पेटे में रीतिबद्ध काव्य को रखने में पूर्ण सौकर्य है । यह विद्या या सुविधा आज नहीं तो कल सर्वमान्य होकर रहेगी, ऐसा दृढ़ विश्वास है ।"[123] उन्होंने यह भी कहा कि जिन विद्वानों ने रीति का पल्ला पकड़ा वे सिर्फ सहारे के लिए ही पकड़ा,

वस्तुतः वे सब कहना चाहते थे श्रृंगार ही अर्थात् श्रृंगारकाल के ही पक्षधर थे । डॉ. रामबहादुर राय ने मिश्रजी द्वारा श्रृंगारकाल के विभाजन पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि - "मिश्रजी ने श्रृंगारकाल के विभाजन में उस काल को प्रभावित करने वाले साहित्य और उस समय की वर्त्तमान पद्धति के आधार पर अपना निर्णय दिया है ।"[124]

इस काल के नामकरण के आधार पर ही मिश्रजी ने श्रृंगारिक रचना को रीतिबद्ध माना । इन्होंने उनकी कृति को रीतिबद्ध नहीं माना जो लक्षण लिखकर और लक्ष्य बनाकर उसमें उसका विनियोग करते थे । वहीं रीतिबद्ध श्रेणी में उनको भी रखा - "जो लक्षणग्रंथ न रचकर रीति का संभार लेकर केवल लक्ष्य प्रस्तुत करते थे, जैसे बिहारी, रसनिधि आदि ।"[125] बिहारी को रीतिबद्ध मानने के पीछे श्री मिश्रजी का यही तर्क था कि बिहारी की सतसैया में लक्षण की बद्धता ढीली रूप में भी अवश्य थी--

"रह्यौ चकित चहुँधा चितै चित मेरो मति भूमि ।

सूर उर्द आएँ रही, दृगनि साँझ सी फूलि ।।"[126]

वहीं दूसरी तरफ वैसे कवि को इन्होंने स्वच्छंद या रीतिमुक्त कवि कहा जो रीतिबद्ध रचना को उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे । ये वास्तव में रीति में बंधना नहीं चाहते थे । होता यह है कि --"साहित्य के अन्तर्गत कोई नई प्रतिभा बाँधकर कार्य नहीं कर सकती । प्रतिभा संपन्न कवियों के लिए यह बड़ा स्वाभाविक था कि वे परिपाटी को तोड़कर स्वतंत्र रीति से रचना करें ।"[127] जिसमें घनानंद आदि का नाम लिया जा सकता है । हलाँकि डॉ. बच्चन सिंह रीतिकाल के वर्गीकरण की मान्य पद्धति को वैज्ञानिक नहीं मानते । श्री सिंह के अनुसार घनआनन्द, ठाकुर, बोधा आदि भी रीति से सर्वथा मुक्त नहीं हैं । उनकी रचनाओं पर रीति का प्रभाव है । इस प्रकार रीतिकाल

का विभाजन डॉ. सिंह ने अपनी साहित्येतिहास की पुस्तक में करते हुए कहा कि -- ''रीतिकाल का संगत उपविभाजन करने के लिए उसे बद्ध-रीति और मुक्त-रीति की श्रेणियों में बाँटना होगा । मुक्तरीति का अभिप्राय हे रीति से मुक्त होते हुए भी रीति के लिए रहना ।''[128]

डॉ. नगेन्द्र द्वारा सम्पादित ग्रन्थ हिन्दी साहित्य का इतिहास में 'रीतिमुक्त' नामकरण के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए स्पष्ट किया गया है कि -- ''घनानन्द, बोधा आदि कतिपय उत्कृष्ट कोटि के कवियों के विषय में भी कहा जा सकता है कि इन इने-गिने कवियों की पृथक प्रवृत्ति को 'रीतिमुक्त' नाम दे देने में कोई हर्ज न होगा।''[129] यहाँ हम देख सकते हैं कि धुमा-फिराकर आचार्य मिश्रजी के विभाजन की स्वीकृति मिलती है ।

इस प्रकार रीतिबद्ध काव्य के सम्बन्ध में यह स्पष्ट है कि वैसे रचनाकार जिन्होंने लक्षणग्रंथ लिखकर और लक्ष्य बनाकर अपनी रचनाएँ की वैसी रचनाएँ रीतिबद्ध काव्य के अन्तगर्त समाहित की गयी । लगभग सभी विद्वान यह भी मानते हैं कि इस काल की रीतिबद्ध रचना दरबारी है । इस तथ्य को विवेचित करते हुए मिश्रजी कहते हैं कि -- ''दरबारी कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि उसका रचयिता किसी दरबार के आश्रय में रहता था और वहाँ से वृत्ति पाता था । उसका तात्पर्य यह भी है कि वह अपने आश्रयदाता की रुचि का ध्यान रखकर उसका निर्माण करता था और उसके मनोरंजन में सहायक होता था ।''[130] उदाहरण के तौर पर उन्होंने केशवदस का नाम लिया है जो ओरछा के इन्द्रजीत के दरबार में रहते थे और कविता करते थे, पुराण बाचते एवम् इन्द्रजीत की वेश्याओं को साहित्य पढ़ाते थे । इस काल की रचनाएँ राजे-रजवाड़ों के रंजन के साथ-साथ वृत्ति प्राप्ति का जहाँ एक ओर साधन थी वहीं दूसरी ओर कल्याणकारी भी रही । श्री मिश्रजी इस सम्बन्ध में कहते हैं कि --

"बिहारी ने जयपुर-नरेश को अपनी कविता के बल से घोर श्रृंगार से उबारा था, यह जगतप्रसिद्ध है ।"[131] रीतिबद्ध काव्य शाखा के अन्तर्गत इन्होंने आचार्य केशवदास तथा उनकी रचनाओं का विवेचन-विश्लेषण विस्तार से किया है, साथ ही सूरति मिश्र, सेनापति, देव, पद्माकर, भिखारी दास एवम् इन लोगों से जुड़े प्रमुख कृतियों पर भी व्यापक प्रकाश डाला है ।

रीतिसिद्ध कवि को मिश्रजी मध्यम मार्गीय मानते हैं । इनके अनुसार रीतिसिद्ध वे हैं - "जिन्होंने रीति की सारी परम्परा सिद्ध कर ली थी अर्थात् रचनाएँ जिन्होंने रीति की बँधी परिपाटी के अनुकूल ही की हैं पर लक्षणग्रंथ प्रस्तुत न करके स्वतंत्र रूप से अपनी रचनाएँ रची हैं ।"[132] उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि रीतिसिद्ध कवि रीति से बँधे भी थे और कुछ स्वच्छंद भी यही कारण है कि बिहारी के दोहे अन्य रीतिग्रंथकारों से पृथक हैं क्योंकि "बिहारी रीति से बँधकर भी स्वतंत्र है।"[133] इसके पीछे कारण मिश्रजी यह बताते हैं, कि शास्त्रकथित-संपादन मात्र इनका लक्ष्य नहीं था। इसके अतिरिक्त ऐसे कवि लक्षण ग्रंथ लिखने वाले रीतिबद्ध कवियों की भांति रीति की शास्त्रकथित बातों का पूरा पालन नहीं करते थे ।

स्वच्छंद काव्य धार के सम्बन्ध में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी का मानना है कि "स्वछंदधारा का साध्य काव्य था और साधन भी काव्य ही था । पर इस धारा के कवियों ने साधन की अपेक्षा साध्य पर अधिक ध्यान दिया ।"[134] ये मानते हैं कि अलंकार की प्रधानता स्वछंद काव्य में होता है जो उसका सर्वोपरि गुण है अतः स्वच्छंदकाव्य भाव भक्ति होता है, बुद्धि-बोधित नहीं । यहाँ मिश्रजी कहते हैं कि - "रीतिकाव्य की रानी बुद्धि है, भाव उसका किंकर । पर स्वच्छंद काव्य की रानी है अनुभूति, उसकी दासी है बुद्धि -

रीझि सुजान सची पटरानी बची बुद्धि बावरी ह्वैकरिदासी ।"[135]

मिश्रजी मानते हैं कि स्वच्छंद वृत्ति वालों की संवेदना अनेक प्रकार की हो सकती है, पर मध्यकाल के इन स्वच्छंदकर्ताओं की संवेदना केवल प्रेम की संवेदना थी, वे प्रेम के पीर थे । प्रेम की इस संवेदना को वे सूफी-साधना के प्रवाह से संबद्ध मानते हैं । इन्होंने घनआनन्द को श्रेष्ठ माना है कारण यह कि - "घनआनंद की रचना में कुछ ऐसी विशेषता थी कि उसकी सूक्ष्मता सबके लिए सुलभ नहीं थी, काव्यमार्ग के प्रवीण पथिक भी उसे देखकर चकपकाते थे । यह कठिनाई न रसखानि की कविता में थी, न आलम की कविता में, न ठाकुर की कविता में, न बोधा की कविता में और न द्विजदेव की कविता में । उनकी प्रेम संवेदना चाहे जितनी गहरी, चाहे जितनी मार्मिक हो, पर उसके संबंध में यह कठिनाई थी ही नहीं ।"[136] इसके अतिरिक्त इन्होंने हास्यकाव्य, प्रशास्तिकाव्य, नाट्यकाव्य, अनुवादकाव्य आदि पर भी विस्तार से चर्चा अपने पुस्तक में की है ।

4. **ग iii हिन्दी का सामयिक साहित्य :**

'हिन्दी का सामयिक साहित्य' आचार्य मिश्र द्वारा लिखित निबन्धों का संकलन है जिसे ऐतिहासिक काल-क्रमानुसार संयोजित कर एक ग्रंथ का रूप दे दिया गया है । विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर इस ग्रंथ को इतिहास कह पाना मुश्किल लगता है, क्योंकि विभिन्न शीर्षकों में समाहित विषयों में न तो पूर्वापरसम्बन्ध दिखलाई पड़ता है और न ही घटनाओं का तथ्यात्मक विवरण मिलता है । इसके अतिरिक्त किसी भी विषय पर रचनाकार की टिपणी लम्बी हो गयी है तो कहीं यह अपेक्षा से अधिक छोटी । बावजूद इसके आचार्य मिश्र के इतिहास ग्रंथों की समीक्षा के क्रम में इस ग्रंथ का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें आधुनिक काल के तमाम महान रचनाकारों एवम् उनसे जुड़े तत्कालीन साहित्यिक मुद्दों को निबन्ध का विषय बनाया गया है, साथ ही मिश्रजी की ऐतिहासिक दृष्टि के कई प्रमुख

पक्ष प्रकट होते हैं । खास इसलिए भी कि इस रचना की सहायता से कई ऐसे मुद्दों पर प्रकाश पड़ता है, जो उनके इतिहास ग्रंथों में अनुपस्थित हैं । उदाहरण के तौर पर हिन्दी का नया जन्म, आधुनिक हिन्दी साहित्य का निर्माण, आधुनिक हिन्दी नाटक की शुरुआत, अंग्रेजी साहित्य की देन, राजभाषा में परिवर्त्तन, हिन्दी भाषा का परिष्कार, मौलिक हिन्दी कहानियों का जन्म, समीक्षा के मानदण्ड, ब्रजभाषा का परिमार्जित रूप एवम् खड़ी बोली के खरेपन की समाप्ति, हरिगीतिका छंद का प्रचलन, स्वच्छंदतावाद का आगाज, नाटक में भारतीय एवम् पाश्चात्य दृष्टि के समन्वयकर्त्ता, नये ढंग की कहानियों का प्रचलन एवम् शुरुआत, प्रगतिवाद एवम् छायावाद का जन्म इत्यादि इस निबधों की एक ऐतिहासिक है और इन्हीं ऐतिहासिक तथ्यों का विश्लेषण यहाँ हमारा ध्येय है । अतः यह कहा जा सकता है कि-- ''हिन्दी साहित्य का अतीत (दो भाग) और 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' को मिलाकर देखा जाय तो एक प्रकार से पूरे हिन्दी-साहित्य का रूप सामने आ जाता है।''[137]

श्री मिश्रजी का मानना है कि नई साँचे में ढली हिन्दी का नया जन्म वस्तुतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से ही देखा जा सकता हैं । हलाँकि ऐसी बात नहीं है कि भारतेन्दु काल से पहले हिन्दी का ज्ञान लोगों को नहीं था पर हिन्दी की प्रवृति में परिवर्त्तन के साथ-साथ हिन्दी भाषा का व्यवहार कैसे किया जाय आदि की जानकारी भारतेन्दु जी ने पाठकों को दी । एक तरह से हम कह सकते है कि हिन्दी का ज्ञान आधुनिक समय में सबको कराने का श्रेय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी को जाता है। इस आशय का उल्लेख मिश्रजी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' में इस प्रकार किया है -- इनके अनुसार - ''बात यह है कि हिन्द-साहित्य और हिन्दी आंदोलन होने पर भी 'हिन्दी का ज्ञान' न था । 'हिन्दी का ज्ञान' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ही आधुनिक समय में सबको कराया । हिन्दी को उन्होंने नया जन्म दिया । हिन्दी की

प्रवृति उन्होंने बदली । हिन्दी अपने 'निज' साँचे में ढली। इसी से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र उसके जन्मदाता कहे जाते हैं ।''[138]

जहाँ तक हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में उठे आंदोलन का प्रश्न है लगभग ऐसा कोई आन्दोलन न था जिसका सम्बन्ध शुद्ध साहित्य से हो और जिसे हम साहित्यिक आन्दोलन कह सकें, ऐसा मिश्रजी का मानना है । ये कहते हैं कि भारतेन्दु बाबू हरिश्चचन्द्र के द्वारा ही चलाया गया आन्दोलन ही शुद्ध साहित्यिक आन्दोलन था, क्योंकि इसका सम्बन्ध किसी धर्म अथवा धर्म-गुरु से नहीं था बल्कि भाषा एवम् साहित्य के समन्वय से था । इसका उल्लेख करते हुए इन्होंने कहा कि भारतेन्दु जी ने ''जो आन्दोलन चलाया घही साहित्य क्षेत्र से उठाया गया शुद्ध आंदोलन था । इसके पूर्व हिन्दी का जो आन्दोलन था वह धर्म-गुरुओं द्वारा उठाया गया आन्दोलन था, वे धर्म-गुरु चाहे विदेशी हों, पुरातनी हों चाहे अधतनी, वे धर्म प्रचार की दृष्टि से राष्ट्रभाषा की चर्चा करते थे, भाव प्रसार की दृष्टि से नहीं ।''[139] यहाँ यह स्पष्ट होता है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को छोड़कर हिन्दी साहित्य से सम्बन्धित जितने भी आन्दोलन चलाये गये वे सभी धर्म के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से चलाये गये, हिन्दी साहित्य के विकास की दृष्टि से नहीं । इस दृष्टिकोण से भी स्पष्ट होता है कि -- ''भारतेन्दु हरिश्चंद्र सही अर्थों में आधुनिक हिन्दी के निर्माता रहे हैं और गद्य के क्षेत्र में नए युग के प्रर्वतक ।''[140] इसके अतिरिक्त भाषा का बँधा रूप भी हम भारतेन्दु काल से ही देख सकते हैं । कुल मिलाकर ''वह युग ही समाज सुधार का था ।''[141] संभवतः इसी विशेषता के कारण इन्होंने कहा कि - ''भारतेन्दु के प्रकाश से हिन्दी जगत उनके अस्त होने पर भी आलोकित होता रहा ।''[142] पर यह भी सत्य है कि भाषा का परिष्कार वस्तुतः द्विवेदी जी के समय में ही हुआ । ये लिखते हैं कि ''एक-एक अक्षर, मात्रा, विराम तक का ध्यान रखने वाले थे द्विवेदी जी । सरस्वती का संपादन सन् 1920 ई.

में द्विवेदी जी ने छोड़ा । पर जहाँ द्विवेदी जी ने भाषा को छोड़ा था, वहीं अब भी बनी हुई है ।''[143]

नाटक के सम्बन्ध में इनका मानना है कि संस्कृत में नाटक 14 वीं शदी तक होता आया, पर आधुनिक हिन्दी नाटक के जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही हैं । संवत् 1925 से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाटक-लेखन की शुरुआत की । वैसे मुसलमानों के शासनकाल में नाटक-विधान जग नहीं पाया । इस बात का उल्लेख उन्होंने अपनी पुस्तक 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' में 'नाटक किस चिड़ियाँ का नाम है' 'शीर्षक में किया है । वे लिखते हैं कि -- ''मुसलमानी युग में, मुसलमानी शासन में, नाट्य-प्रवृति इसलिए नहीं जग पाई कि उनके धर्म के भीतर नाटक खेलना अपराध था। उनके श्रव्यकाव्य में नाटकीय प्रवृत्तियाँ नहीं हैं ।''[144] पर अँग्रेजों के शासन काल में परिस्थितियाँ कुछ अलग थीं । ''इस देश में अँगरेजी के आने से नई विचारधारा आई, उनका साहित्य आया । उन्होंने यहाँ शासन करना आरंभ किया । हमारी आँखे खुलने लगीं, वे भी हमारे संपर्क, निकट संपर्क में आए । हमनें भी उनकी आँखे खोली। विभिन्न देशों में रहने वालों के संपर्क में आने से आदान-प्रदान होता ही है, कोई अधिक लेता है कोई कम । लेना आवश्यक है, देना भी आवश्यक है ।''[145] संभवतः इसी वजह से जयशंकर प्रसाद के नाटक में भारतीय एवम् पाश्चात्य दृष्टि दोनों का सम्मिलित रूप हमें दिखाई देता है । वैसे ''आधुनिक साहित्य का निर्माण बंग्ला में हिन्दी के पहले से ही हो रहा था ।''[146] मिश्रजी ने एक स्थान पर यह भी संकेत किया है कि कुछ समय के लिए राजभाषा में भी परिवर्त्तन देखा गया । वह बदलाव परतंत्र भारत में हुआ था, पर भाषा का स्थान साहित्य में अवश्य बना रहा ।

हिन्दी साहित्य में प्रमुख हस्ताक्षर श्री मैथिलीशरण गुप्त के कुछ ऐतिहासिक कार्यों का उल्लेख मिश्रजी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी का सामयिक साहित्य में

किया है । ये कहते हैं कि गुप्तजी ने ब्रजभाषा का परिमार्जित रूप लोगों के सामने रखा वहीं खड़ी बोली के खरेपन को भी दूर करने का सार्थक प्रयास किया । ये लिखते हैं कि -- ''गुप्त जी ने 'मेघनाद-वध' और 'वीरांगना' का अनुवाद सं. 1976 के आस-पास किया । इससे स्वभावतः खड़ीबोली का परिमार्जन करने की ओर उनकी प्रवृति हुई । फिर तो उसका ऐसा परिमार्जन हुआ और ब्रज की परम्परा से भी शब्दों के ग्रहण का ऐसा मार्ग खुला कि आज खड़ी बोली अत्यंत परिष्कृत और मधुर हो गई है। उसके खरेपन की शिकायत अब किसी को नहीं है । गुप्तजी ने जिस प्रकार पद्य के क्षेत्र में खड़ीबोली को प्रतिष्ठित करने में प्रधान रूप से योग दिया, उसी प्रकार उसके परिमार्जन में भी ।''[147]

गुप्तजी की एक अन्य महत्वपूर्ण उपलब्धि को मिश्रजी ने अपनी पुस्तक में विवेचित किया है । ये कहते हैं कि गुप्तजी ने हरिगीतिका छंद को जन-जन में प्रचलित करने, उसकी मधुरता को संगीत-धारा में पिरोने का महत्वपूर्ण काम किया - ''कोई पत्रिका नहीं दिखाई देती जो इस शैली की रचना से युक्त न रहा करती हो और कोई गली या सड़क, पाठशाला या विद्यालय नहीं था जिसमें हरिगीतिका की गूँज न सुनाई पड़ती रही हो । नगर ही नहीं गाँव-गॉव में गुप्तजी की यह शैली छा गई थी, बहुत दिनों तक छाई रही, वहाँ अब भी छाई है ।''[148]

कहानी की शुरुआत के सम्बन्ध में इनका मानना है कि कहानी की शुरुआत कविता, निबन्ध, नाटक आदि से पहले हुई । वैसे ''हिन्दी में नए रूप-रंग की कहानियों के लिखने का प्रचलन सन् 1900 के अनन्तर हुआ । इन कहानियों के लिखने की प्रवृति अंग्रेजी और अंग्रेजी के ताल-सुर पर चलने वाली बंग्ला की देखा-देखी. हुई ।''[149] पर हिन्दी साहित्य में मौलिक कहानियों की शुरुआत आचार्य

रामचन्द्र शुक्ल जी के द्वारा ही शुरू हुई, ऐसा इनका मानना है । साथ ही आचार्य शुक्ल ने समीक्षा के जो मानदण्ड निर्धारित किए वे मील के पत्थर सिद्ध हुए । इस सम्बन्ध में मिश्रजी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' में इस प्रकार उल्लेख किया है । वे कहते हैं कि - ''शुक्ल जी ने कुछ साँचे अथवा कसौटियाँ अपने हृदय में बना रखी थीं । इसमें संदेह नहीं कि ये कसौटियाँ उन्होंने बहुत सोच-विचार के पश्चात् खोज निकाली थीं । संस्कृत के आचार्यों ने जैसे रस की कसौटी निकाली थीं, उसी प्रकार शुक्ल जी भावों की, लोक की, प्रकृति की कसौटियाँ निकालीं । इनके द्वारा वे सारे विश्व का साहित्य परख सकते थे ।''[150]

आधुनिक हिन्दी साहित्य के क्रोड से निकले स्वच्छंदतावाद, प्रगतिवाद, छायावाद आदि के निःसृत होने के सम्बन्ध में मिश्रजी का मानना है कि - ''साहित्य में भी कोई वाद तब खड़ा होता है जब साहित्य वास्तविकता से हटने लगता है । 'वाद' या 'फैशन' के रूप में ही साहित्य का सर्जन होने लगता है, व्यवहारिकता या वास्तविकता का ध्यान वह छोड़ बैठता है । क्या प्रगतिवाद का भी उदय इसी से तो नहीं हुआ ? मेरे विचार में प्रगतिवाद के उदय का कारण भी वही है ।''[151] वहीं स्वच्छंदतावाद, रहस्यवाद तथा छायावाद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ये कहते हैं कि -- ''सामाजिक बंधनों को तोड़कर जीवन की स्वच्छंद भूमि में विचरण करने की लालसा''[152] अर्थात सामाजिक रूढ़ियों के विद्रोह के परिणाम स्वरूप ही इन वादों की उत्पत्ति हुई ।

एक स्थान पर इन्होंने ऐतिहासिक महापुरुषों की वीरता को भी विवेचित किया है । ये कहते हैं कि महाराणा प्रताप, शिवाजी, एवम् छत्रशाल की वीरता लोक-हृदय को प्रभावित करने वाली थी । इसका कारण यही रहा है कि -- ''जो अपने

उत्साह की अभिव्यक्ति के लिए लड़ते रहे हैं, जिनके उत्साह का प्रेरक लोकपीड़ा या लोकरंजन नहीं रहा है उनके विषय में लिखी गई कविता का लोक में आदर कम होता है । जिस चाव से शिवाजी के चरित्र पढ़े जाते हैं उस चाव से साधारण नरेशों या राजाओं की लड़ाई के नहीं ।''[153] वहीं एक स्थान पर श्री मिश्रजी ने पं. श्यामनारायण पाण्डेय द्वारा ऐतिहासिक घटना में किए गये थोड़े से परिवर्त्तन को भी महत्व देते हुए अपनी पुस्तक हिन्दी का सामयिक साहित्य में लिखते हैं कि -- ''पाण्डेय जी ने इसके अतिरिक्त एक स्थान पर ऐतिहासिक घटना में थोड़ा सा परिवर्त्तन करके अपनी मर्मज्ञता प्रदर्शित की है । वह परिवर्त्तन है राणा प्रताप का संधि-पत्र लिखने के लिए प्रस्तुत होना और उनकी पत्नी का क्षत्राणी की भाँति उनका हाथ पकड़ लेना । इस परिवर्त्तन से राणाप्रताप के उच्च्च चरित्र की रक्षा भी हो गई है और महाराणी का चरित्र भी बहुत उच्च्च होकर सामने आया है ।''[154] इस प्रकार साहित्येतिहास की दृष्टि से मिश्रजी ने इस पुस्तक में हिन्दी का नया जन्म, नाटक की शुरुआत, नये ढंग की कहानियों का प्रचलन तथा प्रगतिवाद, छायावद आदि के अस्तित्व में आने के पीछे के कारणों का भी उल्लेख किया है ।

संदर्भ :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - ले. डॉ. श्रीनिवास शर्मा, पृ. सं. 2
2. पूर्व पीठिका ; हिन्दी साहित्य का इतिहास - ले. डॉ. नगेन्द्र, पृ. सं. 21
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास - ले. डॉ. श्रीनिवास शर्मा, पृ. सं. 2
4. गुप्त जी की साहित्य साधना : हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 55
5. पूर्व पीठिका ; हिन्दी साहित्य का इतिहास - ले. डॉ. नगेन्द्र, पृ. सं. 21
6. वही, पृ. सं. 21
7. हिन्दी आलोचना की परम्परा और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, ले. शिवकुमार मिश्र, प्रका. वाणी प्रकाशन, पृ. सं. 38
8. प्रस्तावना : रीतिकाव्य की इतिहास दृष्टि, ले. डॉ. सुधीन्द्र कुमर, पृ. सं. 21
9. पुस्तक - साहित्य और इतिहास दृष्टि, ले. मैनेजर सिंह, पृ. सं. 4
10. प्राचीन भारतीय साहित्य : इतिहास, हिन्दी साहित्य का इतिहास परम्परा और विकास, ले. डॉ. कृष्ण धवन, पृ. सं. 17-18
11. वही, पृ. सं. 18
12. वही, पृ. सं. 18
13. इतिहास : परिभाषा एवं स्वरूप, हिन्दी साहित्य का इतिहास : परम्परा और विकास, ले. डॉ. कृष्ण धवन, पृ. सं. 19
14. भूमिका : हिन्दी साहित्य का इतिहास, परम्परा और विकास, ले. डॉ. कृष्ण धवन, पृ. सं. 5
15. आधुनिक भारतीय विद्वान : इतिहास दृष्टि, हिन्दी साहित्य का इतिहास : परम्परा और विकास, ले. डॉ. कृष्ण धवन, पृ. सं. 20-21
16. काल विभाग, हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
17. हिन्दी आलोचना और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, ले. डॉ. रामबहादुर राय, पृ. सं. 179
18. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पुस्तक - हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, (तृतीय भाग), सं. पं. करूणापति त्रिपाठी, पृ. सं. 9
19. हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास - ले. प्रो. वासुदेव सिंह, पृ. सं. 7
20. चौरासी वैष्णवन की वार्ता, मुद्रक व प्रकाशक - गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, स्टीम प्रेस, कल्याण, बम्बई, पृ. सं. 5
21. दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता, रामदास जी संपादित, मुद्रक एवम् प्रकाशक - खेमराज श्रीकृष्णदास, स्टीम प्रेस, बम्बई, पृ. सं. 1

22. शिव सिंह सरोज, सं. डॉ. किशोरीलाल गुप्त, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, पृ. सं. 11
23. इतिहास बोध, इतिहास निर्माण के लिए, अगस्त 2005, संपादक - लाल बहादुर वर्मा, पृ. सं. 48
24. काल-विभाग, हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
25. पूर्व पीठिका ; हिन्दी साहित्य का इतिहास - ले. डॉ. नगेन्द्र, पृ. सं. 25
26. राजनैतिक इतिहास और साहित्य के इतिहास में अन्तर, हिन्दी साहित्य का इतिहास : परम्परा और विकास, ले. डॉ. कृष्ण धवन, पृ. सं. 29
27. वही, पृ. सं. 29
28. साहित्य के इतिहास, हिन्दी साहित्य का इतिहास : परम्परा और विकास, ले. डॉ. कृष्ण धवन, पृ. सं. 31
29. मानक हिन्दी कोश : पॉचवां खण्ड, प्र. सं. रामचन्द्र वर्मा, पृ. सं. 122
30. हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास, ले. बाबू गुलाब राय, पृ. सं. 4
31. वही, पृ. सं. 5
32. हिन्दी दलित साहित्य की कथा-यात्रा, पत्रिका कथा-क्रम, सं. शैलेन्द्र सागर, पृ.सं. 14
33. निवेदन , हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास, ले. बाबू गुलाब राय,
34. भूमिका, पुस्तक - साहित्य और इतिहास दृष्टि, ले. मैनेजर पाण्डेय, पृ. VII
35. इतिहास दृष्टि : समाज और इतिहास का पुनर्पाठ (प्रियंवद), पत्रिका - बया, पृ.सं. 27
36. इतिहास-आलोचना : हिन्दी साहित्य का इतिहास (मैनेजर पाण्डेय) पत्रिका - कसौटी, सं. नन्द किशोर नवल, पृ. सं. 316
37. भूमिका , हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, पृ. सं. 3
38. वही, पृ. सं. 4
39. 'पुरानी हिन्दी', ले. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पृ. सं. 12
40. प्रथम संस्करण का वक्तव्य, हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. सं. 6
41. काल विभाजन और उसका आधार, हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, पृ. सं. 52
42. वही, पृ. सं. 53
43. भूमिका , हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, पृ. सं. 3
44. भूमिका : हिन्दी साहित्य का इतिहास, परम्परा और विकास, ले. डॉ. कृष्ण धवन, पृ. सं. 9

45. भूमिका : हिन्दी साहित्य का इतिहास, परम्परा और विकास, ले. डॉ. कृष्ण धवन, पृ. सं. 6
46. भारतीय साहित्य, पुस्तक- भारतीय समीक्षा और आचार्य शुक्ल की काव्य-दृष्टि, ले. डॉ. नगेन्द्र, पृ. सं. 12
47. हिन्दी आलोचना और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, ले. डॉ. रामबहादुर राय, पृ. सं. 180
48. हिन्दी का गद्य-साहित्य, ले. डॉ. रामचन्द्र तिवारी, पृ सं. 622
49. कवि जीवन वृत, बोधा ग्रंथावली, संपा. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.सं. 11
50. पुरोवचन, हिन्दी साहित्य का अतीत भाग - 1, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 8
51. पुरोवचन, हिन्दी साहित्य का अतीत भाग - 1, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 6
52. वही, पृ. सं. 8
53. हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. सं. 8
54. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली - भाग - 3, संपा. डॉ. मुकुन्द द्विवेदी, पृ. सं. 269
55. पुरोवचन, हिन्दी साहित्य का अतीत भाग - 1, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 6
56. हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, ले. प्रो. वासुदेव सिंह, प्रकाश - संजय बुक सेन्टर, वाराणसी, पृ. सं. 5
57. हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. सं. 5
58. हिन्दी साहित्य का सर्वेक्षण (काव्य-खण्ड), ले. विश्वम्भर 'मानव', पृ. सं. 7
59. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली - भाग - 3, संपा. डॉ. मुकुन्द द्विवेदी, पृ. सं. 271
60. वही, पृ. सं. 269
61. प्राक्कथन, हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, ले. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त, पृ. सं. 6
62. प्रस्तावना, पुस्तक - हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : प्रथम भाग, सं. डॉ. राजबली पाण्डेय, पृ. सं. 7
63. पुरोवचन, हिन्दी साहित्य का अतीत भाग - 1, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 6
64. वही, पृ. सं. 6
65. हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले. श्रीनिवास शर्मा, पृ. सं. 23
66. आदिकाल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. सं. 7

67. हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, ले. प्रो. वासुदेव सिंह, पृ. सं. 18
68. वही, पृ. सं. 18
69. वही, पृ. सं. 18
70. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, ले. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त, पृ. सं. 6
71. प्रथम संसकरण का वक्तव्य, हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. सं. 5
72. काल विभाग, प्रथम संसकरण का वक्तव्य, हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. सं.
73. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, ले. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त, पृ. सं. 7
74. वही, पृ. सं. 7
75. हिन्दी साहित्य का आदिकाल (1000-14000) ई. , हिन्दी साहित्य (उद्‌भव और विकास), ले. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. सं. 37
76. हिन्दी साहित्य का अतीत - भाग- 1, ले आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 43
77. श्रृंगार काल नामकरण ; बिहारी, संपादक आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 4
78. वही, पृ. सं. 4
79. वही, पृ. सं. 5
80. वही, पृ. सं. 4
81. हिन्दी साहित्य की सामग्री और काल विभाजन, हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, पृ. सं. 49-50
82. आदिकाल : हिन्दी साहित्य का अतीत - भाग - 1, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 42
83. हिन्दी साहित्य का अतीत - भाग - 1, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 123-124
84. वही, पृ. सं. 46
85. श्रृंगार काल नामकरण, बिहारी संम्पा. आचर्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 18
86. हिन्दी साहित्य का अतीत - भाग - 1, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 42
87. वही, पृ. सं. 42-43
88. श्रृंगार काल नामकरण, बिहारी संम्पा. आचर्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 4
89. पुरोवचन, हिन्दी साहित्य का अतीत - भाग - 1, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 8
90. हिन्दी साहित्य का अतीत - भाग - 1, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 153

91. प्रस्तावना, पुस्तक - रीतिकाव्य : एक नया मूल्यांकन, ले. डॉ. जगदीश्वर प्रसाद, पृ. सं. 9
92. अनुवचन, हिन्दी साहित्य का अतीत - दूसरा भाग, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 9
93. श्रृंगारकाल, हिन्दी साहित्य का अतीत - दूसरा भाग, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 34
94. अनुवचन, वही, पृ. सं. 9
95. श्रृंगारकाल, वही, पृ. सं. 35
96. उत्तरमध्यकाल, हिन्दी साहित्यक का इतिहास, ले. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. सं. 133
97. अनुवचन, हिन्दी साहित्य का अतीत - दूसरा भाग, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 9
98. श्रृंगारकाल, वही, पृ. सं. 35-36
99. वही, पृ. सं. 36
100. वही, पृ. सं. 36
101. नामकरण, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, ले. बच्चन सिंह, पृ. सं. 191
102. वही, पृ. सं. 192
103. वही, पृ. सं. 192
104. रीतिकाव्य, हिन्दी साहित्य : उसका उद्‌भव और विकास, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली - 3, ले. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. सं. 414
105. रीतिकाव्य, हिन्दी साहित्य : उसका उद्‌भव और विकास, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली - 3, ले. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. सं. 416
106. विभाजन, हिन्दी साहित्य का अतीत - दूसरा भाग, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 39
107. प्रधान रस श्रृंगार, पुस्तक - हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : छठा भाग, सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. सं. 121
108. सीमा, वही, पृ. सं. 45-46
109. भूमिका, हिन्दी साहित्य का इतिहास परम्परा और विकास, ले. डॉ. कृष्ण धवन, पृ. सं. 13
110. सीमा, हिन्दी साहित्य का अतीत - दूसरा भाग, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 48
111. प्रथम संस्करण का वक्तव्य, हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. सं. 6

112. विभाजन, हिन्दी साहित्य का अतीत - दूसरा भाग, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 39
113. वही, पृ. सं. 42
114. वही, पृ. सं. 44
115. श्रृंगारिकता, हिन्दी साहित्य का इतिहास, संपा. डॉ. नगेन्द्र, पृ. सं. 306
116. नामकरण, वही, पृ. सं. 278
117. वही, पृ. सं. 279
118. रीतिकाल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले. डॉ. कृष्ण धवन, पृ. सं. 133
119. रीतिकाव्य, हिन्दी साहित्य : उसका उद्भव और विकास, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली - 3, ले. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. सं. 421
120. नामकरण, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, ले. डॉ. बच्चन सिंह, पृ. सं. 180
121. उत्तरमध्यकाल, हिन्दी आलोचना और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, ले. डॉ. रामबहादुर राय, पृ. सं. 202
122. हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास (षष्ठ भाग) वक्तव्य, पृ. सं.
123. अनुवचन, हिन्दी साहित्य का अतीत - दूसरा भाग, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 11
124. उत्तरमध्यकाल, हिन्दी आलोचना और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, ले. डॉ. रामबहादुर राय, पृ. सं. 204
125. विभाजन, हिन्दी साहित्य का अतीत - दूसरा भाग, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 39
126. वही, पृ. सं. 39
127. रीति श्रृंगार काव्य के विविध रूप, पुस्तक - हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : सातवाँ भाग, सं. डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ. सं. 39
128. नामकरण, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, ले. डॉ. बच्चन सिंह, पृ. सं. 181
129. नामकरण, हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले. डॉ. नगेन्द्र, पृ. सं. 280
130. रीतिबद्ध, हिन्दी साहित्य का अतीत - दूसरा भाग, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 54
131. स्वरूप, हिन्दी साहित्य का अतीत - दूसरा भाग, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 60
132. रीतिसिद्ध कवि, हिन्दी साहित्य का अतीत - दूसरा भाग, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 240
133. वही, पृ. सं. 240

134. स्वच्छंद काव्यधारा, हिन्दी साहित्य का अतीत - दूसरा भाग, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 276
135. स्वच्छंद काव्यधारा, वही, पृ. सं. 276
136. वही, पृ. सं. 278
137. हिन्दी का गद्य साहित्य, ले. रामचन्द्र तिवारी, पृ. सं. 622
138. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल), हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 6
139. वही, पृ. सं. 6
140. भारतुन्दु हरिश्चन्द्र, पुस्तक- हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : आठवाँ भाग, सं. विनय मोहन शर्मा, पृ. सं. 256
141. पूर्व पीठिका, पुस्तक - हिन्दी साहित्यक का बृहत् इतिहास : ग्यारहवाँ भाग, सं. डॉ. सावित्री सिन्हा, पृ. सं. 5
142. द्विवेदी जी का भाषा पर प्रभाव, वही, पृ. सं. 26
143. द्विवेदी जी का कर्तृत्व, हिन्दी का सामयिक साहित्य, श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 23
144. 'नाटक किस चिड़ियाँ का नाम है ; हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 12
145. वही, पृ. सं. 11
146. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 6
147. गुप्त जी की साहित्य साधना ; हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 57
148. वही, पृ. सं. 54-55
149. कहानी कौशल ; हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 79
150. कार्य-कलाप, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ; हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 43
151. लक्षण और हेतु, प्रगतिवाद ; हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 85
152. रहस्य स्वच्छंदता, वर्त्तमान काव्यधारा ; हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 59
153. वीरकाव्य-हल्दीघाटी ; हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 126
154. वही, पृ. सं. 130

पंचम अध्याय

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रः स्वतंत्र लेखक के रूप में

पाँचवा अध्याय

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : स्वतंत्र लेखक के रूप में

5. क. लेखन-शैली एवम् दृष्टि :

किसी भी रचनाकार की वैचारिक दृष्टि का आकलन दो दृष्टियों से - उसकी समीक्षा दृष्टि एवम् उसकी स्वतंत्र लेखन-दृष्टि से की जा सकती है । वस्तुतः वैचारिक चिंतन का जो आधार वह अपने मौलिक लेखन में स्थापित करता है, समीक्षा के माध्यम से उसी का पुनअर्न्वेषण करता है । स्वतंत्र लेखन किसी भी रचनाकार के चिंतन-भूमि का आधार माना जाता है जहाँ वह पूरी स्वतंत्रता से चिंतन के विविध कोणों के साथ, पक्ष-विपक्ष दोनों को स्पष्ट करते हुए अपनी सोच एवम् मानसिकता को प्रकट करता है । इस दृष्टि से किसी रचनाकार के स्वतंत्र रूप में किए गए लेखन-कार्य का अध्ययन उसके व्यक्तित्व को समझने में अत्यन्त सहायक होता है । आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की लेखन-शैली अत्यन्त प्रभावपूर्ण एवम् गाम्भीर्य से ओत-प्रोत है । इनकी लेखन-शैली में दृढ़ता, आत्मविश्वास एवम् लेखन विधा का मुखरित रूप निखरता हुआ प्रतीत होता है । ये विषय-विवेचन के पश्चात् निष्कर्ष को भी पाठक के सामने रखने का प्रयास करते हैं और वह भी अधिकार के साथ । बहुधा ये अपनी बात को रखते समय इस तरह के वाक्य-खण्डों का प्रयोग करते हैं यथा- तात्पर्य यह है कि, स्पष्ट हो गया होगा कि, बात यह थी कि, निष्कर्ष यह निकला कि, आदि और इसके माध्यम से अपनी बात को सिद्ध करने की चेष्टा इनकी देखी जा सकती है । यहाँ यह मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि इनकी विवेचन अथवा विश्लेषण-पद्धति एक तरह से व्याख्यात्मक ही रहती है । हालाँकि विषय-वस्तु के अनुरूप इनके विवेचन के ढंग में परिवर्तन अवश्य दिखाई पड़ता है । इतिहासग्रंथ लिखते समय इनकी लेखन-शैली एवम्

दृष्टि समालोचक की हो जाती है, वहीं जब ये भूमिका-लेखक के रूप में आते हैं तो उनकी लेखनी स्वतंत्र मौलिक लेखन का रुख पकड़ लेती है । जब टीकाकार के रूप में वे किसी रचनाकार की रचनाओं की टीका लिखते हैं तो उनकी दृष्टि व्याख्यात्मक होती है । इस प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि उनकी लेखन-शैली एवम् दृष्टि समालोचना की दृष्टि में विश्लेषणात्मक, विवेचनात्मक एवम् तुलनात्मक होते हुए एवमेव हो जाती है, जिसे अलग-अलग कर पाना शुधी पाठक के लिए कठिन हो जाता है । उदाहरण के तौर पर हम 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' को देख सकते हैं, जिसमें एक स्थान पर मिश्रजी के लेखन का ऊपर वर्णित रूप दिखाई पड़ता है, जिसमें उन्होंने 'कहानी' के सम्बन्ध में कुछ यों विचार व्यक्त किया-- "यदि साहित्य की किसी विशेष शाखा के अत्यधिक विस्तार के कारण कोई कहना चाहे तो आज के युग को 'कहानी का युग' बेखटके कह सकता है । कहानी ने कविता को दबाया, निबंधों को भगाया, नाटकों को नवाया और उपन्यासों को डराया ।"[1]

इस प्रकार उनकी लेखन-पद्धति से यह विदित होता है कि वे एक सामान्य व्यक्ति की दृष्टि से साहित्य को देखते थे तथा साहित्यिक-समझ को सर्वजन शुलभ बनाने हेतु अपनी उत्कृष्ट लेखनी का प्रयोग करते थे, जिसमें विभिन्न लेखन शैलियों का आश्रय हुआ करता था । वस्तुतः मिश्रजी के लेखन-शैली का यह वैशिष्ट तब और खास हो जाता है जब वह शास्त्रीयता के सापेक्ष इसे प्रस्तुत करते हैं । उदाहरण के तौर पर केशव के समीक्षक के रूप में वे एक ओर शास्त्रीयता की तारीफ करते हैं वहीं दूसरी ओर लोक-दृष्टि या जन-दृष्टि से उसे उपयुक्त नहीं मानते ।

उनके द्वारा किसी पुस्तक की लिखी गयी भूमिका सिर्फ पुस्तक की भूमिका न होकर उनकी स्वतंत्र लेखन-दृष्टि की अभिव्यक्ति होता है, उनके गुण-दोष

का विवेचन होता है तथा उसकी सफलता-असफलता की परख होती है । आचार्य मिश्रजी ने पहली बार समीक्षा-लेखन को औपचारिक विधान से मुक्त करके एक सार्थक समीक्षा-लेखन के रूप में स्थापित किया । वहीं टीकाकार के रूप में इन्होंने टीका-लेखन की पद्धति में भी बदलाव किया । जो टीका-लेखन दोयम दर्जे का माना जाता था उसे इन्होंने एक नये कलेवर में ढाला। इन्होंने रचनाओं की टीका, पाठालोचन एवम् पाठानुसंधान के क्रम एवम् दृष्टि से लिखीं जिसमें नयी दृष्टि एवम् नयी लालित्यपूर्ण शास्त्रीय-शैली के साथ-साथ सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक-परख की प्रवृत्ति भी परिलक्षित होती है । लेखन-शैली में सबसे पहले चूर्णिका को वे स्थान देते हैं यानी शब्दार्थ । किसी रचना के छन्द को चूर कर उसके अर्थ एवम् भाव को अभिव्यक्त करते हुए किसी भी रचना के शब्दों को अलग-अलग न लेकर उस रचना के अलग-अलग खण्डों को ये स्वीकारते हैं । पहले किसी रचना के अर्थ निष्पादन को ही टीकाकार अपना दायित्व मान लेता था, यानि शाब्दिक भाषानुवाद, पर इन्होंने जो इस क्षेत्र में काम किया उसे हम भावानुवाद कह सकते हैं -- इसके अन्तर्गत रचना में निहित विभिन्न संन्दर्भों एवम् परिस्थितियों का सूक्ष्मतम् स्तर तक विवेचन रहता है । जिससे वह टीका होते हुए भी नवीन मौलिकता के सौन्दर्य का बोधक प्रतीत होता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि लेखन-पद्धति के प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने अपनी मौलिकता की पहचान या यों कहें कि छाप छोड़ी । यहाँ यह बात ध्यान देने कि है कि इस प्रकार के भूमिका-लेखन या विवेचन में वे अपने मौलिक दृष्टि को स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं और यही उनके स्वतंत्र रचनाकार का स्वरूप स्पष्ट होता है ।

उनके आलोचनात्मक ग्रंथों में हम पाते हैं कि उनमें विषय की प्रधानता रहती है । लगभग यही बात उनके निबंधों में भी लागू होती है । उनके ज्यादातर

निबंध विषय प्रधान ही हैं । जब वे अपने प्रिय कवि के बारे में कुछ कहते हैं तो उनके विश्लेषण में उनकी स्वतंत्र मौलिकता ही दिखाई पड़ती है । जब वे अपने प्रतिपक्षी के तथ्यों का खण्डन करते हैं तो उनका लेखन तुलनात्मक रूप धारण कर लेता है, मानों तराजू के दोनों पलड़ों पर रखकर तथ्य को देखा-परखा जा रहा हो। यहाँ हम कुछ उदाहरण के साथ इनके लेखन-शैली अथवा अभिव्यक्ति-शैली को जानने का प्रयास करेंगे । सबसे पहले हम उनके निबंधों के संग्रह 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' के कुछ निबंधों पर चर्चा करेंगे । उनके संकलित निबंधों को देखने से पता लगता है कि उन्होंने अपने निबंधों में सामासिक-शैली का प्रयोग प्रमुखता से किया । यथा 'नाटक किस चिड़ियाँ का नाम है', में निबंधकार सामासिक-शैली में अपनी बात को कुछ इस प्रकार से रखते हैं -- ''काव्य के जो भेदोपभेद भारत में ही बहुत प्राचीन काल में स्वीकृत हो चुके थे, जिन शाखाओं में अनेकानेक रचनाएँ हो चुकी थीं वे उस समय नहीं थीं, उनका स्वरूपबोध भी लोगों में नहीं रह गया था ।''[2] इसके अतिरिक्त अन्य निबंधों में भी उनके सामासिक-शैली को देखा जा सकता है । 'महादेवी जी का रहस्य-काव्य' नामक निबंध में निबंधकार मिश्रजी अपनी बात कुछ इस प्रकार रखते हैं -- ''महादेवी जी की साधना-भूमि प्रकृति हैं । प्रकृति को उन्होंने अंत में सूफियों की भाँति परमतत्व की ही साधना में निरत देखा है। काव्य की दृष्टि से प्रकृति उनकी सखी है, वह उद्दीपन है, आलंबन नहीं ।''[3] एक तरह से हम यह भी कह सकते हैं कि सामासिक-शैली में मिश्रजी ने अधिकांशतः विचारात्मक विषय-प्रधान निबंध ही लिखें हैं। उनके इस प्रकार के निबंधों के लेखन की शैली एवम् दृष्टि कुछ महत्वपूर्ण निबंधों में देखी जा सकती है जैसे - 'आजातशत्रु' में आजातशत्रु की समस्या, वीर काव्य-हल्दीघाटी, प्रेमचंद जी की प्रवृतियाँ, मानवता, छाया - रहस्य आदि। अगर हम मिश्रजी

के वाड्मय का दिग्दर्शन कराने वाले महत्वपूर्ण ग्रन्थों में से एक वाड्मय विमर्श में समाहित विषयों पर दृष्टिपात करें तो हम पाते हैं कि समूचे ग्रंथ के विषय एक दूसरे के साथ इस प्रकार सूत्र में पिरोये हुए जान पड़ते हैं, मानो सूत्रात्मक-शैली में निर्मित की गयी हो । इस एक मात्र ग्रंथ में ही काव्यशास्त्र, भाषा-विज्ञान, साहित्य का इतिहास एवम् लिपि-शास्त्र का इस तरह सांगोंपाग विवेचन है कि सभी एक दूसरे से सूत्रवत् जुड़े मालूम होते हैं । यहाँ यह कहा जा सकता है कि एक ही पुस्तक में इतने सारे विषयों का विषयवार विवेचन उनके लेखन-शैली की उत्कृष्टता, आत्मविश्वास, विवेचन की दृढ़ता, एवम् गहरी साहित्यिक विदग्धता को व्यंजित करता है ।

साहित्येतिहास ग्रंथों में जहाँ उनकी लेखन-शैली व्याख्यात्मक एवम् तुलनात्मक रही है वहीं उनकी दृष्टि समालोचक की भी रही है । इन्होंने 'हिन्दी साहित्य के अतीत भाग एक एवम् भाग दो' में काल विभाजन, नामकरण तथा हिन्दी एवम् अपभ्रंश साहित्य के उद्भव एवम् विकास के साथ-साथ भक्तिकाल के कबीर तुलसी आदि के अतिरिक्त रीतिकालीन प्रमुख कवियों के रचनाओं, काल-सीमाओं आदि का व्याख्यात्मक एवम् तुलनात्मक समालोचन प्रस्तुत किया है । इन्होंने प्रत्येक काल पर गम्भीरता से विचार किया है, साथ-ही अपनी बात को पुष्ट प्रमाणों का आधार देते हुए अन्य साहित्येतिहासकारों के मन्तव्यों का तुलनात्मक उल्लेख किया है । आदिकालीन कवि विद्यापति, अमीर खुसरो आदि का भी इन्होंने उल्लेख प्रमुखता से किया है । इसके अतिरिक्त गीत परम्परा, उपासना की परम्परा अथवा भाव सूफी प्रेमगाथा, खड़ी की रचना अर्थात् खड़ीबोली, अपभ्रंश आदि का भी स्पष्ट किन्तु सम्पूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है । उदाहरणतः -- ''नागर अपभ्रंश के अनन्तर देशी भाषाओं का उद्भव होने पर विभिन्न देशों में जो रूप उन्होंने पकड़ा वह नागर भाषा की विशेषता लिए हुए हैं ।

नागर का तात्पर्य यह कि वह अपभ्रंश पश्चिमी है । यह सदा याद रखनी चाहिए कि भारतवर्ष में जब-जब भाषा के क्षेत्र में विकास हुआ तब-तब भाषा का आदर्श पश्चिमी ही रहा ।''[4]

अगर हम मिश्रजी द्वारा सम्पादित ग्रंथों पर नजर डालते हैं तो हम पाते हैं कि यहाँ इनकी दृष्टि समीक्षात्मक रूप लिए हुए है । एक मौलिक लेखक की जो दृष्टि होनी चाहिए वह दृष्टि हम मिश्रजी में यहाँ पाते हैं । अनुसंधान के क्रम में इनकी दृष्टि खास तौर पर प्राचीन ग्रंथो के संपादन के क्रम में मुखरित हुई है । 'रामचरितमानस' काशिराज संस्करण के आत्मनिवेदन में एक स्थान पर यह कहते हैं कि -- ''प्रश्न होता है कि गृहीत्त संशोधन कहीं स्वयम् तुलसीदास के ही लिए न हों । अरण्यकाण्ड में जैसी प्रवृति और उसकी जैसी भाषा है वह तुलसीदास की नहीं हो सकती । लंकाकाण्ड में हुआ संशोधन वैज्ञानिक पाठानुसंधायक तुलसीदास का ही मानते हैं । उनकी उपलब्धि है कि कवि ने मानस में स्वयम् छह बार संशोधन किया । यदि मानस के अन्य सोपानों में कहीं कम मात्रा वाले दोहरे न होते तो माना जा सकता था कि लंकाकाण्ड में उनका रहना ठीक नहीं है ।''[5] आशय यह कि ग्रंथ संपादन के क्रम में उनकी दृष्टि अनुसंधानपरक रही है । इनकी इस प्रकार की अनुसंधानात्मक दृष्टि अन्य सम्पादित ग्रंथों में भी देखी जा सकती है । यथा 'गंगालहरी' के सम्पादन के क्रम में वे लिखते हैं कि -- ''पद्‌माकर रचित प्रशस्ति-काव्य प्रकीर्णक भी है और निबद्ध भी । दोनों के अनुशीलन से स्पष्ट है कि आश्रयदाताओं का प्रशस्तिपाठ ही उनका प्रधान लक्ष्य है । काव्यात्मक उक्तियाँ प्रकीर्णक रचना में जितनी हैं उतनी निबद्ध काव्यों में नहीं । रणक्षेत्र का, रणप्रस्थान का और युद्ध का वर्णन भी परम्पराभुक्त है ।''[6]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पादित पुस्तकों की लेखनशैली एवम्

दृष्टि कुल मिलाकर स्वतंत्र मौलिक लेखन दृष्टि ही रही है । इसके अतिरिक्त जब हम उनके स्वलिखित ग्रंथों पर दृष्टिपात करते हैं तो हम पाते हैं कि इन ग्रंथों में उनकी लेखन-शैली एवम् दृष्टि शोध-परक रहती है । ऐसा प्रतीत होता है कि विषय-वस्तु की सिद्धि हेतु वे बड़ी बारीकि से अपनी बात को पुष्ट प्रमाणों के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास करते हैं । यहाँ तक कि जिस भी विषय को वे केन्द्र में रखते हैं, उनसे जुड़े तमाम उपविषयों का क्रमिक सूत्रशैली में विश्लेषण करते हैं । उदाहरण के तौर पर हम उनके द्वारा लिखित ग्रंथ 'बिहारी की वाग्विभूति' को देख सकते हैं । इसमें इन्होंने बिहारी के जीवन-वृत से लेकर उनके दोहे, प्रसंग-योजना, अप्रस्तुत-योजना, वाग्वैदध्य तथा भाषा तक का बारीकी से विवेचन किया है । यहाँ तक कि 'बिहारी' के काल एवम् उसकी सीमा का भी उल्लेख अवश्य करते हैं, ताकि क़िसी भी दृष्टिकोण से कोई भी फलक छूटने न पावे ।

टीका-लेखन के क्रम में ये शब्दों को विस्तार देते हैं । चूर्णिका में ही महत्वपूर्ण शब्दों के आसान एवम् सार्थक अर्थ को सिलसिलेवार ढंग से प्रस्तुत करते हैं। शब्द के अर्थ भी इतने सरल होते हैं कि पाठक सहज ही समझ ले । फिर भावों की गम्भीर व्यंजना को भी बड़े ही सरल एवम् सुनियोजित ढंग से उकेरने का भरपूर प्रयास करते हैं । 'घनानंद कवित्त प्रथम एवम् द्वितीय शतक' में उनकी इस तरह की लेखन-शैली का प्रयोग हुआ है । उनके टीकालेखन का व्याख्यात्मकरूप का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि वे मूलग्रंथ के कवित को रखने के पश्चात् प्रकरण, चूर्णिका, तिलक, व्याख्या, विशेष तथा अन्त में छन्द को भी स्थान देते हैं ।

इस प्रकार हम पाते हैं कि मिश्रजी की लेखन-शैली एवम् दृष्टि विषय-वस्तु के मद्देनजर परिवर्तित होती हुई भी एकमेव ही नजर आती है चाहे वह

तुलनात्मक, व्याख्यात्मक, विश्लेषनात्मक ही क्यों न हो, वे सभी एकमेव होकर हमारे सामने परिलक्षित होते हैं जिसे एकदम अलग-अलग करना किसी भी पाठक अथवा शोधार्थी के लिए कठिन ही नहीं असाध्य भी है ।

5. **ख समीक्षक के रूप में :**

'मानक हिन्दी कोश' में 'समीक्षा' का अर्थ "छानबीन या जाँच- पड़ताल करने के लिए कोई वस्तु या बात अचछी तरह देखना"[7] माना गया है, जबकि समीक्षक के सम्बन्ध में कहा गया है कि "वह जो समीक्षा करता है ।"[8] समीक्षा सम्यक् प्रकार से देखना है । आचार्य मिश्रजी का मानना है कि - "किसी काव्यकृति का सांगोपांग विचार करना समीक्षा है ।"[9] वस्तुतः साहित्य में जो कुछ भी है उस पर भली-भाँति विचार करना, मनन करना, देखना ही समीक्षा है । ये कहते हैं कि - "राजशेखर ने अंतर्भाष्य को समीक्षा कहा । भाष्य का अर्थ है, व्याख्या ऐसी होनी चाहिए कि उसमें अवांतरार्थ का विच्छेद भी हों । भीतरी व्याख्या हों, गहरी छानबीन हों, उससे हट-बढ़कर इधर-उधर भटका न जाए, तभी कोई विचार समीक्षा है।"[10] यहाँ यह देखा जा सकता है कि समीक्षा में भीतरी व्याख्या को प्रमुखता दी गई है । अन्तर-विश्लेषण पर विशेष दृष्टि ही समीक्षा की केन्द्रीय दृष्टि मानी जा सकती है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में समीक्षा का विकास अन्य गद्य विद्याओं की भाँति भारतेन्दु-युग से विद्वानों ने स्वीकार किया है । डॉ. रामचन्द्र तिवारी जी ने अपने ग्रंथ 'हिन्दी का गद्य साहित्य' में इस तथ्य का उल्लेख करते हुए कहा कि - "समीक्षा की नवीन व्यावहारिक पद्धति का प्रयोग भारतेन्दु-युग से ही पत्र-पत्रिकाओं में होने लगा था । प्रारम्भ में इसका रूप पुस्तक-परिचय तक ही सीमित था ।"[11] वस्तुतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा सम्पादित पत्र-पत्रिकाओं में समीक्षात्मक स्तम्भ हुआ करते थे साथ ही

समकालीन पत्र-पत्रिकाओं में समीक्षाएँ प्रकाशित हुआ करती थीं, जिसका उल्लेख डॉ. रामचन्द्र तिवारी ने अपने ग्रंथ में करते हुए कहा कि - ''भारतेन्दु द्वारा सम्पादित कविवचन सुधा (1868 ई.) और 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका (1873 ई.) में समीक्षा के स्तम्भ भी रहते थे । भारतेन्दु युग के अन्य पत्रों - हिन्दी प्रदीप (1877 ई), भारत मित्र (1877ई.), ब्राह्मण (1883 ई). आनन्द कादम्बिनी (1881 ई.) आदि में भी पुस्तकों की समीक्षाएँ प्रकाशित की जाती थीं ।''[12] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने अपने 'नाटक' नामक ग्रंथ में समीक्षा-सिद्धांतों की चर्चा करते हुए कहा कि समय-सापेक्ष समीक्षा-सिद्धान्तों में भी परिवर्त्तन होते रहना चाहिये । इस आशय का सविस्तार उल्लेख करते हुए रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं कि - ''पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी से पहले भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र आलोचना का सूत्रपात कर चुके थे । उन्होंने 'नाटक' शीर्षक निबंध में शास्त्रीय समीक्षा-सिद्धान्तों के देशकालानुरूप परिवर्तित होते रहने की बात बलपूर्वक कही थी । उन्होंने नाटकों के उद्देश्य पर विचार करते हुए समाज-संस्कार और देश-वत्सलता को महत्व दिया था ।''[13] कुल मिलाकर यह देखा जा सकता है कि समीक्षा का विधिवत आगाज भारतेन्दु-काल में हो चुका था जिसमें जिन दो महत्वपूर्ण बिन्दुओं को केन्द्र में रखकर बात कही जा रही थी वह यह थी कि शास्त्रीय समीक्षा-सीद्धांत में युगानुरूप परिवर्त्तन के साथ-साथ नाटकों के उद्देश्य में समाज एवम् देश कल्याण की भावना अनुस्यूत होनी चाहिये । यहाँ इतना कहा जा सकता है कि समीक्षा की जो दिशा भारतेन्दुजी ने दिखाई अथवा जिन महत्वपूर्ण आधारों को समीक्षा का मानदण्ड बनाया, बहुत हद तक उन आधारों का अनुपालन परवर्त्ती आचार्यों ने भी किया ।

वहीं द्विवेदी काल तक आते-आते हमें समीक्षा के क्षेत्र एवम् प्रवृत्तियों में

व्यापक परिवर्तन दीखई पड़ता है, क्योंकि इस समय तक अनेक भारतीय भाषाओं में साहित्य का विकास होने लगा था, साथ-ही अंग्रेजी साहित्य का व्यापक प्रभाव साहित्य की अन्य विधाओं पर भी पड़ने लगा था । पत्र-पत्रिका का प्रकाशन भी अधिक होने लगा था । फलतः समीक्षा के क्षेत्र में भी उतरोत्तर विकास दिखाई पड़ना स्वभाविक था। इस प्रकार द्विवेदी-काल में हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में जिन प्रवृत्तियों का विकास हुआ उनमें प्रमुखतः -

" 1. शास्त्रीय आलोचना

क. रीतिकालीन लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा में काव्यांग विवेचन

ख. नवीन दृष्टिकोण से सिद्धान्त-स्थापना ।

2. तुलनात्मक मूल्यांकन एवम् निर्णय ।

3. समीक्षा की नवीन व्यावहारिक पद्धति का विकास : व्याख्यात्मक आलोचना ।

4. अन्वेषण एवं अनुसंधान-परक समीक्षा ।

5. प्राचीन व्यावहारिक आलोचना का अभिनव रूप : व्याख्यात्मक टीकाएँ ।

6. पाठालोचन एवं पाठानुसंधान ।"[14]

यहाँ यह देखा जा सकता है कि भारतेन्दुकाल की अपेक्षा द्विवेदी-काल में समीक्षा का स्तर काफी गम्भीर एवम् व्यापक हो चुका था । समीक्षा के क्षेत्र में नवीनता का सूत्रपात होने लगा था । एक तरह से हम कह सकते हैं कि नवीन ढंग से व्यावहारिक समीक्षा-पद्धति का विकास द्विवेदी-काल में हो चुका था, जो सुधारवादी समीक्षा-दृष्टि थी ।

पर वास्तव में समीक्षा-दृष्टि का आधुनिकतम विकास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समय में ही हुआ । शुक्ल-काल में ही समीक्षा-दृष्टि अपनी वास्तविक ऊँचाई

पर प्रतिष्ठित हुई । शुक्लजी ने समीक्षा के क्षेत्र में कई मौलिक सिद्धांतों की स्थापना की । उदाहरणतः काव्य के विधान के लिए हृदय की मुक्तावस्था आवश्यक ; काव्य का विषय विशेष होता है सामान्य नहीं, काव्य व्यक्ति को सामने लाता है जाति नहीं ; जीवन का प्राकृत सामंजस्य विश्व के साथ रागात्मिका वृति के प्रसार के बिना सम्भव नहीं ; लोक-रक्षा का मार्ग या फिर धर्म का मार्ग वृत्तियों की भिन्नता के बीच से ही सम्भव हो सकता है । इसके अतिरिक्त ''काव्यानुभूति को लोकानुभूति से सर्वथा पृथक न मानना, रस-विवेचन को शास्त्र-स्थिति-सम्पादन-मात्रता की संकुचित सीमा से बाहर लाकर लोक मंगल-विधायक सिद्ध करना, काव्यकृतियों को साधनावस्था और सिद्धावस्था के रूप में विभाजित करना, प्रबन्ध-काव्यों में बीज-भाव की स्थिति लक्ष्य करना, काव्य में विभाव-पक्ष को अधिक महत्व देना''[15] आदि मान्यताएँ हिन्दी-समीक्षा सिद्धान्तों के क्षेत्र में मौलिक एवम् नवीन सिद्ध साबित हुए हैं ।

वैसे आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने आलोचना के विकास के सम्बन्ध में एक स्थान पर कहा है कि -- ''नए ढंग की आलोचना का आरंभ हिन्दी में आधुनिक काल के आरंभ में ही दिखाई पड़ा और इसका आरंभ बालकृष्ण भट्ट द्वारा हुआ ।''[16] ध्यातव्य हो कि मिश्रजी ने आलोचना के लिए एक शब्द समीक्षा भी माना है। अतः हम कह सकते हैं कि आलोचना के अनन्तर समीक्षा का भी आर्विभाव साथ-साथ हुआ । वैसे समीक्षा एवम् आलोचना में मूलतः फर्क इतना ही मिश्रजी मानते हैं कि - ''समीक्षा में आन्तरदृष्टि प्रधान है । संप्रति आलोचना में बाहरी भीतरी दोनों दृष्टि रहती है ।''[17] आलोचन का काम है कि -- ''वह सामाजिक व्यवस्था के साथ साहित्य के अंतः संबंधों की बोधगम्य व्याख्या करे ।''[18] आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री ने तो यहाँ तक *कहा है कि -- ''आलोचक को रचनाकार का अंतरंग होना चाहिए और रचना के आधार*

पर ही आलोचना के मानदण्ड स्थापित करना चाहिए ।"[19] इसके साथ-साथ जहाँ तक समीक्षा एवम् आलोचना के क्षेत्र में सम्यक् विकास का प्रश्न है तो मिश्रजी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को ही व्यवस्थित आलोचना का प्रवर्तक स्वीकारते हैं । ये कहते हैं कि- "स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ही व्यवस्थित एवम् शास्त्र-संमत विश्लेषानात्मक आलोचना के प्रवर्तक हुए ।"[20] कहने की आवश्यकता नहीं है कि गम्भीर एवम् व्यवस्थित समीक्षा-सिद्धान्त का विकास शुक्ल युग में ही हुआ । इस युग के प्रमुख समीक्षक एवम् आलोचकों में शुक्लजी के अतिरिक्त डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेन्द्र, पं. शान्तिप्रिय द्विवेदी, आदि के नाम सहर्ष लिए जा सकते हैं।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी की समीक्षात्मक दृष्टि को चार वर्गों में बाँट कर हम देख सकते हैं -

1. सैद्धांतिक दृष्टि,
2. साहित्येतिहास लेखन,
3. कवियों का मूल्यांकन एवम्
4. सम्पादन एवम् टीकाकार्य ।

आचार्य मिश्र के समीक्षात्मक दृष्टि के विभागों का अवलोकन हम उनके द्वारा रचित 'वाङ्मय विमर्श' एवम् आचार्य शुक्लजी द्वारा रचित 'चिन्तामणि' के 'मंजूषा' तथा सम्पादित रचनाओं की सम्पादकीय एवम् भूमिका-लेखन में कर सकते हैं । जिसमें इन्होंने अधोलिखित बिन्दुओं को विवेचन-विश्लेषण का विषय बनाया, उनमें काव्य के स्वरूप, रस की स्थिति, काव्यानुभूति अथवा रसानुभूति, काव्य और कला, भाषा-भेद एवम् पिंगल-भेद के बावजूद साहित्य में किसी प्रकार के भेद से इन्कार, हिन्दी साहित्य का अतीत वर्तमान की अपेक्षा अधिक समृद्ध, अतीत के आभोग में आदिकाल एवम् मध्यकाल का स्थान आदि के साथ-साथ काल-खण्ड के नामकरण, उसकी समय-सीमा

तथा कवियों एवम् रचनाकारों का मूल्यांकन प्रमुख हैं । काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में मिश्रजी का इतना मानना है कि अगर हम ''रसमय वाक्य को काव्य कहते हैं तो इसमें 'रसमय' विशेषण काव्य के बाहरी रूप का नहीं, उसके भीतरी तत्व का बोधक होगा।''[21] ये कहते हैं कि काव्य के भावों में लीन होने से हृदय की वृत्तियाँ परिष्कृत होती है । काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में इनकी सैद्धांतिक दृष्टि यह मानती है कि- ''काव्य का स्वरूप ठहरता है भावों की योजना करके रसमग्न करने वाली रचना अथवा थोड़े में रमणीयता । उसका चरम उद्देश्य ठहरता है वृत्तियों का शोधन ।''[22] रस के सम्बन्ध में अन्य विद्वानों के विचारों की विवेचना करते हुए इन्होंने रस की स्थिति पाठक या दर्शक में मानी तथा श्रृंगार को रसराज कहा । भारतीय आचार्यों ने तो यहाँ तक कहा है कि - ''सौन्दर्यानुभूति और रसानुभूति तत्त्वतः एक ही है ।''[23] ये कहते हैं कि- ''अन्य रसों की अनुभूति में असमर्थ भी श्रृंगार की अनुभूति कर लेते हैं ।''[24] रस का सम्बन्ध इन्होंने अनुभूति से माना । वस्तुतः ''रस भावना का आरम्भ आनन्द की अनुभूति से हुआ ।''[25] यह अनुभूति दो प्रकार की इन्होंने बतायी जिसमें से एक- जिसका सम्बन्ध हमारे व्यक्तिगत जीवन से होता है तथा जिसकी बदौलत हम ''क्रोध, करुणा, घृणा, प्रेम आदि भावों की जो अनुभूति करते हैं वह प्रत्यक्षानुभूति होती है ।''[26] वहीं काव्य के पढ़ने अथवा नाटक के देखने से जो हमारे मन में क्रोध, घृणा अथवा प्रेम के भावों की अनुभूति होती है अथवा जगती है उसे मिश्रजी ने काव्यानुभूति अथवा रसानुभूति कहा है । इनकी दृष्टियों को केन्द्र में रखकर डॉ. राय कहते हैं कि - ''मिश्रजी काव्य के उभय पक्षों को दृष्टिगत कर काव्य के उद्देश्य के परिवेश में काव्य का लक्षण प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं । काव्य के भावों में लीन होने से या उसके

द्वारा रंजित होने से हृदय की वृत्तियों का व्यायाम होता है, वे परिष्कृत होती हैं । अतः काव्य का चरम लक्ष्य मनोवृत्तियों का परिशोधन है ।''[27]

काव्य और कला के सम्बन्ध में मिश्रजी का मानना है कि जैसी सोच काव्य और कला के सम्बन्ध में पश्चिमि देशों के विद्वानों की है वैसी भारत में नहीं । ''यहाँ 'कला' शब्द दो अर्थों में व्यवहृत होता है - संगीत और शिल्प । काव्य न संगीत के अंतर्गत आता है न शिल्प के । इसलिए उसे कलाओं से सदा पृथक् ही रखा गया।''[28] वही इन्होंने यह भी कहा कि काव्य-कला नेत्र और श्रवण दोनों से आनन्द प्रदान करता है । आगे ये यह भी कहते हैं कि जीवन को गतिमान बनाये रखने के लिए जिन पदार्थों की आवश्यकता पड़ती है उसके निर्माण का शिल्प कला के अन्तर्गत आता है । आचार्य मिश्रजी की समीक्षात्मक दृष्टि का अवलोकन उनके द्वारा रचित साहित्येतिहास ग्रंथों में देखी जा सकती है । 'हिन्दी साहित्य का अतीत भाग एक' में इन्होंने भाषा-भेद, पिंगल-भेद, विन्यास-भेद आदि को स्वीकारा पर साहित्य में किसी भी प्रकार के भेद को इन्होंने स्वीकार नहीं किया । इनका मानना है कि हिन्दी सबसे जेठी भाषा है, पर अपभ्रंश साहित्य हिन्दी साहित्य से पृथक है । उत्तरकालिक अपभ्रंश को इन्होंने हिन्दी के समीप माना । वहीं इन्होंने हिन्दी साहित्य के अतीत को अधिक महत्व देते हुए वर्तमान से अधिक ऋद्ध-समृद्ध माना । वे कहते हैं कि - ''हिन्दी साहित्य के अतीत के आभोग में उसका आदिकाल और मध्यकाल आता है ।''[29] रासो ग्रंथों को इन्होंने उत्तरकालिक ही माना है । ये कहते हैं कि पृथ्वीराज रासो जैसे ग्रंथों की जो प्राचीनता की दुहाई दी जाती है वह भी भ्रमात्मक है । विद्यापति को ये आदिकाल का कवि स्वीकारते हैं । इसका उल्लेख इन्होंने अपने ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य का अतीत भाग एक' में इस प्रकार किया है । ये मानते हैं कि - ''इस प्रकार विद्यापति ही ऐसे रह

जाते हैं जो उस युग के हैं और जिनकी रचनाएँ दरभंगा और नेपाल के राजकीय पुस्तकालयों में अधिकांश में सुरक्षित होने के स्वकीय प्राचीनता का प्रामाणिक आख्यान कर सकती है ।''[30] भक्तिकाल के सम्बन्ध में मिश्रजी का मानना है कि भक्तिकाल में जो साहित्यिक सर्जना की बहुलता देखी जाती है वह सभी तो विशुद्ध साहित्य नहीं मानी जा सकती । कारण यह है कि सिर्फ वैसी रचनाओं को विशुद्ध साहित्य माना जा ''जिसका साध्य और साधन दोनों साहित्यिक है, ऐसी विशुद्ध सर्जना श्रृंगारकाल में हुई।''[31] ध्यातव्य हो कि इन्होंने रीतिकाल को श्रृंगारकाल कहा है । ये आदिकाल को वीरकाल नाम से अभिहित करते हैं और समय-सीमा 1000 विक्रम से 1400 विक्रम तक स्वीकारते है वहीं भक्तिकाल की अंतिम सीमा 1700 विक्रम तक ले जाते हैं तथा आधुनिक काल की शुरुआत 1900 से मानते हैं । कवियों का मूल्यांकन इनके द्वारा रचित अथवा संपादित ग्रंथों की भूमिकाओं में देखा जा सकता है। 'गंगालहरी' नामक पुस्तक में इन्होंने पद्माकर कवि के जीवनवृत उसके कार्य-कलाप एवम् रचनाओं का समीक्षात्मक विवेचन सविस्तार किया है। 'बिहारी की वाग्विभूति' में इन्होंने कवि 'बिहारी' का पूर्ण परिचय दिया है । इसी प्रकार घनानंद, भूषण, रसखान, भिखारीदास, केशव आदि जैसे महान कवियों का समीक्षात्मक अवलोकन अपने अलग-अलग ग्रंथों में किया है ।

पत्रिका-सम्पादकीय में भी इन्होंने कई महान रचनाकारों की साहित्यिक देन का समीक्षात्मक वर्णन प्रस्तुत किया है, साथ-ही कई कवियों की रचनाओं की टीकाएँ भी इन्होंने प्रस्तुत की हैं । जैसे घनानंद की रचनाओं की टीकाएँ इन्होंने 'घनानंद कवित्त' के रूप में प्रस्तुत किया है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समीक्षा-सिद्धांत का विकास भारतेन्दु-युग

से शुरू होकर द्विवेदीयुग में प्रवेश करता है जहाँ इसका उत्तरोत्तर विकास होता है । शुक्लजी के समय समीक्षा काफी पल्लवित-पुष्पित होती है । मिश्रजी की समीक्षा-दृष्टि के अन्तर्गत उनकी सैद्धांतिक दृष्टि, साहित्येतिहास लेखन की दृष्टि, कवियों का मूल्यांकन, सम्पादन एवम् टीकाकार्य के रूप में देखा जा सकता है । इन्होंने समीक्षा में अभ्यांतरिक दृष्टि को प्रधान माना है । यहाँ तक कि अगर हम रसमय वाक्य को काव्य कहते हैं तो रसमय विशेषण काव्य के भीतरी तत्व का ही बोधक होता है जहाँ रस की स्थिति पाठक या दर्शक में निहित होती है । ये भाषा-भेद को स्वीकारते हैं पर साहित्य में किसी भी प्रकार के भेद को नहीं स्वीकारते हैं । अंत में ये कहते है कि जिसका साध्य और साधन दोनों साहित्यिक हो ऐसी विशुद्ध सर्जना श्रृंगारकाल में हुई है और वही विशुद्ध साहित्य कहलाने की अधिकारिनी है ।

5. **ग. निबन्धकार के रूप में :**

"निबंध का अर्थ है गठा हुआ, कसा हुआ, बंधा हुआ ।"[32] निबंध गद्य-पद्धति की एक विशिष्ट विद्या है । "निबन्ध का मौलिक अर्थ नि + बन्ध (बाँधना) + धञ (संग्रहार्थक प्रत्यय) रोकना है जिसका प्रयोग लिखे हुए भोजपत्रों को सँवारकर बाँधने या सीने की प्रक्रिया के लिए होता था । कालान्तर में अर्थ-संकोच के रूप में केवल साहित्यिक कृति के लिए इसका उल्लेख किया जाने लगा। संस्कृत में निबन्ध का समानार्थी किन्तु अधिक व्यापक शब्द प्रबन्ध है, जिसका मूल अर्थ (प्र + बन्ध + अच) सन्दर्भ या ग्रंथ रचना है । हिन्दी में निबन्ध का प्रयोग गोस्वामी तुलसीदास ने प्रबन्ध-काव्य के लिए किया है ।"[33] वस्तुतः निबन्ध का उदभव और विकास आधुनिक युग की देन है । आधुनिक युग गद्य-युग है । आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी का

मानना है कि - ''गद्य अपनी कसावट, अपनी अर्थ-संपत्ति, अपनी व्यंजना-विधि अपनी विचार-वीथी का अभिसरण इनमें कहीं-कहीं भले ही कर ले, पर ये उसकी उक्त दृष्टि से वास्तविक भूमि ही नहीं है । अतः गद्य की वास्तविक भूमि 'निबन्ध' ही ठहरते हैं, जहाँ वह अपनी गुरुता और शक्ति का भली-भाँति प्रदर्शन भी कर सकता है और प्रमाण भी दे सकता है ।''[34] निबन्ध के सम्बन्ध में हम अन्य विद्वानों के भी विचार देख सकते हैं । डॉ. रामचन्द्र तिवारी अपनी पुस्तक 'निबंध-निकष' में लिखते हैं कि - ''निबंध आधुनिक गद्य-साहित्य की एक लोकप्रिय और सशक्त विधा है। इस विधा का ढाँचा पाश्चात्य साहित्य से ग्रहण किया गया है ।''[35] डॉ. तिवारी जी ने साहित्यिक दृष्टि से भी निबन्ध पर विचार करते हुए कहा कि - ''साहित्य सृष्टि की परंपरा में निबंध का स्थान इस तरह ठहरता है -

काव्य
↓
श्रव्य → दृश्य

श्रव्य
↓
पद्य | गद्य | मिश्रचंपू

गद्य
↓
कथा | प्रबंध | संस्मरण | जीवनी | समालोचना

प्रबंध
↓
वस्तुपरक | आत्मपरक

वस्तुपरक ↓ लेख आदि
आत्मपरक ↓ निबंध''[36]

इसी प्रकार डॉ. राम सजन पाण्डेयजी ने अपनी सम्पादित पुस्तक 'हिन्दी निबन्ध : स्वरूप और विकास' में निबन्ध के सम्बन्ध में ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी में जो बातें कहीं गयी हैं उसका उल्लेख करते हुए कहा है कि - "ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी में निबन्ध की सभी विशेषताओं को ध्यान में रखकर कहा गया है कि किसी विशिष्ट विषय या उसकी शाखा के सम्बन्ध में एक मध्यम आकार की गद्य-रचना को निबन्ध कहते हैं, जो अपने मूल रूप में अपूर्ण-सी होती है, किन्तु जो काव्य में सीमित, परन्तु शैली में समृद्ध होती है ।"[37]

निबन्ध लेखन की कई पद्धतियाँ आधुनिक काल में प्रचलित हुई हैं । यथा विचारात्मक निबन्ध, भावात्मक निबन्ध, आत्मपरक निबन्ध, वर्णनात्मक निबन्ध, विवरणात्मक निबन्ध आदि प्रमुख हैं । विचारात्मक निबन्ध वस्तुतः व्यक्ति प्रधान रचना होता है जिसमें बुद्धि-तत्व की प्रधानता रहती है । आचार्य मिश्रजी का मानना है कि - "निबंन्ध विचार प्रधान रचना है पर उसमें भी वस्तु और अनुभूति का यत्र-तत्र प्रयोग होता ही है।"[38] वस्तुतः इस प्रकार के निबन्ध में निबन्धकार के विचारों की प्रधानता रहती है । "निबन्धकार इस प्रकार के निबन्ध में समाज, साहित्य, राजनीति आदि विषयों पर अपने मौलिक विचार व्यक्त करता है । यह विचार निबन्धकार के व्यक्तित्व के अंग होते हैं । उसका चिन्तन और मनन इन निबन्धों में व्यक्त होता है ।"[39] विचारात्मक निबन्ध को कुछ विद्वानों ने 'मनोवैज्ञानिक निबन्ध' की भी संज्ञा दी है । क्योंकि इस प्रकार के निबन्धों में मनोवैज्ञानिक स्थिति का विवेचन-विश्लेषण होता है । "आचार्य शुक्ल के निबन्ध संग्रह 'चिन्तामणि' के अन्तर्गत संकलित श्रद्धा, घृणा, क्रोध आदि विषयों पर लिखे गये निबन्ध तथा प्रसाद जी के 'चित्राधार' में संग्रहीत उसके निबन्ध विचारात्मक ही कहे जाएगें ।"[40]

दूसरी कोटि के निबन्ध भावात्मक निबन्ध होते हैं । इसमें भावनाओं की प्रधानता होती है । कल्पना एवम् विचार-तत्व का भी मिश्रण अवश्य रहता है । भुवनेश्वरी चरण सक्सेना जी कहते हैं कि इस प्रकार के निबन्धों में - ''लेखक की अनुभूतियाँ, उसकी भावनाएँ, उसके अनुभव आदि की अभिव्यक्ति होती है । विषय-वस्तु अर्थात् अनुभूतियाँ तथा भावादि जितने प्रखर, तीव्र और मर्मस्पर्शी होंगे और उनका प्रकाशन जितना प्रभावशाली होगा, उतना ही वे वाचक हृदय को प्रभावित करेंगे और उसी सीमा तक उनको सफल कहा जाएगा ।''[41]आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी भी मानते हैं कि निबन्धों में हमेशा विचार ही प्रमुख नहीं होते और न ही अनुभूति और वस्तु-विधान गौण । वे कहते हैं कि -- ''कभी अनुभूति की मात्रा बढ़ जाती है तो कभी वस्तु की । विचार थोड़ी देर के लिए दब जाता है ।''[42] भावात्मक निबन्ध में भी हम देखते हैं कि भाव एवम् अनुभूति प्रखर होती है जबकि विचार का स्थान सबसे अन्त में होता है ।

वही आत्मपरक निबन्ध में लेखक का व्यक्तित्व प्रधान होता है । यह विचारात्मक एवम् भवात्मक निबन्ध से थोड़ा अलग होता है । इस प्रकार के निबन्ध में लेखक अपनी ही बात करता है । भुवनेश्वरीचरणं सक्सेना जी कहते हैं कि -- ''मुख्यतः ऐसे निबन्धों की रचना की पृष्ठभूमि में विविध भौतिक स्थितियाँ ही कारण बनकर विद्यमान रहती हैं । भौतिक-अभाव, सम्बन्धियों का विछोह, निज-दुर्भाग्य, सामाजिक प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा, आदि कुछ ऐसे कारण हैं जिनको लेकर आत्म-परक निबन्धों का जन्म होता है ।''[43] आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने भी इस प्रकार के आत्मपरक अथवा व्यक्तिप्रधान निबन्धों की चर्चा अपनी पुस्तक हिन्दी का सामयिक साहित्य में किया है । वे कहते हैं कि -- ''यद्यपि पश्चिम में पहले विषय-प्रधान निबन्धों का ही

विशेष चलन था पर पीछे से 'कृतित्व' को ही साहित्य का प्रमुख रूप मानकर व्यक्ति-प्रधान निबन्धों पर जोर दिया जाने लगा । निबन्ध में व्यक्तित्व ही सब कुछ समझा जाने लगा ।''[44] इन्होंने छायावादी कवियों की कृतियों से इसकी समानता दिखाते हुए कहा कि इसमें विषय-वस्तु का महत्व कम ही होता है, बल्कि तुच्छ से तुच्छ वस्तु पर निबन्धकार के अपने व्यक्तिबद्ध अनुभूति का आरोप रहता है जहाँ विचार क्षीण रूप में दिखाई पड़ती है ।

निबन्धों की श्रृंखला में वर्णनात्मक निबन्ध का भी महत्वपूर्ण स्थान होता है । इस प्रकार के निबन्ध में किसी प्राकृतिक दृश्य, मेला अथवा किसी घटना का सजीव एवम् मनोहारी वर्णन होता है । वर्णन के दौरान निबन्धकार अपने विचार, कल्पना, अनुभूति आदि सभी का उपयोग करते हैं ताकि विषय-वस्तु का प्रतिपादन बेहतर ढंग से हो सके । भुवनेश्वरीचरण सक्सेना जी का मानना है कि - ''वर्णन भी ऐसा होना चाहिये कि वर्णित-वस्तु व व्यापार के प्रति पाठक की रागात्मक-वृति जागृत हो जाय । इसके लिए निबन्धकार को कल्पना का सहारा लेना होता है । जिसके द्वारा वह विश्व को सामने लाकर रख सके ।''[45]

इसके अतिरिक्त विवरणात्मक निबन्ध का स्थान आता है, जिसमें विवरण की प्रधानता होती है । पौराणिक कथाओं, संस्मरणों अथवा घटनाओं का क्रमबद्ध विवरण अथवा ऐतिहासिक घटनाचक्र का विवरण निबन्धकार विवरणात्मक निबन्ध के तहत ही करता है । सक्सेनाजी इस प्रकार के निबन्ध को कथात्मक अथवा ऐतिहासिक निबन्ध की भी संज्ञा देते हैं । भुवनेश्वरीचरण सक्सेना जी का मानना है कि- ''विवरणात्मक निबन्ध के लेखक को कलात्मकता की ओर अधिक ध्यान देना होता है, और इसलिए उसका कार्य वर्णनात्मक निबन्ध के लेखन की अपेक्षा अधिक कठिन होता

है । भावों का बिम्ब ग्रहण के लिए सूक्ष्म कल्पना और अनुभूति का सहारा लेना होता है। प्रसाद-शैली ही इसके लिए उपयोगी है, किन्तु व्यंजना के लिए इसमें यथेष्ट स्थान है । बीच-बीच में हास्य और व्यंग्य के छींटे रोचकता में चार चाँद लगा देती हैं।''[46]

निबन्धों के इन प्रकारों के अतिरिक्त आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने कुछ और भी निबन्धों के प्रकार की चर्चा अपने 'हिन्दी के सामयिक साहित्य' में किया है । इनके अनुसार काव्यात्मक निबंध, लाघवमूलक निबन्ध, रेखा मात्र निबंध आदि भी निबन्ध के क्षेत्र में अपना विशेष स्थान रखते हैं । इनके अनुसार काव्यात्मक निबन्ध ''वस्तुतः वह गद्य-रचना है जिसमें कविता का तत्त्व विशेष रूप से जोड़ लिया गया है। वह काव्यात्मक निबंध है, काव्यात्मक कहानी नहीं । उसमें विचार तत्व का एकांत बहिष्कार नहीं रहता ।''[47] वहीं 'लाघवमूलक' निबन्ध के सम्बन्ध में मिश्रजी का मानना है कि इसमें चित्र-तत्त्व की प्रधानता रहती है । इस आशय का उल्लेख करते हुए ये कहते हैं कि -- ''लाघव मूलक निबन्धों में वस्तुतः चित्र-तत्त्वों का विधान रेखामात्र ही होता है । किसी विचार का सोता सहसा फूट पड़ता है और लेखक उसे रेखामात्र या स्थूल-चित्र के रूप में प्रस्तुत कर देता है ।''[48] इस प्रकार ऐसे निबन्धों में चित्र-तत्त्व की सहायता अधिक ली जाती है । ये कहते हैं कि 'रेखमात्र निबन्ध' ज्यादातर व्यक्ति-विशिष्ट होते हैं । इसमें हास्य-विनोद, व्यंग्य-वक्रता, चुटकी-चिकोटी आदि का भरपूर पुट रहता है ।

वैसे आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी की ख्याति जहाँ एक ओर आलोचक के रूप में रही है वहीं निबन्धकार के रूप में भी उनका विशेष स्थान हिन्दी साहित्य में है । वैसे मिश्रजी के अधिकांश निबन्ध विचारात्मक एवम् आलोचनात्मक ही है उदाहरण स्वरूप साहित्य और लोकजीवन, निजभाषा उन्नति अहै सब उन्नति को

मूल, साहित्य में स्थान, साहित्यिक मानदंड आदि । आचार्य मिश्रजी के निबन्ध उनके निबन्ध संग्रह 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' एवम् 'गोंसाई तुलसीदास' में संग्रहित हैं । इन्होंने संस्मरणात्मक निबन्ध भी लिखे हैं । 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' में संग्रहित 'महावीर तीर्थ की यात्रा' इसी कोटि के निबन्ध माने जा सकते है । यह निबन्ध इन्होंने कथात्मक-शैली में लिखा है । इस शैली का एक उदाहरण द्रष्टव्य है - "जब हमलोग मुगलसराय पहुँचे तो तूफान मेल पैंतालीस मिनट लेट था । केडिया जी की उत्सुकता और उत्कंठा उस समय देखने ही योग्य थी । ।"[49]

विचारात्मक निबन्धों में मिश्रजी के अपने विचार के भी दर्शन होते है । एक उदाहरण हम 'साहित्य और लोकजीवन' से ले सकते हैं जिसमें एक स्थान पर मिश्रजी कहते हैं कि "जो साहित्य जीवन से विच्छिन्न होकर चलता है वह बहुत दिनों तक ठहर नहीं सकता । ज्यों-ज्यों जीवन-धारा बल खाती, फैलती, सिकुड़ती, तीव्र होती, मंद पड़ती, स्वच्छ होती या गँदली होती हुई आगे बढ़ती है त्यों-त्यों साहित्य-धारा भी अपने रूप बदलती चलती है । कभी जीवन-धारा आगे बढ़ जाती है और साहित्य-धारा पिछड़ जाती है, पर ऐसा नहीं हो सकता कि जीवन-धारा एकदम पृथक रूप में बहती हो और साहित्य-धारा बहुत दिनों तक उससे पृथक रूप में ही बनी रहे।"[50]

आचार्य मिश्रजी ने विषय-प्रधान विवेचन पद्धति में भी निबंधों की

गंभीरता को पाठक तक पहुँचाने का सार्थक प्रयास किया है । उनके इस प्रकार के निबन्धों के कुछ अंश यहाँ हम उदाहरण के तौर पर देख सकते हैं -- "ज्ञान की पहुँच की सीमा भिन्न होने के कारण उनकी पसंद में भिन्नता आ जाती है । इसी से सुजन-साहित्य और जन-साहित्य में भेद हुआ करता है । सुजन अर्थात् विद्वज्जन का साहित्य निखार-परिष्कार, गूढ़ता-गंभीरता का आकलन करता है । जन-साहित्य में निखार-संस्कार की अपेक्षा नहीं होती । सहज अभिव्यक्ति ही उसमें सप्राण रहती है।"[51]

आलोचनात्मक निबंधों के सापेक्ष उनके विचारात्मक निबन्धों की संख्या अधिक है । इस प्रकार के निबन्धों को हम 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' एवम् 'गोसाईं तुलसीदास' में संग्रहित पाते हैं । इस प्रकार के निबन्धों के अन्य उदाहरण भी लिये जा सकते हैं । उदाहरणतः "जीवन की संकुलता की वृद्धि भी उत्तरोत्तर होती जा रही है । अतः समय का अभाव सबके सामने है । पश्चिमी देशों में तो इसी कारण प्रत्येक विषय की चलती पुस्तकें निकाली जाती हैं । इसलिए अनिवार्य हो गया है कि पाठक को कोई सच्चा मार्गोपदेशक मिले । वह ठीक-ठीक निर्णय करके बतला दे कि कौन सी पुस्तक पढ़ने योग्य है और कौन सी त्याज्य है ।"[52]

इस प्रकार निबन्धों की कोटियों में विचारात्मक, वर्णनात्मक, विवरणात्मक, भावात्मक, आत्मपरक के अतिरिक्त मिश्रजी ने काव्यात्मक निबंध, लाघव मूलक निबन्ध, रेखामात्र निबन्ध की भी चर्चा की है । मिश्रजी के अधिकांश निबन्ध विचारात्मक ही है। साहित्य और लोकजीवन, साहित्य में स्थान, 'निजभाषा उन्नति अहै' आदि संस्मरणात्मक निबन्ध की कोटि में स्थान पाने योग्य है । कहना न होगा कि - महावीर तीर्थ की यात्रा जो कथात्मक-शैली में लिखी हुई निबंध है, मिश्रजी के तमाम बेहतरीन निबंधों में से एक है ।

5. **घ - टीकाकार के रूप में :**

'संस्कृत-हिन्दी कोश' में टीका का सामान्य अर्थ ''व्याख्या अथवा भाष्य''[53] बताया गया है, जबकि इसके लेखक को टीकाकार की संज्ञा दी जाती है । साहित्य के गूढ़ एवम् अत्यधिक क्लिष्ट शब्दों-प्रसंगों को सामान्य जन के हितार्थ सरल, सरस एवम् बोधगम्य बनाने की साहित्यिक पद्धति सिर्फ विद्वानों एवम् साहित्यक पण्डितों को ही मालूम होती है, वे उन क्लिष्ट शब्दों, प्रसंगों को पाण्डित्यपूर्ण ढंग से अर्थ-प्रकाशन की विभिन्न पद्धतियों को अपनाकर घटना, चरित्र एवम् तथ्यों की व्यंजना के मद्देनजर उसकी टीका-टिप्पणी, भाष्य, व्याख्या एवम् विवेचना करते हैं । ''साहित्य के क्षेत्र में अर्थ-प्रकाशन की परम्परा का उद्‌भव वेदों के आविर्भाव के थोड़े समय पश्चात् ही हो गया और यह परम्परा आज तक अपने विविध रूपों में पल्लवित पुष्पित होती रही है ।''[54] अर्थ-प्रकाशन की दो पद्धतियों का जिक्र डॉ. रामबहादुर रायजी ने अपनी पुस्तक में किया है, वे हैं -- प्रत्यक्ष पद्धति एवम् परोक्ष पद्धति । डॉ. राय कहते हैं कि-- ''अर्थ-प्रकाशन की परोक्ष-पद्धति में भी दो प्रकार की शैलियाँ हैं -- एक स्वतंत्र पद्धति और दूसरी चित्र पद्धति । इनमें पहली प्रणाली प्रधानतः वैदिक साहित्य में मिलती है । दूसरी प्रणाली का प्राचीन रूप मन्दिरों, गुफाओं (एलोरा, अजन्ता आदि), राज-प्रसादों एवम् उत्कीर्ण कथा-गाथाओं में मिल जाता है । हिन्दी साहित्य में भी जायसी कृत पद्‌मावत, रामचरितमानस सचित्र, बिहारी के दोहों आदि में मिलते हैं।''[55]

टीका-पद्धति को संस्कृत साहित्य में पल्लवित-पुष्पित करने का सारस्वत् कार्य अनेक उद्‌भट् एवम् प्रकाण्ड-पण्डितों-विद्वानों ने किया जिनमें पतंजलि, कात्यायन, लोल्लट, शंकुक, अभिनवगुप्त भट्‌टनायक, पण्डित राज जगन्नाथ आदि विभूतियाँ हैं। डॉ. रामबहादुर रायजी का मानना है कि -- ''लिखित टीका-पद्धति के ग्रंथों में

अष्टाध्यायी पर हुए कात्यायन की वर्त्तिका (ई. पू. 4 थी शताब्दी) को प्राचीनतम माना जा सकता है । दर्शन-ग्रन्थों एवम् वैदिक टीकाकारों की उपलब्ध प्राचीनतम टीकाएँ उसके पश्चात् की ही मानी जाती हैं ।''[56]

हिन्दी साहित्य में भी टीकाओं की सुदीर्घ परम्परा रही है । खासकर मध्यकाल में 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता', तथा 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' पर क्रमशः गुसाईं हरिराय तथा नाभादास जी की टीकाएँ उपलब्ध हैं। इसी प्रकार बिहारी सतसई, रामचरितमानस आदि पर भी कई टीकाएँ लिखी गयीं । आचार्य मिश्रजी कहते हैं कि बिहारी के सतसैया पर सबसे पहली टीका कृष्णलाल की है - ''इस टीका के अन्त में यह दोहा है --

संवत ग्रह ससि जलधि छिति छठ तिथि बासर चंद ।
चैत मास पख कृस्न मैं पूरन आनंदकंद ।।''[57]

इसके अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने भी बिहारी-सतसैया पर टीकाएँ लिखीं हैं । मिश्रजी कहते हैं कि केशव के ग्रंथों के प्रसिद्ध टीकाकार सूरति मिश्रजी ने भी अमरचन्द्रिका नाम से टीका लिखीं । आधुनिक युग में भी टीकाएँ लिखी गयी हैं । 'रामचरितमानस' पर लालाभगवान दीन ने भी टीका लिखीं हैं । ये कहते हैं कि श्री लालाभगवानदीन जी ने ''तुलसीदास के पाँच छोटे ग्रंथों की टीका 'तुलसी-पंचरत्न' नाम से प्रकाशित की।''[58] मिश्रजी ने स्वयं स्वीकारा है कि उन्होंने अपने गुरुदेव श्री लालाभगवान दीन के सानिध्य में रहकर रामचरितमानस जैसे महाकाव्य के कुछ काण्डों की टीकाएँ लिखीं जिसमें अयोध्याकाण्ड, किष्किंधाकाण्ड, सुंदरकाण्ड आदि हैं । इसका उल्लेख उन्होंने अपनी पुस्तक 'गोसाई तुलसीदास' के 'पुरोवाक' में इस प्रकार किया है । वे कहते हैं कि - ''साहित्य विशारद हो जाने पर मैंने गुरुदेव के आदेश का पालन किया। अयोध्याकाण्ड

की टीका सबसे पहले लिखी । फिर किष्किंधाकाण्ड और सुन्दरकाण्डों की टीका भी लिख डाली । लालाजी ने इन्हें देखा और यथास्थान कुछ ही विशेष जोड़कर प्रकाशित करा दिया । उमंग में मैंने अरण्यकाण्ड की भी टीका लिख डाली ; शेष तीन काण्डों की टीका भी लिखनी आरम्भ की, जिनके कुछ ही अंश लिखे जा सके ।''[59]

यहाँ यह स्पष्ट होता है कि मिश्रजी का भी योगदान टीका-लेखन के क्षेत्र में रहा है । वास्तव में टीका की अन्दरूनी कई विधाएँ हैं । यथा ''टीका की भाष्य, व्याख्या, टिप्पणी, कृति, वर्तिका, कारिका आदि विधाएँ है । सामान्य रूप से सभी को एक ही नाम 'टीका' से सम्बोधित किया जाता है, पर आन्तरिक रूप में ये सभी सूक्ष्म भेदोपभेदों से युक्त हैं ।''[60] टीका एवम् भाष्य में अन्तर बताते हुए आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी के सुपुत्र श्री चन्द्रशेखर मिश्रजी कहते हैं कि -- ''टीका में तत्त्वतः अर्थ की स्थूल रूप-रेखा मात्र आ सकती है । टीका, तिलक की भाँति बाहर से भड़कीला होता है अर्थात् टीका कृति के बहिरंग का ही अधिक स्पर्श करती है । उसके अन्तर में प्रवेश का प्रयास भाष्य के माध्यम से ही हो सकता है । दूसरा स्पष्ट भेद यह है कि टीका में विस्तार नहीं हो सकता । जहाँ किसी शब्द का कुछ अर्थ खोलना है वहीं वह सूक्ष्मता की ओर प्रवृत्त होती है । पर भाष्य में एक तो प्रत्येक शब्द का विचार किया जाता है, दूसरे उसमें विस्तार प्रर्याप्त होता है । टीका और भाष्य में पौधे और वृक्ष का सा अन्तर है । भाष्य के लिये कहा ही गया है --

सूत्रार्थो वण्येते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः ।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्याविदोविदुः ।।

मूल के प्रत्येक पद के क्रम से जहाँ वर्णन हो और साथ ही भाष्य लिखने वाला अपने शब्दों में उन सबका रहस्य खोलता चले वही भाष्य हो सकता है । माघ ने शिशुपाल

वध में लिखा --

संक्षिप्तस्याप्यतोऽस्येव वाक्यस्थार्थगरीयस ।

सुविस्तरतरा वाचो भाष्यभूता भवन्तु में ।।[61]

वैसे टीका, भाष्य, व्याख्या आदि को पाठक 'टीका' शब्द से ही सम्बोधित करते हैं, क्योंकि टीका का फलक अत्यन्त व्यापक है । यह व्यापक अर्थ को अपने अन्दर समेटे हुए हैं, हाँ यह ठीक है कि इन सबों के मध्य अन्दरूनी उपभेद हैं, पर समग्रता के आधार पर जो शब्द आम तौर पर प्रयुक्त होता है वह 'टीका' ही है । 'टीका' का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते हुए डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदीजी ने अपने ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में लिखा है कि -- "शब्दों में जब अर्थ अधिक प्रकट करने की कोशिश की जाती है तब इन छोटे-छोटे वाक्यों को सूत्र कहते हैं । जिसमें सूत्रों के सारमर्म बताए जाते हैं उसे वृत्ति कहते हैं । सूत्र-वृत्ति के परीक्षण को पद्धति कहते हैं । सूत्र और वृत्ति में बताए गये सिद्धांतों पर आक्षेप करके फिर उसका समाधान करके, इन सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण को भाष्य कहते हैं । भाष्य के बीच में जो विषय प्रकृत हो, उसे त्याग कर दूसरे उसी से सम्बद्ध किन्तु अप्रकृत विषयों का जो विचार किया जाता है, उसे समीक्षा कहते हैं । इन सब में बताए गए विषयों का टीकन या उल्लेख जिसमें हो उसे टीका कहते हैं ।"[62]

आलोचक, समीक्षक, टीकाकार, भाष्यकार अथवा टीका-भाष्यकार का स्थान साहित्य के क्षेत्र में प्रमुख माना जाता है । आचार्य मिश्रजी ने भी टीकाकारों का स्थान साहित्य-क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है । इन्होंने इस क्षेत्र में सूरति मिश्र के कार्य को शलाध्य माना है । साथ-ही सूरति मिश्रजी के परम्परा के टीकाकारों में श्री लालाभगवानदीन जी की भी ये गणना करते हैं । इस आशय का उल्लेख उन्होंने अपने 'हिन्दी साहित्य का अतीत भाग दो' में किया है । ये कहते हैं कि -- "जो ग्रंथ जिन्हें

लगते भी नहीं वे भी उन ग्रंथों के बने-ठने समीक्षक हैं । जिन प्राचीन महापुरुषों ने टीका-टिप्पणी का कार्य किया उनको अधःस्थ और अपने को उपरिस्थ मानते हैं । पर भारतीय परम्परा टीका-टिप्पणी करने वालों का भी मान साहित्य क्षेत्र में पुराकल्प से मानती आई है । रस-विमर्शक आचार्यों में जिन मनीषि अभिनवगुप्त का सर्वोपरि संधान है वे साहित्यशास्त्र के टीका-भाष्यकार मात्र हैं ।''[63] वे आगे अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि -- ''परम्परा शुद्ध साहित्य पर विशेष ध्यान देती आई है, उसका विमर्श-विवेचन सतत होता आया है । साहित्य के टीकाकारों में सूरति मिश्र का कार्य सबसे महत्वपूर्ण है ।''[64]

आचार्य मिश्रजी कहते हैं कि टीका-लेखन का कार्य गद्य एवम् पद्य दोनों विधाओं में होता रहा है । प्राचीन टीकाकार प्रत्येक दोहे में ध्वनि आदि निकालने का प्रकांड यत्न किया है, जिससे विवाद भी खड़े हुए और समाधान भी निकला । ये कहते हैं कि -- ''मल्लिनाथ की टीकाओं में कालिदास तथा अन्य संस्कृत कवियों की बहुत सी समीक्षा सम्बन्धी सामग्री है ।''[65] इनके अनुसार बिहारी की सतसैया पर बहुत सी टीकाएँ लिखी गयीं जिनमें ब्रजभाषा, आधुनिक खड़ी बोली आदि में रचनाएँ मिलती हैं । जिसमें कृष्णलाल, राजस्थान के मान कवि, शुभकरण और कमलनयन आदि विद्वानों ने 'सतसैया' पर अपनी टीकाएँ शुरुआती दौर में लिखीं हैं ऐसा मिश्रजी का मानना है । ये आगे कहते हैं कि इसके पश्चात् कई और भी विद्वानों ने सतसैया पर टीकाएँ लिखीं जिनमें सूरति मिश्रजी ने अमरचन्द्रिका नाम से टीका लिखीं, संवत् 1861 में ठाकुर कवि ने बाबू देवकीनन्दन सिंह के प्रीत्यर्थ सतसैया-वर्णाथ टीका लिखी, जिसका नाम 'देवकीनन्दन टीका' भी है, गुजरात के श्री रणछोड़ दीवान ने सं. 1860-70 के लगभग इसकी टीका लिखी, लल्लू लाल की टीका 'लालचन्द्रिका',

प्रभुदयाल पाण्डे की टीका आधुनिक खड़ी बोली में लिखी गयी, आदि विद्वानों एवम् उनके द्वारा लिखित टीकाओं की सुदीर्घ परम्परा की चर्चा श्री मिश्रजी अपने ग्रंथ 'बिहारी' में किया है । इसी प्रकार केशवदास, तुलसीदास आदि रचनाकारों की रचनाओं पर कई विद्वानों द्वारा टीकाएँ लिखी गयीं । इस प्रकार हम देखते हैं कि *टीका-लेखन के क्षेत्र में कई महान हस्तियों ने अपना श्लाध्य योगदान दिया है जिससे* टीका-लेखन विधा भी अन्य गद्य-पद्य विद्याओं की भाँति सम्पन्न एवम् समृद्ध हुई ।

गद्य-विधा की इस विधा से मिश्रजी भी अछूते नहीं रहे उन्होंने भी टीका-लेखन की शुरुआत अपने गुरुदेव श्री लालाभगवानदीन के सानिध्य में रहकर ही की जहाँ इन्होंने 'रामचरितमानस' के कुछ काण्डों की टीकाएँ लिखीं । अगर हम मिश्रजी की इस टीका लेखन विद्यापर प्रकाश डालें तो हम पाते हैं कि इनके द्वारा सम्पादित पुस्तकों में भी पाठ-संग्रह की समस्याओं का उल्लेख, पाठान्तर के हेतुओं का उल्लेख, टिप्पणी आदि का उपयोग एवम् उल्लेख आवश्यक किया गया है ताकि अपनी सम्पादित पुस्तकों को सरल एवम् सुस्पष्ट बनाया जा सके । 'रामचरितमानस' काशीराज संस्करण के भाषान्तर का उल्लेख इन्होंने परिशिष्ट में किया है साथ-ही परिशिष्ट में आधारभूत प्रतियों का नाम संकेत ; संकेत चिह्न, उच्चारण-संकेत, पाठ-भेद प्रणाली, संक्षिप्त पाठभेद (प्रत्येक सोपान के) ; बढ़ोतरी (प्रथम सोपान से लेकर सप्तम सोपान तक) ; अभाव-सूचक सारणी (प्रथम सोपान से लेकर सप्तम सोपान तक); प्रक्षेप, भाषान्तर आदि का विस्तृत उल्लेख किया है । उदाहरण के तौर पर हम 'रामचरितमानस' काशिराज संस्करण के परिशिष्ट को देख सकते हैं यथा --

''बड़-बड़इया (पटना) की संवत १६४१ की परम्परा प्रति ।

प्राप्ति स्थान - श्रीरामजानकी मन्दिर, गंगा किनार, बड़इया ।

लिपिकाल - सं १८७१, सातो काण्ड । हस्तलिखित ।

दुलही - दुलही ग्राम (लखीमपुर खीरी) निवासी पं. गंगाधर शर्मा की प्रति ।

लिपि. - १६७२ सुन्दरकाण्ड ।''[66]

इसके अतिरिक्त इसी पुस्तक के अन्य उदाहरण भी लिये जा सकते हैं यथा -

''मं सो १ जो ; जा (नर) ; जेही (पट, नाथ) । करौ ; करो

(कुंज -, नाग, उद) ; करहु (नर) । ४ कुंद ; कंबु (बाल, उद) ।

इंदु ; कुं x (बाल) ; कुद उद ।

दो २/५ सरिस ; चरित (कुंज -, राम, जवा ÷ , नाग, मन, पट) ।

कृपासू (नाग), प्रकाशु (पट), सुपासु (नाथ) ।''[67]

अन्य सम्पादित पुस्तकों में भी मिश्रजी ने इस प्रकार के प्रयोग किए हैं ताकि पाठ-समस्या का विमर्श और रहस्य का उद्घाटन सरलता से किया जा सके । उदाहरण के तौर पर हम आचार्य मिश्र द्वारा सम्पादित पुस्तक 'गंगालहरी' में संग्रहित परिशिष्ट के कुछ अंश को देख सकते हैं यथा --

''श्री दुर्गादत्त संपादित और लाइट प्रेस से मुद्रित प्रति में शिव की प्रशस्ति के दो छंद (१ कबित्त और १ दोहा) कबित्त संख्या ५२ के अनन्तर मिलते हैं --

सीस धरैं गंगा करैं दुख्खन को भंगा
अंग अंगनि भुजंगा जाहि बरनत बानी है ।
कहै पदमाकर षड़ानन सो सेनापति
नंदन गजानन अनंद को निधानी है ।
ईस अबिनासी गिरिबर को निवासी भूमि
कासी सुखरासी जासु खासी राजधानी है ।

ब्रह्म बरदानी पर पूरन प्रमानी कौन

ताके सम जानी जाके भौन में भवानी है ।।

शब्दार्थ - बानी = वाणी, सरस्वती । षड़ानन = छहमुखवाले स्वामिकार्तिकेय । नंदन = पुत्र । गजानन = हाथी के मुख सदृश मुखवाले गणेश । निधानी = खजाना । गिरिबर= कैलास । खासी = बढ़िया । ब्रह्म = परब्रह्म । पर = सबसे परे । पूरण = पूर्ण । प्रमाणी = प्रमाणवाला । भवानी = पार्वती ।''[68]

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी के टीका-लेखन अथवा भाष्य-लेखन की पद्धति पर अगर हम सूक्ष्मता से दृष्टिपात करते हैं तो हम पाते हैं कि इन्होंने टीका-लेखन के क्षेत्र में कुछ नवीन उद्‌भावानाएँ की हैं । इनकी पद्धति में हम पाते हैं कि जब ये किसी मूल-ग्रंथ की टीका अथवा भाष्य लिखते हैं तो सबसे पहले उसका प्रकरण देते हैं, फिर चूर्णिका का स्थान होता है, पुनः तिलक, व्याख्या, विशेष एवम् अन्त में छन्द को स्थान देते हैं । जरूरत के अनुसार अलंकार का भी उल्लेख करना वे नहीं भूलते । घनआनंद कवित्त के कुछ अंश हम उदाहरण के रूप में देख सकते हैं -

''सवैया

झलकै अति सुन्द आनन गौर, छके दृग राजत कान ह्वै ।

हँसि बोलन मैं छबि फूलन की बरषा, उर ऊपरि जाति है ह्वै ।

लट लोल कपोल कलोल करै कल कंठ बनी जलजावलि द्वै ।

अंग अंग तरंग उठै दुति की, परिहे मनौ रूप अवै धर च्वै ।।२।।

प्रकरण - यह रूप छटा का वर्णन अंग दीप्ति का वर्णन है । इसमें मुख, नेत्र, वाणी के साथ की लट, मुक्तामाला का वर्णन है । रूप वर्णन में भी कवि आन्तर-पक्ष-प्रधान हैं ।

रूप का हृदय पर पड़ने वाला प्रभाव ध्यान में रखकर वह अभिव्यक्ति करता है । इसमें विषय-पक्ष-प्रमुख न होकर विषयी-पक्ष प्रमुख है ।

चूर्णिका - छके = (यौवन के मद से) मस्त । काननि = कानों को छूकर, कानों तक फैलकर । नेत्रों की विशालता के लिए उनका कर्णालंबित कहना कवि सम्प्रदाय की रूढ़ि है । यह रूढ़ि वास्तविक है, आरोपित या कल्पित नहीं । कपोल = कपोलों पर । कलोल. = हिलती है । कल. = सुन्दर ग्रीवा पर । जलजावलि. = (जलज = जल से उत्पन्न मोती + अवलि = समूह, लर) । दो-दो लड़ की मोतियों की माला । रूप = सौन्दर्य, रूपा, चाँदी भी संकेतिता । धर = धरा पर, पृथ्वी पर ।

तिलक - प्रेमिका का अति सुन्दर गौर मुख दीप्ति के प्रकाश से झलक रहा है । उस मुख में यौवन के मद से छके हुए मस्त नेत्र कानों को छूते हुए शोभित हैं । जिस समय उस मुख से वह हँसते हुए बोलती है उस समय बोलने में ऐसा जान पड़ता है कि मानों सौन्दर्य के (उज्ज्वल वर्ण) पुष्पों की वक्ष पर वृष्टि हो रही है । बोलने में उसका शरीर हिलता है इसलिए कपोलों पर चंचल लटें हिलने लगते हैं और सुन्दर ग्रीवा में शोभित दो लड़ की मोतियों की माला भी हिलने लगती है । प्रत्येक अंग इस प्रकार हिलने से दीप्ति की लहरें उठने लगती हैं । दीप्ति के इस प्रकार हिलने से ऐसा जान पड़ता है मानो शरीर में लबालब भरा हुआ सौन्दर्य अब पृथ्वी पर चू ही पड़ेगा । तरंग उठती है मुख की ओर से और दीप्ति की लहर सब अंगों में लहराती जाती है । दीप्ति की लहरें ऐसी स्थिति का आभास देती हैं मानों उसका शरीर रूपी घट, जो सौंदर्य से भरा है, सौन्दर्य का कुछ अंश पृथ्वी पर भी गिरा देगा ।

व्याख्या - अति सुन्दर = आनन सुन्दर ही नहीं अति सुन्दर है । अति का तत्पार्य यह है कि सौन्दर्य से लबालब भरा है । उबर कर सौन्दर्य के बहने की स्थिति व्यक्त करने

के लिए अति शब्द विशेषण बनाकर रखा गया है । छकै = छकना भी तभी होता है जब कोई इतने परिमाण में खा-पी ले कि फिर तिल रखने की जगह न रह जाये । भराव या कसाव से विस्तार होता ही है । इसलिए नेत्रों का कानों की ओर फैलना स्वभाविक है । बरषा-सौंदर्य के पुष्पों की वृष्टि होती है । पानी का भराव या लदाव जब बादलों में होता है तो साधारण धक्के से उससे जल का गिरना सहज हो जाता है। हँसकर बोलने में जो साधारण आघात होता है उससे छवि के पुष्प अंगलता से उसी प्रकार गिरने लगती है जिस प्रकार प्रफुल्ल पुष्प किसी लता से मंद पवन के सामान्य आघात से गिरने लगते हैं । कलोल करै = इसका अन्वय लट से भी है और जलजावलि से भी । लट तो स्वभाव से ही चंचल है । कोई आघात हो या न हो, उसका हिलना स्वभाव है । फिर कपोल भी तो संचिक्कण है उस पर फिसलन होने से कोई वस्तु चाहे सहज ही हिलनेवाली, न भी हो तो भी फिसलकर हिलेगा । जलजावलि में जलज का अर्थ मोती है, जल शब्द उसकी आब को व्यक्त कर रहा है। जलवाला, आबवाला आघात से हिलेगा । फिर गले में माला लटकी है । लटकी वस्तु का हिलना और भी सहज है । दो लड़ की माला होने से यदि एक लड़ भी हिली तो दूसरी लड़ को हिलना पड़ेगा । हिलने की तरंग उठने की अनेक स्थितियाँ एक साथ आ जुटी है । अंग-अंग तरंग = पदावली के उच्चारण से भी लहर की-सी स्थिति उत्पन्न होती है ।

अलंकार - प्रमुख अलंकार उत्प्रेक्षा है । उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा है ।

छंद - सुमुखी सवैया, प्रत्येक चरण में आठ सगणे (11ऽ) चौबीस वर्ण होते हैं ।''[69]

ध्यातव्य है कि मिश्रजी की टीका-भाष्य-लेखन पद्धति अन्य विद्वानों की पद्धति से थोड़ी भिन्न है । अपनी पद्धति में मिश्रजी विशेष रूप से चूर्णिका को स्थान

देते हैं जो अन्य विद्वानों की लेखन-परम्परा से कुछ हटकर विशेष बनाती है । 'प्रकरण' में ये विषय-पक्ष की पड़ताल करते हैं । 'चूर्णिका' में क्लिष्ट शब्दों को चूर कर अर्थात् सारगर्भित-अर्थ-सन्दर्भोनुकूल रखते हैं ताकि शब्द की व्यंजना ठीक-ठीक हो सके । तत्पश्चात 'तिलक' का स्थान आता है, जिसमें उद्धरण में निहित विषय-वस्तु का प्रसंगानुकूल मूल्यपरक विवेचन होता है । वहीं व्याख्या के अन्तर्गत उद्धरण में आये महत्वपूर्ण अंश के प्रसंगानुकूल सारगर्भित अर्थ का विषय-परक विवेचन मूल संवेदना को उजागर करने के लिए होता है, जिसमें उस अंश की सिद्धि निहित होती है। अंत में अलंकार एवम् छंद का स्थान होता है । जिसके तहत उद्धरण में आये मुख्य अलंकार का उद्‌भेदन किया जाता है, तथा छंद में वर्ण, सगण आदि की चर्चा रहती है। मिश्रजी के प्रमुख टीका-ग्रन्थों में छत्रसाल-दशक, शिवा-बावनी, गीतावली-गुंजन, भाषा-भूषण (टीका), भाषा-भूषण (भाष्य), रसिकप्रिया, गीतावली आदि हैं । 'मानस लहरी' एवम् 'सूरसागर' क्रमशः 'रामचरितमानस' एवम् सूरदास के पदों पर लिखी साहित्यिक टीकाएँ हैं, जिसका उल्लेख शंभुनाथ रायजी ने अपने आलेख 'आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र' रचना यात्रा' में किया है जो फिलहाल प्रकाश में नहीं आया है । शंभुनाथ राय जी अपने उक्त आलेख में लिखते हैं कि -- ''टीकाकार के रूप में पंडितजी की बहुत ख्याति है । अत्यन्त कठिन काव्यों का उतना सुस्पष्ट एवम् ललित अर्थ पंडितजी करते हैं कि श्रोता या पाठक के मुख से प्रशंसा के शब्द निकल ही पड़ते हैं । यों तो पंडितजी ने सभी संपादित काव्यों में कठिन पदों या वाक्यों का अर्थ स्पष्ट करने के लिए संक्षिप्त टिप्पणियाँ दे दी हैं, जो कि पाठक का मार्ग प्रशस्त करती रहती हैं, किन्तु कतिपय ग्रन्थों की समूची टीका भी लिखी है । इस सन्दर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि घनआनंद के छंदों का ठीक-ठीक अर्थ करने में सर्वप्रथम पंडितजी ही समर्थ हो सके

थे । सुना है कि लालाजी और शुक्लजी जैसे विद्वान भी घनआनंद की कविताओं का अर्थ करने में चकरा जाते थे । वास्तव में यदि पंडितजी को घनआनंद की कविताओं का उद्धारक कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी ।''[70] ठीक इसी प्रकार आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी जी ने मिश्रजी के इन विशेषताओं को इंगित करते हुए जो वक्तव्य दिए उसका उल्लेख डॉ. रामचन्द्र तिवारी जी ने अपने ग्रंथ 'हिन्दी का गद्य साहित्य' में मिश्रजी के मूल्यांकन के तहत इस प्रकार किया -- ''आप एक शब्द-ब्रह्म साधक, परान्तः प्रवेशी योगी भाष्यकार हैं ।''[71]

इस प्रकार हम देखते हैं कि टीका लेखन की सुदीर्घ परम्परा मध्यकाल में ही दिखाई देती है । मिश्रजी ने बिहारी, घनानंद, मानस आदि पर टीकाएँ लिखी हैं। इन्होंने टीका-लेखन के क्षेत्र में नवीन उद्‌भावनाएँ प्रस्तुत की हैं, जो लिए गये उदाहरणों से स्पष्ट होता है ।

5. **च - काव्यशास्त्रीय चिंतक के रूप में :**

''काव्य या साहित्य के स्वरूप और नियंत्रण का जिसमें विचार हो उसे 'शास्त्र', काव्यशास्त्र या साहित्य शास्त्र कहते हैं ।''[72] आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी की लेखनी काव्य शास्त्र के विभिन्न सोपानों पर भी चली । इन्होंने अपने महत्वपूर्ण ग्रंथ 'वाङ्मय विमर्श' के 'काव्य' एवम् 'शास्त्र' पाठ के अन्तर्गत काव्यशास्त्र के विभिन्न उपादानों पर गम्भीरता से विचार किया है । उदाहरणतः काव्य का स्वरूप, काव्य का प्रयोजन, काव्य के भेद, काव्य के हेतु, रस, अलंकार, रस के अवयव, साधारण और गौण रस आदि तथ्यों के विवेचन में एक तरह से इन्होंने स्वतंत्र लेखक की भूमिका निभाई है । ये कहते हैं कि -- ''जिस साहित्य रचना का हमारे जीवन के कार्य-कलापों

से सीधा और प्रत्यक्ष संबंध न हो वह किसी काम की नहीं । प्रत्येक श्रमिक के जीवन के विविध क्षेत्रों के अनुरूप उमंग-वर्द्धिनी-वृति ही वस्तुतः साहित्य है । वही काव्य काव्य है जो किसी की श्रम साधना में उत्तेजक हो ।''[73] वैसे यहाँ हम अन्य विद्वानों के द्वारा दिए गए काव्य की परिभाषा का भी उल्लेख करना चाहेंगे, जिसका एक तरह से संकलन डॉ. प्रमोद कुमार सिंह एवम् सुधीर प्रताप सिंह ने 'यू. जी. सी. NET/SLET हिन्दी' पेपर II तथा III में किया है । पाश्चात्य विद्वान मैथ्यू ऑर्नल्ड ने काव्य के सम्बन्ध में कहा कि -- ''काव्य अपने मूलरूप में जीवन की आलोचना है ।''[74] वहीं एडगर एलन पों के अनुसार ''काव्य सौन्दर्य की लयपूर्ण सृष्टि है ।''[75] एक अन्य पाश्चात्य विद्वान कारलॉयन के अनुसार -- ''काव्य संगीतमय विचार (Musical thought) है ।''[76] अगर हम सभी विद्वानों द्वारा दिए गये काव्य-संबन्धी परिभाषा पर ध्यान दें तो स्पष्ट होता है कि काव्य का सम्बन्ध हमारे जीवन से है । जीवन की आलोचना एवम् श्रम-साधना से है । एक तरह से वह हमारे जीवन को ही व्याख्यायित करता है ।

मिश्रजी ने काव्य के स्वरूप को निर्धारित करते हुए कहा कि -- ''काव्य का चरम लक्ष्य मनोवृत्तियों का परिशोधन है । पर काव्य एक हृदय (कर्त्ता) से निकलकर दूसरे हृदय (ग्रहीता-पाठक श्रोता या दर्शक) तक पहुँचता है । इसलिए इन हृदयों का एकीकरण आवश्यक है । इसके लिए एक तो यह माना जाता है कि काव्य की प्रक्रिया में स्वयम् ऐसी विशेषता होती है और दूसरे इसके कर्त्ता और ग्रहीता में भी कुछ विशेषता रहती है । यह विशेषता है 'सहृदय' होना ।''[77] ठीक वैसा ही जैसे ''रसानंद का अधिकारी सहृदय होता है।''[78] वहीं आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी के ग्रंथ

'रस-मीमांसा' में यह वर्णन आया है कि -- ''कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भावभूमि पर ले जाती है जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है । इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता । वह अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में लीन किए रहता है । उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है । इस अनुभूतियोग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है ।''[79]

काव्य के प्रयोजन पर विचार करते हुए मिश्रजी कहते हैं कि चूँकि काव्य के प्रसार-सीमा के एक छोर पर कर्त्ता तथा दूसरे छोर पर ग्रहीता रहता है, अतः इन्हीं दोनों की दृष्टि से विचार किया जाना चाहिये । कर्त्ता की दृष्टि से विचार करते हुए ये कहते हैं कि -- ''काव्य का मुख्य प्रयोजन है यश या तृप्ति का लाभ और गौण है अर्थ या कार्य का लाभ । कर्त्ता को जो यश का लाभ होता है वह उसके जीवन तक ही नहीं रहता, युग-युगान्तर तक चला करता है । कवि का स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है पर उसका जरामरण से रहित यशः शरीर अमर रहता है, कम से कम जब तक उस साहित्य का, उस भाषा का, उस जाति का लोप नहीं होता तब तक अवश्य जीता है ।''[80] वहीं इन्होंने ग्रहीता अर्थात पाठक, श्रोता या दर्शक की दृष्टि से भी विचार करते हुए कहा कि -- ''काव्य का प्रधान प्रयोजन है आनंदानुभूति या रसमग्नता तथा गौण है संकेत-प्राप्त व्यावहारिक ज्ञान जिसे शास्त्रकार कांतासंमित उपदेश कहते हैं।''[81] काव्य प्रयोजन के सम्बन्ध में आचार्य मम्मट के विचारों का उल्लेख 'भारतीय काव्य मीमांसा' में अनुवादक भाल चन्द्र जयशेट्टी लिखते हैं --

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षयते ।

सद्यः परनिवृतये कांतासंमिततयोपदेश युजे ।।

(काव्य प्रकाश ।.2)

अर्थात, यश के लिए, धनार्जन के लिए, व्यवहार ज्ञान के लिए, अमंगल के परिहार के लिए, तत्काल परमानन्द को प्राप्त कराने के लिए, कान्ता के समान उपदेश पाने के लिए काव्य होता है ।"[82] यहाँ दोनों आचार्यों के विचारों में जो प्रधानता देखी जा रही है वह है यश एवम् आनन्द की प्राप्ति ।

काव्य के भेद पर विचार करते हुए मिश्रजी ने काव्य के भेद तीन प्रकार से किए - शैली की दृष्टि से, अर्थ की दृष्टि से तथा बंध की दृष्टि से । शैली के विचार से काव्य के तीन भेद इन्होंने बताये । ये हैं क्रमशः "पद्य गद्य और मिश्र ।"[83] पद्य के सम्बन्ध में ये कहते हैं कि "पद्य रचना की वह शैली है जिसमें छंदों का विधान किया जाता है ।"[84] ध्यातव्य हो कि इस शैली में इन्होंने व्याकरणिक नियमों के छूट की भी बात कही, वहीं गद्य में व्याकरणिक नियमों के अनुसार वाक्य के विन्यास की बात कही गयी । 'मिश्र' के सम्बन्ध में ये कहते हैं कि यह गद्य और पद्य दोनों शैलियों का मिला रूप है । उदाहरण के तौर पर इन्होंने नाटक का उदाहरण दिया जिसमें गद्य एवम् पद्य दोनों का प्रयोग होता है । अर्थ की दृष्टि से भी इन्होंने काव्य के तीन भेद बताये । ये हैं क्रमशः - "उत्तम, मध्यम और अधम या सामान्य ।"[85] उत्तम, मध्यम और अधम के बारे में ये कहते हैं कि - "जहाँ व्यंग्यार्थ मुख्यार्थ की अपेक्षा विशेष चमत्कारी होता है उस रचना को उत्तम या ध्वनि-काव्य कहते हैं । जहाँ व्यंग्यार्थ मुख्यार्थ के तथ्य या उससे दबता हुआ होता है उसे मध्यम या गुणीभूत व्यंग्य-काव्य कहते है । जहाँ केवल मुख्यार्थ में ही विशेषता होती है उसे अधम अवर सामान्य या अलंकार काव्य कहते

हैं।''[86] वहीं इन्होंने बंध के विचार से भी दो प्रकार की रचनाओं का जिक्र किया है-- ''एक प्रबंध और दूसरा निर्बंध ।''[87] प्रबंध एवम् निर्बंध के सम्बन्ध में ये कहते हैं कि -- ''जिस रचना में कोई कथा क्रमबद्ध कही जाती है वह 'प्रबंध काव्य' कहलाती है । जिसमें कोई विशेष कथा नहीं होती और जो स्वचछंद रूप से किसी पद्य या गद्य-खण्ड के द्वारा कोई रस, भाव या तथ्य व्यक्त करती है उस बंधहीन रचना को 'निर्बंध या मुक्तक' कहते हैं ।''[88] वहीं सेठ कन्हैयालाल पोद्दारजी ने भी अपनी पुस्तक 'काव्य कल्पद्रुम प्रथम भाग' में काव्य के तीन ही भेद गिनाए हैं जो मिश्रजी के अर्थ की दृष्टि से मिलता-जुलता है । श्री पोद्दारजी ने भी उत्तम, मध्यम और अधम तीन काव्य के भेद गिनाये हैं । श्री पोद्दार के अनुसार - ''जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता हो उसे उत्तम, जहाँ व्यङ्ग्यार्थ गौण हो, उसे मध्यम और जहाँ व्यङ्ग्यार्थ न हो, वह अधम काव्य माना गया है ।''[89] मिश्रजी द्वारा किए गये काव्य के तीनों प्रकारों के भेद को सारणी में इस प्रकार दिखलाया जा सकता है --

''काव्य
- शैली
  - गद्य
  - पद्य
  - मिश्र
- अर्थ
  - उत्तम
  - मध्यम
  - अधम
- बंध
  - प्रबंध
    - महाकाव्य
    - एकार्थकाव्य
    - खंडकाव्य''[90]
  - मुक्तक

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने काव्य के हेतु अर्थात् काव्य-निर्माण के कारणों पर भी विचार किया । एक सच्चे काव्य शास्त्रीय चिन्तक कि भाँति उन्होंने यह विवेचित किया कि "काव्य-निर्माण के तीन हेतु प्रतीत होते हैं । एक है कवि की शक्ति, दूसरा उसका लोक-निरीक्षण और तीसरा अभ्यास ।"[91] मिश्रजी ने काव्य की शक्ति को इन सबसे सर्वोत्कृष्ट माना । उन्होंने एक स्थान पर कहा कि -- "संसार में मनुष्यत्व दुर्लभ है, मनुष्य होने पर विद्या की प्राप्ति दुर्लभ है, विद्या की प्राप्ति होने पर भी कवित्व दुर्लभ है और कवित्व प्राप्त होने पर भी शक्ति दुर्लभ है ।"[92] शक्ति के संबंध में ये कहते हैं कि एक सहजा शक्ति होती है, जो जन्मजात कवि में होती है, दूसरी शक्ति है - उत्पाद्य, जिसका उपार्जन किया जाता है । ये कहते हैं कि इसी उत्पाद्य शक्ति के अंतर्गत निपुणता और अभ्यास दोनों का समावेश है । ती. नं. श्रीकण्ठय्या द्वारा लिखे गये ग्रंथ 'भारतीय काव्य मीमांसा' के अनुवादक भाल चन्द्र जयशेट्टी एक स्थान पर लिखते हैं कि --

"शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यासः इति हेतु स्तदुद्भवे ।।

(काव्यप्रकाश 1.3)

अर्थात्, 'शक्ति (=प्रतिभा) लोक-व्यवहार, शास्त्र, काव्य आदि के परिशीलन से प्राप्त होने वाली निपुणता (=व्युत्पत्ति), काव्यवेत्ताओं का उपदेश पाकर बार-बार किया जाने वाला अभ्यास (=अभ्यास), ये तीनों एकत्र मिलकर काव्य निर्माण के हेतु बनते हैं ।"[93] यहाँ हम देख सकते हैं कि दोनों विद्वानों के विचारों में बहुत कुछ समानता है जिसमें शक्ति अर्थात् प्रतिभा को काव्य निर्माण हेतु आवश्यक माना गया है । इसी शक्ति के अन्दर

अर्थात् उत्पाद्या शक्ति के अन्तर्गत निपुणता और अभ्यास का भी समावेश इन्होंने माना है। ये कहते हैं कि -- "निपुणता तीन प्रकार से आती है -- लोक का निरीक्षण, शास्त्रों का अनुशीलन और काव्य-परम्परा का अध्ययन करने से ।"[94] मिश्रजी ने काव्य के निर्माण के पीछे तीनों गुणों का होना आवश्यक बताया है । इन्होंने अभ्यास को भी उतना ही आवश्यक माना है और कहा कि -- "यही कारण है कि संस्कृत और हिन्दी के पुराने कवि गुरुओं के यहाँ अभ्यास किया करते थे ।"[95] मिश्रजी के काव्य के हेतु अर्थात् कारणों का अगर सरणिबद्ध वर्गीकरण करें तो इस प्रकार की सारिणी तैयार हो सकती है --

काव्य हेतु
↓
कवि की शाक्ति | कवि का लोक निरीक्षण | अभ्यास

कवि की शाक्ति
↓
सहजा | उत्पाद्या

उत्पाद्या
↓
निपुणता
↓
लोक का निरीक्षण | शास्त्रों का अनुशीलन | काव्य-परंपरा का अध्ययन

यहाँ हम देख सकते हैं कि मिश्रजी ने काव्य के निर्माण के कारणों पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया है साथ-ही एक दूसरे की अनिवार्यता को भी आवश्यक बताया है ।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने काव्य में अर्थात् किसी भी रचना में

निहित शब्द एवम् अर्थ पर भी विचार किया है । जैसा कि हमें मालूम है कि ज्योंही हमारे मुँख से वाणी प्रस्फुटित होती है त्योंही श्रोता के मन-मस्तिक में अर्थ स्फुटित हो जाता है । इस प्रकार शब्द एवम् अर्थ एक दूसरे में परस्पर सन्निहित होते हैं । ''इसी तरह वाक् और अर्थ भी चकवा-चकवी की भाँति एक-दूसरे से अलग नहीं रहते । इसलिए, अगर इनका सम्बन्ध आन्तरिक और स्थिर लगता हो तो कोई आश्चर्य नहीं।''[96] मिश्रजी कहते हैं कि रचना में शब्द और उसके अर्थ ही मुख्य होते हैं । इनके अनुसार - ''जिन शब्दों का व्यवहार किया जाता है उनके अर्थ का निश्चय कोश,व्याकरण या प्रत्यक्ष संकेत से होता है । शब्दों का जो सीधा संकेत होता है उसे 'साक्षात् संकेत कहते हैं ।''[97] आशय यह कि प्रत्यक्ष को दिखाकर कही जाने वाली बात साक्षात संकेत मानी जाएगी । 'रस सिद्धान्त और सौन्दर्य शास्त्र' में भी लेखक ने इस बात का उल्लेख किया है कि ''भामह प्रथम आलंकारिक हैं जिन्होंने काव्य का शब्दार्थौ सहितौ कहकर परिभाषित किया । उन्होंने शब्दार्थों के सहित भाव के रूप में काव्य को परिभाषित करके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया, क्योंकि यह सर्वविदित है कि काव्य शब्दों से रचा जाता है और काव्यगत शब्द अर्थपूर्ण होते हैं ।''[98] इन्होंने शब्द के अर्थ को भी विवेचित करते हुए इसकी तीन कोटियाँ बतायी । ये हैं क्रमशः मुख्यार्थ या वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ एवम् व्यंग्यार्थ । सेठ कन्हैयालाल पोद्दारजी का भी मानना है कि-- ''काव्य में शब्द तीन प्रकार के होते हैं । -- 1. वाचक, 2. लक्षक या लाक्षणिक और 3. व्यंजक । इन तीन प्रकार के शब्दों के अर्थ भी क्रमशः वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और वाङ्ग्यार्थ होते हैं ।''[99] अभिधा को इन्होंने इस प्रकार परिभाषित किया ''साक्षात् संकेत से शब्द का जो अर्थ ज्ञात होता है उसे उसका 'मुख्यार्थ' या 'वाच्यार्थ' कहते हैं । जिस प्रक्रिया या शब्द की शक्ति से ऐसा अर्थ प्रतीत होता है उसे 'अभिधा' कहते हैं ।''[100]

अगर हम अन्य विद्वानों के विचार इस सम्बन्ध में देखें तो हमें पता चलता है कि प्रायः विद्वानों के विचारों में समानता ही दिखलाई पड़ती है, कहीं भी मतैक्य नजर नहीं आता। उदाहरण स्वरूप हम 'भारतीय काव्य मीमांसा' में श्री ती. न. श्रीकण्ठय्या जी के विचारों के अनुवाद को देख सकते हैं, जो इस प्रकार है -- "सांकेतिक अर्थ का प्रत्यक्ष बोध कराने वाली शब्द-शक्ति को अभिधावृति कहा जाता है । इससे जिस अर्थ का बोध होता है उसे अभिधेयार्थ, वाच्यार्थ या मुख्यार्थ भी कहा जाता है । शब्द के सुनते ही झट जो बोध होता हो वह शब्द का वाच्यार्थ है । किसी एक भाषा का प्रयोग करने वाले हर व्यक्ति के लिए वह एक ही होता है । उस भाषा के कोश, निघंटु आदि में वही अर्थ मिलता है । अतः इसके बारे में सामान्यतया मतभेद की गुंजाइश नहीं रहती ।"[101]

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि शब्दों के मुख्यार्थ अथवा वाच्यार्थ ग्रहण करने में निहित अर्थ का पता नहीं चल पाता है, ऐसी स्थिति में उन शब्दों के दूसरे संभावित अर्थ को स्वीकारना पड़ता है । इन्होंने एक उदाहरण के माध्यम से अपनी बात को पुष्ट करने का प्रयास किया है । इनके अनुसार - "यदि कहा जाय कि 'उन दोनों घरों में झगड़ा चल रहा है' तो यहाँ पर पत्थर, ईंट, मिट्टी, लकड़ी आदि से बने निर्जीव घर लड़ने में असमर्थ दिखाई देते हैं । इसलिए वाच्यार्थ के ग्रहण करने से काम नहीं चलता । ऐसी स्थिति में 'घर' शब्द का अर्थ 'घर' में रहने वाले जन' लेना होगा । प्रश्न हो सकता है कि घर में रहनेवाले जनों के स्थान पर केवल 'घर' शब्द का प्रयोग क्यों किया गया । उत्तर होगा कि एक घर के रहने वाले सभी जनों से दूसरे घर के रहने वाले सभी जनों से झगड़ा होने के प्रयोजन से घर के निवासियों के स्थान पर केवल 'घर' शब्द का व्यवहार किया गया । ऐसी स्थिति में वाच्यार्थ के अतिरिक्त दो प्रकार के अर्थ दिखाई दे रहे हैं । एक तो 'घर' के स्थान पर घर के निवासियों का

संभाव्य या आरोपित अर्थ और दूसरे घर के सभी निवासियों का प्रयोजनीय अर्थ । पहले अर्थ को 'लक्ष्यार्थ' कहते हैं, क्योंकि शब्द के द्वारा वह अर्थ लक्षित कराया जाता है और दूसरे अर्थ को व्यंग्यार्थ कहते हैं क्योंकि यह अर्थ उससे व्यक्त या प्रकट होता है।''[102] कारण स्पष्ट हे कि जब वाच्यार्थ या मुख्यार्थ अर्थात् मुख्य अर्थ में बाधा उत्पन्न होती है तो संभावित अन्य अर्थ को स्वीकारना पड़ता है । ध्यातव्य हो कि यह नया अर्थ भी वाच्यार्थ में संलिप्त या निहित रहता है । अर्थात् ''जहाँ वाच्यार्थ में बाधा उत्पन्न हो और उससे सम्बन्धित कोई और अर्थ दिखाई पड़ता हो तथा यह नया अर्थ ठीक बैठता हो तो ऐसे अर्थ को लक्ष्यार्थ कहा जाता है और इसे बोध कराने वाले शब्द-व्यापार को लक्षणावृत्ति कहा जाता है ।''[103] मिश्रजी ने अपने उदाहरण में 'घर' के स्थान पर घर के निवासियों अर्थात् घर में रहने वाले लोगों के संभाव्य अथवा आरोपित अर्थ को व्यक्त करने वाली शक्ति को लक्ष्यार्थ कहा जबकि घर के निवासियों के प्रयोजनीय अर्थ को व्यंग्यार्थ से अभिहित किया । इस प्रकार इन्होंने काव्य के तीन भेद बताये । ''पहला वह जिसमें वाच्यार्थ ही हो, दूसरा वह जिसमें वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ तुल्यकोटिक हो या व्यंग्यार्थ गौण हों और तीसरा वह जिसमें व्यंग्यार्थ प्रधान हो ।''[104] इनके विचारों से मिलते-जुलते विचार हम अन्य ग्रंथों में भी देख सकते हैं । उदाहरण के तौर पर 'भारतीय काव्य मीमांसा' में भी वर्णन आया है कि -- ''जहाँ कहीं प्रयोजन सहित लक्षणा होती है वहाँ व्यंग्यार्थ अवश्य रहता है ; किन्तु जहाँ कहीं व्यंग्यार्थ हो वहाँ लक्षणा की अनिवार्यता नहीं है ।''[105]

मिश्रजी ने 'शब्द-अर्थ' पर विचार करने के क्रम में ही 'अलंकार'पर भी विचार किया है जिसमें इन्होंने काव्य के तीन भेदों में किए गए विवेचन के आधार पर ''पहले को अव्यंग्य या अलंकार''[106] कहा है । आशय यह कि जिस अर्थ का सम्बन्ध

वाच्यार्थ से जुड़ा रहता है अलंकार कहा जा सकता है । "जहाँ व्यङ्यार्थ के बिना शब्द रचना या वाच्यार्थ ही में चमत्कार हो, उसे अलंकार कहते हैं ।"[107] भारतीय काव्य मीमांसा में यह उल्लेख आया है कि - "काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्मों को अलंकार कहते हैं ।"[108] सेठ कन्हैयालाल पोद्दार अपने 'काव्य कल्पद्रुम भाग-1 रस मञ्जरी में लिखते हैं कि - "जिस प्रकार सौन्दर्यादि गुण युक्त रमणी सुवर्ण और रत्नों के आभूषणों से और भी अधिक रमणीकता को प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार अनुप्रास और उपमा आदि अलङ्कारों से युक्त काव्य सहृदयों के लिए अधिक आह्लादक हो जाता है।"[109] यहाँ मिश्रजी ने शब्दार्थ के विचार से अलंकारों के दो भेद किए हैं- "शब्दालंकार और अर्थालंकार । शब्दालंकार वे हैं जिनका चमत्कार शब्दों पर आश्रित रहता है अर्थात् प्रयुक्त शब्दों को पर्यायवाची शब्दों से बदल देने पर वह चमत्कार नष्ट हो जाता है । अर्थालंकार वे अलंकार कहलाते हैं जिनमें अर्थ का प्राधान्य रहता है अर्थात् चमत्काराधायक शब्दों का परिवर्तन करके उनके पर्यायवाची शब्द रख देने से भी वही चमत्कार बना रहता है ।"[110] सेठ कन्हैयालाल पोद्दारजी ने अलंकार के तीन भेद माने हैं - "शब्दालंकार, अर्थालंकार और शब्दार्थ उभयालंकार।"[111] मिश्रजी ने भी उभयालंकार की चर्चा की है । इनके अनुसार "एक भेद उभयालंकार भी माना गया है। यहाँ 'उभय' का अर्थ केवल 'दो' है अर्थात् दो शब्दालंकार, दो अर्थालंकार या एक शब्द और एक अर्थ का अलंकार अथवा दो से अधिक अलंकार भी जहाँ मिले हुए हों वहाँ उभयालंकार होता है ।"[112] इन्होंने शब्दालंकारों के आठ भेद तथा अर्थालंकारों के एक सौ भेद माने हैं । उभयालंकार के भी दो प्रकार बताये हैं जिसमें से एक 'संकर' कहलाता है तथा दूसरा 'संसृष्टि । "जहाँ दो या दो से अधिक अलंकार, नीरक्षीरवत्

मिले हुए हों वहाँ अलंकारों की मिलावट 'संकर' कहलाती है । ये अलंकार ऐसे मिले होते हैं कि इनको एक दूसरे से पृथक करना कठिन होता है । जहाँ दो अलंकार तिलतंदुलवत् मिले होते हैं वहाँ अलंकारों का मिश्रण 'संसृष्टि' कहा जाता है ।''[113]

इन्होंने अलंकारों का दूसरे प्रकार से भेद वर्ण्य-विषय के विचार से किया है जिसमें ''काव्य के वर्ण्य होते हैं भाव और वस्तु ।''[114] वस्तु के बोध के सम्बन्ध में मिश्रजी कहते है कि ये कई प्रकार का हो सकता है यथा - रूप, गुण, एवम् उसके क्रिया का बोध आदि । इसके अतिरिक्त अलंकारों के आधार की दृष्टि से इसके सात वर्ग इन्होंने माने हैं जो क्रमशः ''सादृश्य गर्भ, विरोध गर्भ, श्रृंखलाबंध, तर्कन्यायमूल, वाक्य न्यायमूल, लोकन्यायमूल और गूढ़ार्थप्रतीतिमूल''[115] है । इन सबों के विवेचन के क्रम में मिश्रजी बताते हैं कि सादृश्य गर्भ के बीच आने वाले सभी अलंकारों की कड़ियाँ एक दूसरे से जुड़ी होती है जिसके बीचो-बीच उपमा अलंकार होता है । विरोध गर्भ अलंकार के सम्बन्ध में ये लिखते हैं कि इसमें तीन प्रकार की स्थितियाँ दिखाई देती है -- ''कहीं तो द्रव्य, जाति, गुण और क्रिया का पारस्परिक विरोध दिखाकर चमत्कार उत्पन्न किया जाता है, वहाँ विरोध का आभास मात्र रहता है अर्थात् विरोध वास्तविक नहीं होता, चमत्कार के लिए होता है ; जैसे - 'विषमय यह गोदावरी अमृतन के फल देती' । यहाँ 'विष' द्रव्य का 'अमृत' द्रव्य से विरोध है । किन्तु 'विष' का अर्थ 'जल' और 'अमृत' का अर्थ 'देवता' भी होता है । अतः इस पद का अर्थ होगा - जलमय गोदावरी देवता बना देती है । इस प्रकार कोई विरोध नहीं रह जाता।"[116]

श्रृंखलामूलक अलंकार के बारे में ये कहते हैं कि इसके तहत एक पदार्थ दूसरे पदार्थ से उसी प्रकार जुड़ते चले जाते हैं । जिस प्रकार श्रृंखला की कड़ियाँ । तर्कन्यायमूलक अलंकार के सम्बन्ध में ये कहते हैं कि-- ''तर्कन्यायमूलक

अलंकार वे हैं जिनमें न्यायशास्त्र के अनुमान का सहारा लिया जाता है । न्यायशास्त्र में कारण दो प्रकार के माने गए है - एक उत्पादक, दूसरा ज्ञापक । पिता पुत्र का उत्पादक कारण है और पुत्र पिता का ज्ञापक कारण ।''[117] वहीं लोकन्यायमूल अलंकार में रूप रस, गंध, स्पर्श के आधार पर अंगादि भाव से कथित वस्तुओं के रूपादि के परिवर्त्तन का उल्लेख होता है । गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक अलंकार के सम्बन्ध में इनका मानना है कि -- ''गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक अलंकार वे हैं जिनमें कोई गूढ़ बात लक्षित कराई जाती है । कहीं तो गूढ़ बात केवल दूसरे के संकेत के लिए होती है (गूढ़ोक्ति), कहीं गूढ़ बात के दूसरे द्वारा ग्रहण करने पर विशेष चमत्कार उत्पन्न करने के लिए अर्थांतर का ग्रहण होता है (वक्रोक्ति) और कहीं विशेष स्थिति में दिखाई पड़नेवाले शब्दों द्वारा कोई विशेष वस्तु लक्षित कराई जाती है ।''[118]

यहाँ हम देखते हैं कि मिश्रजी ने अलंकारों का विस्तार से विवेचन किया है । ये कहते हैं कि अलंकार विशेष प्रकार की लिखने या बोलने की शैली है । ये लिखते हैं कि - ''प्राचीन काल में काव्य में अलंकारों की प्रधानता मानी जाती थी । कहने वाले तो यहाँ तक कहते हैं कि काव्य को अलंकार रहित मानना वैसा ही है जैसे अग्नि को उष्णता रहित मानना ।''[119] इन्होंने यह भी कहा कि काव्यशास्त्र या साहित्य शास्त्र अलंकार शास्त्र कहलाता था । यहाँ तक कि गुण, रीति भी अलंकार की कोटि में आते थे ।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने 'व्यंजना' के सम्बन्ध में अलग से भी विचार किया है । वस्तुतः ''अपने-अपने अर्थ का बोध कराके अभिधा और लक्षणा के

विरत हो जाने पर जिस शक्ति द्वारा व्यङ्ग्यार्थ का बोध होता है उसे व्यंजना कहते हैं।"[120]

व्यक्त-विषय, वाच्य-ग्रहण, प्रतीयामान अर्थ और व्यंग्योपलब्धि के विचार से इन्होंने व्यंजना के कई प्रकार बताये हैं । सर्वप्रथम व्यक्त-विषय के आधार पर व्यंजना को दो भागों में विभक्त करते हैं जो क्रमशः वस्तुव्यंजना और भावव्यंजना कहलाता है । एक अन्य अलंकार व्यंजना के बारे में ये कहते हैं कि अलंकार व्यंजना वस्तुतः वस्तुव्यंजना ही है । इनके अनुसार - "जहाँ वस्तुव्यंजना अलंकार के ढाँचे में निकले वहाँ वह वस्तुव्यंजना न कहलाकर अलंकार व्यंजना कहलाएगा ।"[121] वहीं इन्होंने शब्द और अर्थ के भेद से व्यंजना दो प्रकार के बताये । ये हैं क्रमशः शाब्दी और आर्थी । इनके अनुसार - "शब्दी व्यंजना के दो भेद होते हैं - अभिधामूला और लक्षणामूला । ये भेद वाच्य के निर्बाध या बाधित होने के आधार पर हैं ।"[122] आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी ने भी इस सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए कहा - "तीन प्रकार की व्यंजनाएँ दिखाई पड़ती हैं - वस्तु व्यंजना, भाव व्यंजना और अलंकार व्यंजना । इसके अन्य भेद शाब्दी या आर्थी हैं । इनमें से शाब्दी व्यंजना के दो भेद हैं - अभिधामूलक और लक्षणामूलक ।"[123] यहाँ ध्यातव्य है कि शुक्लजी ने व्यंजना के तीन प्रकार माने हैं जिसमें अलंकार व्यंजना भी है, जबकि मिश्रजी ने इस अलंकार व्यंजना को वस्तु व्यंजना ही माना है । आगे इन्होंने प्रतीयमान अर्थ के आधार पर व्यंजना के संबंध में कहा कि - "प्रतीयमान अर्थ के रूप के विचार से व्यंजना के दो भेद होते हैं - अर्थान्तरसंक्रमित और अत्यंततिरस्कृत ।"[124] इन्होंने लक्ष्यालक्ष्य के विचार से भी व्यंजना के दो भेद किए हैं । यहाँ मिश्रजी द्वारा किए गए व्यंजना के प्रकारों का उल्लेख किया जा रहा है --

"**व्यंजना**

↓

↓ शाब्दी | ↓ आर्थी

शाब्दी ↓

↓ विविक्षितवाच्य (अभिधामूला) | ↓ अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूला)

विविक्षितवाच्य (अभिधामूला) ↓

↓ संलक्ष्यक्रम (वस्तु व्यंजना) | ↓ असंलक्ष्यक्रम (भाव व्यंजना)

अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूला) ↓

↓ अर्थांतरसंक्रमित | ↓ अत्यंततिरस्कृत

संलक्ष्यक्रम (वस्तु व्यंजना) ↓

↓ शब्दशक्ति उद्भूत | ↓ अर्थशक्ति उद्भूत | ↓ शब्दार्थशक्ति उद्भूत

अर्थशक्ति उद्भूत ↓

↓ स्वतः संभावी | ↓ कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध | ↓ कविनिबद्धवक्ता प्रौढ़ोक्तिसिद्ध

↓ | ↓ | ↓

↓ वस्तु से वस्तु | ↓ वस्तु से अलंकार | ↓ अलंकार से वस्तु | ↓ अलंकार से अलंकार

इनके भेद और भी होते हैं - प्रबंधगत, वाक्यगत, पदगत, पदांशगत, वर्णागत आदि।"[125]

यहाँ हम देख सकते है कि मिश्रजी ने व्यंजना के अनेक भेदों का जिक्र किया है तथा अपनी पुस्तक 'वाड्मय विमर्श' में इन सबों का विस्तार से विवेचन भी किया है । कहने की आवश्यकता नहीं है कि अन्य विद्वानों की भाँति मिश्रजी भी सच्चे अर्थों में काव्यशास्त्रीय चिन्तक प्रतीत होते हैं । इन्होंने व्यंजना के अतिरिक्त 'रस' पर भी विस्तार से विचार किया है । वस्तुतः मिश्रजी भी रसवादी आचार्य हैं । अतः 'रस' से सम्बन्धित मतों पर पर भी गम्भीरता से विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। मिश्रजी ने 'रस' के सम्बन्ध में कहा कि -- "काव्य के पढ़ने या नाटक के देखने से सुखात्मक या दुःखात्मक किसी प्रकार के भाव की अनुभूति जब होती है तब मन की केवल एक ही स्थिति होती है । वह इन दोनों प्रकार के भावों में रमता है । मन के रमने के कारण यह अनुभूति प्रत्यक्षानुभूति की अपेक्षा संस्कृत या परिष्कृत कही जा सकती है । मन के इसी रमण के कारण इस अनुभूति को 'रस' कहते हैं ।"[126] मिश्रजी ने स्पष्ट कहा कि रस का सम्बन्ध अनुभूति से है, क्योंकि हम अपने जीवन में अनुभूति करते हैं चाहे वह घृणा हो, प्रेम हो, क्रोध या फिर करुणा। इन्होंने अनुभूति भी दो प्रकार की बताई जिसमें से -- "एक को साक्षात या प्रत्यक्षानुभूति कह सकते हैं और दूसरे को काव्यानुभूति या रागानुभूति ।"[127]

वैसे हम देखते हैं कि प्रारम्भ से ही 'रस' चिन्तन होता आ रहा है चाहे वह वेद हों अथवा उपनिषद । निर्मला जैन कहती हैं कि - "रस की परिकल्पना के पीछे भारतीय मनीषियों की तत्त्वान्वेषी वृत्ति का व्यापक परिवेश है । पदार्थों के सार-तत्त्व के रूप में 'रस' संज्ञा का प्रयोग भारत में आरम्भ से ही सामान्य व्यवहार एवं ज्ञान-विज्ञान की अनेक शाखाओं में प्रचलित रहा है ।"[128] निर्मला जैन वेदों एवम् उपनिषदों में 'रस' के चिन्तन सम्बन्धी तथ्यों का ब्योरा देते हुए कहती हैं कि "वेदों में

मधु, दुग्ध, सोम, जल आदि के लिए जिस प्रकार 'रस' शब्द का प्रयोग किया गया है, उससे स्पष्ट है कि पदार्थ-सार ही रस है । संभवतः इसी आधार पर आगे चलकर आयुवेद में द्रव्य-गुण, धातु-शक्ति, पदार्थ स्वाद आदि के लिए 'रस' संज्ञा ग्राह्य हुई, जिसका रूढ़ार्थ पारद तथा वीर्य के रूप में हुआ । उपनिषदों में जिस प्रकार वेदों की अनेक भौतिक संकल्पनाओं को सूक्ष्म आध्यात्मिक रंग दिया गया, उसी प्रकार रस का भी आध्यात्मिक रूपान्तर हुआ । बृहदारण्यक उपनिषद में 'प्राणो वा अंगानां रसः' कहकर रस को सारभूत तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया तो तैत्तिरीय उपनिषद में स्वयं ब्रह्मा को ही रस-रूप कहा गया है ।''[129] निर्मला जैन यह भी कहती हैं कि भरत-मुनि का 'नाट्यशास्त्र' ही प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ है जिससे काव्यशास्त्रीय रस-सिद्धान्त का सूत्रपात होता है । ''विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पतिः' अर्थात् 'विभाव अनुभाव और संचारी (भाव) के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है' - यही भरत का विख्यात सूत्र है ।''[130] इस सूत्र से जुड़े दो सवालों पर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए निर्मला जैन कहती है कि आखिर रस क्या पदार्थ है ? - पहला प्रश्न और दूसरा प्रश्न यह कि रस का आस्वाद किस प्रकार होता है ? इन दोनों प्रश्नों के उत्तर में आचार्य भरत के विचारों का उल्लेख करते हुए निर्मला जैन लिखती हैं कि - ''पहले प्रश्न का उत्तर देते हुए भरत-मुनि ने कहा है कि जिस प्रकार नाना व्यंजनों औषधियों और द्रव्यों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है अथवा जिस प्रकार गुण और द्रव्यों, व्यंजनों एवं औषधियों से षट् रस उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार कवि- हृदयगत स्थायी भाव विभिन्न प्रकार के भावों अर्थात् 'विभावादि के रूप को प्राप्त होने पर ही रसत्व को प्राप्त होते हैं। दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने यह कहा कि जिस प्रकार नाना व्यंजनों से संस्कृत अन्न का भोग करते हुए सुमनस पुरुष रस का आस्वाद लेते हैं और

हर्षादि के प्रति अग्रसर होते हैं, उसी प्रकार नाना भाव और अभिनय इत्यादि से युक्त तथा वागंगसत्व में रूपान्तरित स्थायी भावों का सुमनस् प्रेक्षक आस्वाद लेते हैं और हर्षादि के प्रति अग्रसर होते हैं । ''[131]

भरत-मुनि के सूत्र में आए हुए 'संयोग' और 'निष्पति' इन दो शब्दों पर अनेक ढंग से अर्थ लगाये गये हैं और विद्वानों-आचार्यों ने अपने-अपने मत दिए हैं । आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने अपने ग्रंथ वाङ्मय विमर्श में 'रस' शब्द के विवेचन के क्रम में यह स्पष्ट कहा कि - ''रस की अनुभूति पाठक या दर्शक को हुआ करती है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि रसानुभूति प्रत्यक्षानुभूति की अपेक्षा मूलतः कोई भिन्न प्रकार की अनुभूति है । वस्तुतः ये दोनों प्रकार की अनुभूतियाँ मूल में एक ही हैं। प्रत्यक्षानुभूति में सुखात्मक या दुःखात्मक भावों के समय जो जो चेष्टाएँ या मुद्राएँ उत्पन्न हुआ करती हैं रसानुभूति के समय भी वे ही चेष्टाएँ या मुद्राएँ व्यक्त होती हैं।''[132] मिश्रजी द्वारा संपादित शुक्लजी के रस-मीमांसा में एक स्थान पर यह वर्णन आया है कि ''कवि जिन वस्तुओं और व्यापारों का वर्णन करने बैठता है वे उस समय उसके सामने नहीं होते, कल्पना में ही होते हैं । पाठक या श्रोता भी अपनी कल्पना द्वारा ही उनका मानस-साक्षात्कार करके उनके आलंबन से अनेक प्रकार के रसानुभव करता है ।''[133] शुक्लजी द्वारा दिए गए ये विचार मिश्रजी के वक्तव्य को पुष्ट करते हैं।

रस सम्बन्धी मतों पर प्रमुखतः चार सिद्धान्त प्रतिपादित है जो क्रमशः उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद और व्यक्तिवाद के नाम से जाने जाते हैं । सर्वप्रथम आचार्य भट्टलोल्लट ने भरत के रस-सूत्र में आये 'संयोग' और 'निष्पति' शब्दों के अर्थ पर अपने ढंग से विचार करते हुए कहा कि ''रस अनुकार्य में अर्थात् नेता में होता है।''[134] इन्होंने दो स्थितियाँ स्वीकार की -- ''एक रस की नेता, आदि में उत्पत्ति, दूसरे

नट में अनुकार्यो का आरोप ।''[135] मिश्रजी कहते हैं कि इसी से इनके मत को उत्पत्तिवाद भी कहते हैं और आरोपवाद भी । ये कहते हैं कि भट्ट लोल्लट ने 'संयोग' शब्द का अर्थ सम्बन्ध से लिया है जबकि विभाव, अनुभाव तथा संचारी से क्रमशः उत्पाद्योत्पादक, गम्यगमक तथा पोष्यपोषक माना है । ये कहते हैं कि - ''निष्पत्ति शब्द के इन्हीं तीनों के विचार से तीन अर्थ किए हैं - विभाव से रस की उत्पत्ति, अनुभाव से अभिव्यक्ति और संचारी से पुष्टि होती है । भट्टलोल्लट मीमांसा दर्शन के अनुयायी हैं। उनके मत से नट सम्बन्धी ज्ञान लौकिक है, शेष अलौकिक ।''[136] मिश्रजी कहते हैं कि भट्टलोल्लट के द्वारा दिए गए मत पर आपत्तियाँ उठाई गयीं जिसमें ये कहा गया कि नेता, अभिनेता और ग्रहीता तीनों भिन्न हैं जो एक दूसरे का अनुभव नहीं कर सकते। वही दूसरी ओर यह आपत्ति जतायी गयी कि - ''अनुकार्य या नेता का ज्ञान रसास्वाद का हेतु नहीं हो सकता । यदि ऐसा हो तो उनके कार्य-कलाप के प्रदर्शन की अपेक्षा ही नहीं है, उनके नाम से ही रसास्वाद हो जाएगा ।''[137]

दूसरे आचार्य श्री शंकुक हैं जिन्होंने ''संयोग का अर्थ अनुमाप्य-अनुमापक संबंध माना और निष्पति का अर्थ अनुमिति या अनुमान कहा ।''[138] ये कहते हैं कि शंकुक रसास्वाद अभिनेता और नेता दोनों में मानते हैं । ''अभिनेता के बनावटी अभिनय से वास्तविक रति आदि का अनुमान होने से सामाजिक को चमत्कार होता है, रस का आस्वाद मिलता है । अनुमान या अनुमिति का आधार होने के कारण इसे अनुमितिवाद कहते हैं ।''[139] शंकुक के इस मत का भी विद्वानों ने खंडन करते हुए कहा कि ''अनुमान और रस के आनंद में भेद है । आनंद अनुमान नहीं प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है । अनुमान कैसा भी, या कैसी भी विलक्षण वस्तु का हो वह प्रत्यक्ष आनंद

के समान नहीं हो सकता । अनुमान से बहुत होगा तो आश्चर्य होगा । दूसरी आपत्ति यह कि किसी अन्य व्यक्ति में जो आस्वाद है उसे दूसरा व्यक्ति अनुमान द्वारा कर नहीं सकता ।''[140]

भरतसूत्र के तीसरे व्याख्याता भट्टनायक जी हैं जिन्होंने शंकुकजी के मत का खण्डन करते हुए अपने मत में कहा कि - ''संयोग का अर्थ भोज्य भोजक सम्बन्ध है । रस भोज्य है और विभाव, अनुभाव तथा संचारी भोजक । निष्पत्ति का अर्थ इन्होंने 'भोग' या 'भुक्ति' किया ।''[141] मिश्रजी कहते है कि इनके मत का भी खण्डन हुआ । विद्वानों का मानना है कि - ''भावना और भोग नाम से दो पृथक वृत्तियों का ग्रहण अशास्त्रीय है ।''[142] इसका खण्डन करते हुए चौथे व्याख्याता श्री अभिनवगुप्ताचार्य ने - ''संयोग का अर्थ किया व्यंग्यव्यंजक सम्बन्ध ।''[143] जबकि ''निष्पात्ति का अर्थ है व्यक्ति, प्रकट होना, प्रकाशित होना ।''[144] मिश्रजी कहते हैं कि अभिनव गुप्त जी भी भट्टनायक के द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण को स्वीकारते हैं पर ''भावना के स्थान पर ये व्यंजना के विभावन व्यापार के साधारणीकरण मानते हैं । इनका प्रतिपादन यह है कि विभावादि में रस को व्यक्त करने की शक्ति व्यंजना हैं।''[145] ये कहते हैं कि अभिनवगुप्त ने अपने मत में कहा कि सामाजिक में वासना वैसे ही अव्यक्त पड़ी रहती है जैसे मिट्टी के पके पात्र में गंध अव्यक्त पड़ी रहती है और ज्योंही जल का संयोग हुआ वह प्रकट हो जाती है । इनके अनुसार अभिनवगुप्त जी का कहना है कि - ''रस कवि या कर्त्ता में होता है, पर वह बीज रूप होता है । कवि भी सामाजिक के सदृश होता है । काव्य को वृत्त या थाल्हा समझना चाहिए जिसमें रसवृक्ष उगता है । अभिनेता में वह पुष्परूप होता है, सामाजिक में फलरूप ।''[146] कुल

मिलाकर रस-प्रक्रिया के चारों व्याख्याकारों के व्याख्याओं पर गम्भीरता पूर्वक विचार करें तो स्पष्ट होता है कि - "इन चारों की व्याख्याओं में रस-प्रक्रिया का क्रमशः विकास हुआ है और अभिनव गुप्त तक पहुँचकर यह सर्वसम्मत सिद्धांत के रूप में मान ली गई है ।"[147] वहीं रचनाकार आनंद प्रकाश दीक्षित जी ने अपने पुस्तक 'रस-चिंतन के विविध आयाम में यह संभावना व्यक्त करते हुए कहा कि - "दृश्य काव्य से लेकर श्रव्यकाव्य तक विस्तार पाने वाला रस-सिद्धांत भारतीय काव्यशास्त्र के चिंतकों का जहाँ सदियों से अन्य शास्त्रीय सिद्धांतों की तुलना में विशेष चहेता बना रहा है वहाँ वह पुराकाल से ही विवाद्य भी रहा है । विवाद और चुनौतियों के बीच ही वह परिवर्तित, विकसित और संवर्द्धित भी हुआ है । आज भी उसकी संभावनाएँ शेष नहीं हुआ है।"[148]

वैसे मिश्रजी ने पण्डितराज जगन्नाथ त्रिशूलीजी के रस सम्बन्ध मत का भी उल्लेख किया है, जिसमें त्रिशूलीजी ने - "संयोग का अर्थ 'भावनारूप दोष' और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'उत्पत्ति' माना है ।"[149] इन्होंने त्रिशूलीजी के विचारों का विवेचन करते हुए लिखा है कि - "काव्य में कवि और नाटक में नट द्वारा विभावादि के प्रकाशित कर देने पर व्यंजना वृत्ति से सामाजिक को रति आदि का ज्ञान हो जाता है। इसके अनन्तर सहृदयता से एक प्रकार की भावना जगती है जो दोष रूप होती है । इस दोष के प्रभाव से सामाजिक अपने को आश्रय रूप समझने लगता है, उसका हृदय दुष्यंतत्व से छा जाता है ।"[150] आगे ये लिखते हैं कि - "फिर आत्मचैतन्य से प्रकाशित होने पर, आवरण भंग होने पर आनन्द का अनुभाव होता है ।"[151] मिश्रजी इनके मतों के आलोक में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि "पंण्डितराज जगन्नाथ शांकर अद्वैतवाद के अनुयायी हैं । उनके अनुसार काव्यनाट्यादि के श्रवणदर्शन से एक प्रकार का भावनादोष या माया का आच्छादन होता है । आत्मचेतन्य से जब यह प्रकाशित

होता है तब भग्नावरण चित् की स्थिति होने से आनंद का अनुभव होता है ।''[152]

यहाँ हम देख सकते हैं कि मिश्रजी ने विभिन्न विद्वानों एवम् आचार्यों के रस सम्बन्धी मत का बड़े ही कौशल पूर्वक विवेचन किया है ।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने रस के चारों अवयवों पर भी विचार किया है । ये हैं क्रमशः - ''विभाव अनुभाव, स्थायी भाव और संचारी भाव ।''[153] इन सब का विवेचन मिश्रजी ने इस प्रकार किया है । ये कहते हैं कि काव्य में किसी के प्रति किसी के हृदय में कोई भाव होता है । जिसके प्रति भाव होता है वह भाव का विषय या आलंबन होता है । वहीं ''जिसके हृदय में भाव होता है वह भाव का विषयी या आश्रय होता है ।''[154] आश्रय को इन्होंने विभाव भी कहा है । ये कहते हैं कि - ''किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति किसी की जो मानसिक स्थिति होती है उसे 'भाव' कहते हैं ।''[155] वही उद्दीपन के सम्बन्ध में ये कहते हैं कि - ''आलंबन में जो चेष्टाएँ दिखाई देती है उन्हें 'उद्दीपन' कहते हैं । और आश्रय में जो चेष्टाएँ दिखाई देती है उन्हें 'अनुभाव' कहते हैं ''[156] इन्होंने उद्दीपन भी दो प्रकार के बताये । ये है क्रमशः आलंबनगत चेष्टाएँ ओर दूसरे तदितर बाह्य परिस्थिति । इन्होंने यह भी साफ किया कि ''आलंबनगत चेष्टाएँ तो सभी रसों में हुआ करती है, पर बाह्य परिस्थितियों का उद्दीपन के रूप में श्रृंगार में विशेष रूप से नियोजन होता है ।''[157] इन्होंने अनुभाव भी दो ही प्रमुख रूप से माने हैं जिसमें पहला आश्रय की चेष्टाओं के रूप में तथा दूसरा उसकी उक्तियों के रूप में । ये कहते हैं कि रसग्रंथों में अनुभाव के चार भेद किए गये हैं । अगर हम रस के अवयव से सम्बन्धित वर्ग तालिका का निर्माण करें तो मिश्रजी के अनुसार इस प्रकार का होगा --

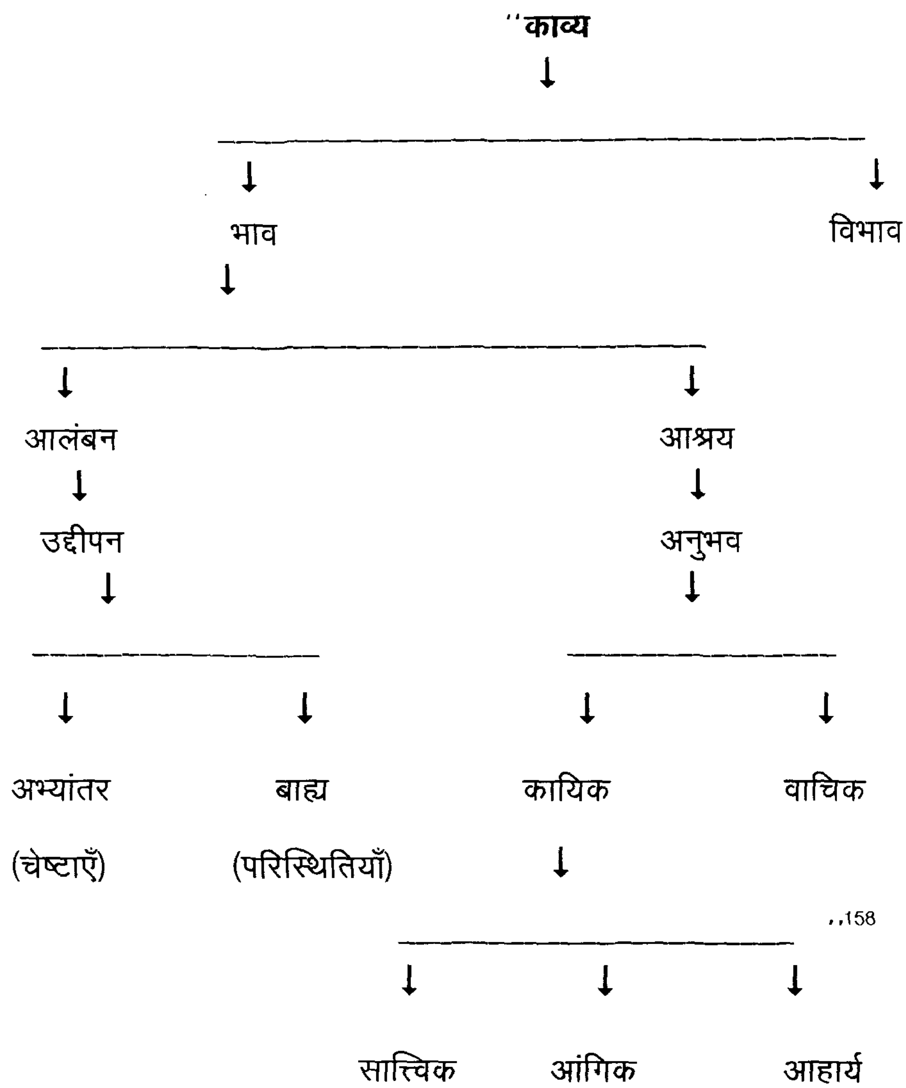

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि मिश्रजी ने रस के सभी अवयवों का विवेचन एवम् विश्लेषण बड़े ही गम्भीरता से किया है जिसमें उसके गुण का पता चलता है । इन्होंने 'भाव' दो प्रकार के बताये - "स्थायी और अस्थायी ।"[159] इनका मानना है कि स्थायी भाव विरोधी और अविरोधी दोनों स्थितियों में समान रहती हैं जबकि अस्थायी निरंतर बने नहीं रहते हैं । अर्थात् "स्थायी भाव उन्हीं भावों को कहते हैं जो रसावस्था तक पहुँचते हैं ।"[160] वहीं - "जो भाव ज्यों के त्यों गृहीत नहीं होते वे

'संचारी भाव' कहलाते हैं ।''[161] मिश्रजी कहते हैं कि आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में 33 ही संचारी भाव माने हैं । इन्होंने इस बात का खंडन किया जिसमें यह बात उठी कि 'छल' नामक चौंतीसवां संचारी भाव देव ने अपने 'भाव विकास' में उधृत किया है । इन्होंने इस सम्बन्ध में कहा कि अगर ऐसा होता है तो ''छल ही क्या दया, दाक्षिण्य, उदासीनता आदि न जाने कितने भाव हैं जिनकी गणना 33 संचारियों में नहीं है पर उनका नियोजन समर्थ कवियों की रचना में देखा जाता है ।''[162]

'संचारी' शब्द का तात्पर्य इन्होंने स्थायी भाव में सहायक होनेवाली वृत्तियों या स्थितियों से माना है । इन्होंने स्पष्ट किया कि स्थायी भाव और संचारी भाव दोनों की वृत्तियाँ अलग-अलग होती है, जिसमें कुछ सुखात्मक होते हैं कुछ दुःखात्मक होते हैं । इनके अनुसार ''स्थायी भावों में रति, ह्रास, विस्मय तथा उत्साह सुखात्मक मनोवृत्तियाँ हैं और क्रोध, घृणा, भय तथा शोक दुःखात्मक मनोवृत्तियाँ । शम या निर्वेद को उदासीन या सुखदुःख रहित मनोवृत्ति कह सकते हैं ।''[163] वहीं इन्होंने संचारी भावों में भी सुखात्मक एवम् दुःखात्मक भावों का वर्णन करते हुए कहता है कि - ''संचारी भावों में भी ग्लानि, शंका, श्रम, आलस्य, विषाद आदि दुःखात्मक हैं और हर्ष, चपलता आदि सुखात्मक ।''[164] मिश्रजी के अनुसार अगर हम भाव का विश्लेषण वर्गतालिका में करते हैं तो वह कुछ इस प्रकार का होगा --

''**भाव**

- स्थायी
  - सुखात्मक
  - उदासीन
  - दु:खात्मक
- अस्थायी (संचारी)
  - सुखात्मक
    - मनोवृत्ति
    - बुद्धिवृत्ति
    - शरीरवृत्ति
  - दु:खात्मक
    - मनोवृत्ति
    - बुद्धिवृत्ति
    - शरीरवृत्ति

'' [165]

रसों के भेद के विवेचना में मिश्रजी कहते हैं कि ''स्थायी भाव नाटकों में आठ ही माने गये हैं -- रति, हास, विस्मय, उत्साह, क्रोध, जुगुत्सा, भय और शोक। किन्तु श्रव्यकाव्य में निर्वेद भी स्थायी भाव माना गया है । इन स्थायी भावों के परिपाक से क्रमशः श्रृंगार हास्य, अद्‌भुत, वीर, रौद्र, वीभत्स, भयानक, करुण और शांत रस होते हैं ।''[166] रस के नव रूप या नव रस मानने के कारण पर विचार करते हुए मिश्रजी कहते हैं कि -- ''जिन स्थायी भावों से भावन होता है, जिन्हें सामाजिक का हृदय ग्रहण करता है या जो सामाजिक के हृदय में व्यक्त हो सकते हैं वे ही रस रूप माने गए है ।''[167] ये कहते हैं कि भक्ति क्षेत्र में उपासना के चारों भाव अर्थात् दास्य, सख्य, वात्सल्य और कांत रस रूप माने जाते हैं, पर कुछ विद्वानों ने इन चारों को एक ही भक्ति-रस माना है । ये लिखते हैं कि नौ रसों के अतिरिक्त चार नए नाम जोड़े गये हैं जिनमें भक्ति, वात्सल्य, सख्य और आनंद हैं । साहित्याचार्य मम्मट के मत को व्यक्त

करते हुए मिश्रजी कहते है कि-- "मम्मट ने देव, गुरु, युग, मित्र आदि के प्रति होने वाली रति (प्रेम) को केवल भाव माना है ।"[168] मिश्रजी कहते हैं कि "गुरु विषयक रति में प्रधानता दास्य की होती है । इस दास्य की अभिव्यक्ति तुलसीदास के काव्य में परिपूर्ण हुई है ।"[169] वहीं इन्होंने 'सख्यरस को भी मानने की बात कही जिसमें उन्होंने कहा कि "मित्रविषयक रति की व्यंजना 'काव्यों में, विशेष रूप से सुदामाचरित' लेकर लिखे गये कुछ खण्ड काव्यों में, दिखाई देता है ।"[170] ये लिखते हैं कि भोजराज ने प्रेयान, उदात् और उद्धत तीन रसों का हास्यादि के अतिरिक्त उल्लेख किया है । ये कहते हैं कि 'रसतरंगनि' मे एक नया रस 'मायारस' भी माना गया है। वहीं आचार्य रामचन्द शुक्ल के द्वारा "प्रकृति के प्रति होने वाले प्रेमभाव से सामाजिक के लिए प्रकृतिरस मानते हैं ।"[171]

हम देख सकते हैं कि मिश्रजी ने रसों के सभी संभावित भेदों का जिक्र किया है जिसका विश्लेषण यहाँ किया गया है । स्पष्टतः कहा जा सकता है कि मिश्रजी ने काव्य शास्त्रीय चिंतक के रूप में वाङ्मय विमर्श के अन्तर्गत काव्य एवम् शास्त्र के विभिन्न उपादानों पर विचार किया है । काव्य का सम्बन्ध हमारी जीवन से है। जीवन की आलोचना एवम् श्रम साधना से है । मिश्रजी ने काव्य के स्वरूप, काव्य के प्रयोजन, भेद, हेतु, शब्दशक्ति, व्यंजना पर प्रकाश डाला है । रस के सम्बन्ध में मिश्रजी कहते हैं कि काव्य पढ़ने या नाटक देखने में सुखात्मक एवम् दुःखात्मक दोनों स्थिति होती है पर मन की स्थिति एक ही होती है । मन के रमने की इस स्थिति को रस कहते है । इन्होंने भरत के संयोग एवम् निष्पत्ति पर भट्टलोल्लट, शंकुक भट्टनायक, अभिनवगुप्त आदि के विचार भी व्यक्त किए हैं ।

5. **छ- भाषाशास्त्रीय चिंतक के रूप में :**

अन्य विद्वानों की भाँति आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी भी भाषा शास्त्रीय चिंतक के रूप में जाने जाते हैं । इन्होंने अपने साहित्येतिहास ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य का अतीत प्रथम भाग' में 'भाषा' के सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टि का उल्लेख किया है साथ ही भारतीय आर्य भाषाओं तथा भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रयोग किए जाने वाली भाषा एवम् बोलियों का सविस्तार से वर्णन किया है । इनके अनुसार भाषा-विज्ञानियों ने भाषा के तीन प्रकार स्वीकार किए हैं, वे है क्रमशः- समासप्रधान, प्रत्ययप्रधान और विभक्ति प्रधान । भाषा के ये सभी तीनों प्रकार भारत में किसी न किसी प्रकार प्रचलन में हैं । इसके पीछे के कारणों के सम्बन्ध में मिश्रजी ऐतिहासिक दृष्टिकोण का सहारा लेते हुए कहते हैं कि -- "इस देश में समय-समय पर बाहर से अनेक जातियाँ आती रही हैं और उनकी भाषाएँ भी उनके साथ किसी-न-किसी रूप में लगी आई हैं जो वे इस देश की भाषाओं को प्रभावित भी करती रही है और उनमें से बहुत सी अपने मूल और परिवर्तित रूप में बनी भी रह गई है ।"[172] इस संबंध में काका साहेब कालेलकर भी अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि - "भारत भाग्य विधाता ने अनेक धर्म यहाँ से बाहर भेजे और अनेक देशों के धर्म यहाँ आकर छोड़े"[173] तो निश्चित है कि धर्म के साथ भाषाएँ भी आईं होंगी और यहाँ की भाषाओं को प्रभावित भी किया होगा ।

मिश्रजी भारतीय भाषाओं की पाँच श्रेणियाँ अथवा कोटियाँ स्वीकारते हैं ये हैं क्रमश : --

1. आग्नेय या आस्ट्रिक परिवार
2. एकाक्षर या चीन परिवार
3. द्रविड़ परिवार
4. भारते-रानी परिवार और
5. फुटकल ।

उपरोक्त सभी भाषा परिवारों में उपभेद का भी जिक्र मिश्रजी ने किया है । इनके अनुसार - ''आग्नेय परिवार के दो प्रमुख उपभेद हैं - आग्नेयद्वीपी या आस्ट्रोनेसियन तथा आग्नेयदेशी या आस्ट्रोएशियाटिक । आग्नेयदेशी के दो प्रभेद हैं - मानख्मेर और मुंडा या कोल भाषाएँ । चीनी परिवार की भाषाओं के दो उपभेद मिलते हैं - शाम-चीनी और तिब्बत-ब्रह्मदेशी । द्रविड़ परिवार के उपभेद भाषा विज्ञानियों ने चार माने हैं -- द्रविड़, आंध्र, मध्यवर्ती और बहिर्वर्ती । किन्तु श्री कुमारिल भट्ट ने दो ही भेद किए हैं -- द्रविड़ और आंध्र । द्रविड़ परिवार के ही अंतर्गत दक्षिण की प्रसिद्ध भाषाएँ तमिल, मलयालम और कन्नड़ आती है ।''[174]

मिश्रजी के अनुसार आग्नेय परिवार की भाषाएँ भारत के दक्षिणपूर्व में प्रचलित है साथ-ही खासी भाषा इसी परिवार की भाषा है जो पूर्वोत्तर के मेघालय प्रदेश की प्रधान भाषा है । मुंडा भाषा के सम्बन्ध में ये कहते हैं कि -- ''मुंडा भाषा का प्रभाव भारत की कई बोलियों पर पड़ा है । इसमें पुंलिंग और स्त्रीलिंग का भेद सजीव और निर्जीव के अनुसार होता है । उत्तम पुरुष में दो रूप होते हैं -- एक श्रोतारहित और दूसरा श्रोतासहित । मध्य प्रदेश की बोलचाल में जो दो प्रयोग चलते हैं- 'हम गए थे' और 'अपन गए थे' वह मुंडा के ही प्रभाव से । 'बीस' के लिए 'कुड़ी' शब्द इसी भाषा का कहा जाता है ।''[175]

इनका मानना है कि शाम-चीनी भाषा का सम्बन्ध भारत के असम प्रदेश से है जो चीनी-परिवार की है । इसी परिवार की एक शाखा तिब्बत-ब्रह्मी जिसका सम्बन्ध तिब्बत, असम एवम् ब्रह्मदेश से है । ये कहते हैं कि -- ''तिब्बत-हिमालयी शाखा की विशेषता यह है कि क्रिया में ही कर्ता और कर्म अंतर्भुक्त रहते हैं । इसी से इसके दो रूप हैं - एक सर्वनामाख्याती और दूसरा असर्वनामाख्याती । पहला रूप मध्य

हिमालय में चलता है तथा दूसरा नेपाल, सिक्कम और भूटान में ।''[176] इसके अतिरिक्त रोंग भी सिक्कम की भाषा है, जबकि दार्जिलिंग में भोटिया भाषा चलती है । द्रविड़ परिवार की भाषा में तमिल भाषा को मिश्रजी सबसे समृद्ध एवम् सम्पन्न मानते हैं। इस भाषा के दो रूपों का जिक्र करते हुए ये कहते हैं कि इसमें से एक जिसे शेन अर्थात् 'पूर्ण' कहते हैं वह काव्य भाषा है, वहीं दूसरी लोकभाषा या बोली है जिसे 'कौडुन' या ग्राम्य कहते हैं । वहीं 'मलयालम' जो तमिल की 'बड़ी बेटी' मानी जाती है इसमें समृद्ध साहित्य उपलब्ध है ऐसा इनका मानना है । तेलगु भाषा के सम्बन्ध में मिश्रजी कहते हैं कि -- ''आंध्र शाखा की एक ही भाषा है तेलगु । तेलगु के बोलने वालों की संख्या द्रविड़ भाषा-भाषियों से अधिक है । तमिल के अनंतर तेलगु का ही साहित्य अधिक समृद्ध है । य संस्कृत से बहुत प्रभावित है । मध्यवर्ती शाखा की बोलियाँ मध्य भारत में बरार से बिहार और उड़ीसा तक छाई है । इनमें सबसे मुख्य गोंडी है । बहिर्वर्ती शाखा की भाषा ब्राहुई है जो भारत की पश्चिमी सीमा पर बोली जाती है ।''[177] इसके अतिरिक्त फुटकल भाषाओं में इन्होंने खानाबदोश की भाषाओं अथवा जिरसी जातियों की बोलियों को रखा है ।

मिश्रजी की एक खास विशेषता रही है कि ये अपनी ही कही हुई बातों को एक समीक्षक के नजरिए से भी देखने का प्रयास करते हैं । यहाँ भाषा एवम् बोलियों के सम्बन्ध में भी इनकी यह दृष्टि दिखाई देती है । भारत के विभिन्न प्रान्तों में प्रयोग में लाये जाने वाले भाषाओं एवम् स्थानीय लोगों द्वारा प्रयोग किए जाने वाली बोलियों को इन्होंने दो विशिष्ट वर्गों में बाँटा है -- पहला आर्य भाषाएँ तथा दूसरा द्रविड़ भाषाएँ । इन्होंने ग्रियर्सन महोदय के विवरण का उल्लेख करते हुए कहा कि -- ''ग्रियर्सन महोदय ने आर्यों के बाहर से आने के और कई बार में आने के कारण

अंतर्वर्ती बहिर्वर्ती तथा मध्यवर्ती भेद किए हैं । पहले आये आर्यों की भाषा बहिर्वर्ती है, पीछे आए आर्यों की भाषा अंतवर्ती ।''[178] इसके अतिरिक्त इन्होंने संस्कृत-व्याकरणाचार्य तथा भाषा विज्ञानी श्री सुनीति कुमार चाटुर्ज्या के द्वारा दिए विवरण का उल्लेख करते हुए कहा कि श्री चाटुर्ज्या ने भाषा के पूर्वी, पश्चिमी, उत्तरी एवम् दक्षिणी भेद किए हैं, जबकि केन्द्र में पश्चिमी हिन्दी अर्थात् शौरसेनी (ब्रजभाषा, खड़ी बोली) को ही रखा है। ये आगे कहते हैं कि ''पूर्वी और पश्चिमी का वास्तविक भेद वैयाकरणों के कर्मणि और कर्तरि प्रयोग में दिखाई देता है । पश्चिम में कर्मणि प्रयोग होता है, पूर्वी में कर्तरि । उत्तरी समूह में सिंधी, लहँदा, पंजाबी, पश्चिमी में गुजराती, राजस्थानी, पूर्वी में हिन्दी, बिहारी, उड़िया, बंगाली, असमियाँ, दक्षिण में मराठी तथा मध्यदेशीय में पश्चिमी हिन्दी है ।''[179]

भारत की प्राचीन आर्य भाषाओं की चर्चा करते हुए मिश्रजी कहते हैं कि प्राचीन आर्य भाषाओं में वैदिक संस्कृत एवम् लौकिक संस्कृत के बाद जिस भाषा के साहित्य हमें प्राप्त होते हैं वह है प्राकृत । भाषा वैयाकरणों ने प्राकृत के प्रमुख भेद में महाराष्ट्री शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी और पैशाची को माना है । ये कहते हैं कि-- ''महाराष्ट्री और शौरसेनी में प्रमुख अंतर उच्चारण का ही है । शौरसेनी पश्चिमी प्राकृत है और मागधी पूर्वी । इनमें उच्चारण तथा स्वरूप के अन्तर के अतिरिक्त यह अन्तर भी है कि पूर्वी की प्रवृत्ति ठेठ रूपों की ओर अधिक है और पश्चिम की संस्कृत-परिष्कृत रूपों की ओर ।''[1180]

आधुनिक देशी भाषाओं के सम्बन्ध में इनका मानना है कि इसमें दो लिपियों का व्यवहार होता है - एक लंडा और दूसरा गुरुमुखी जबकि इसकी वर्णमाला अरबी-फारसी वर्णों से बनाई गयी हैं । ये आगे कहते हैं कि पंजाब की भाषा 'लहदा'

है, जबकि पूर्वी पंजाब पर पैशाची का प्रभाव है । इस भाषा में न संस्कृत की प्रचुरता है और न अरबी-फारसी की । गुजराती भाषा को इन्होंने संस्कृत से प्रभावित बताया है साथ ही इन्होंने यह भी कहा कि इसकी अपनी लिपि है, पर शिरोरेख नहीं होता है । राजस्थानी भाषा राजपूतानों की इन्होंने कही जिसमें निर्मित साहित्य 'डिंगल' के नाम से जाना जाता है । आगे इन्होंने मराठी, उड़िया तथा बिहार की प्रमुख भाषा एवम् बोली मैथिली एवम् भोजपुरी की भी चर्चा की है । ये कहते हैं कि -- "बिहारी में मैथिली और भोजपुरिया दो वर्ग हैं । हिन्दी-मिश्रित (ब्रजरंजित) मैथिली में विद्यापति की रचनाएँ हैं, जो हिन्दी के आदि कवियों में से हैं । बिहार में कैथी लिपि कचहरी में और नागरी ग्रंथों में चलती है ।"[181] वहीं इन्होंने बंगला भाषा का जिक्र करते हुए कहा कि बंगला भाषा का झुकाव संस्कृत की ओर है । इसमें पर्याप्त साहित्य है तथा अपनी लिपि है । असमिया एवम् बंगला का सम्बन्ध बताते हुए ये कहते हैं कि -- "इसमें दंत्य 'स' का उच्चारण 'च' से मिलता होता है ।"[182]

'हिन्दी' के इन्होंने दो वर्ग किए - पश्चिमी एवम् पूर्वी । "पूर्वी में अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी हैं । पश्चिमी में खड़ी बोली, बाँगरू तथा ब्रजभाषा, कन्नौजी और बुंदेली हैं ।"[183] मिश्रजी ने उर्दू को खड़ी बोली ही माना है, जिसकी प्रवृति अरबी-फारसी शब्द लेने एवम् उसका व्याकरण ग्रहण करने की है । कुल मिलाकर यहाँ कहा जा सकता है कि हिन्दी भी आर्य भाषा परिवार की है जिसकी मूल भाषा वैदिक भाषा ही है । मिश्रजी कहते हैं कि -- "वैदिक भाषा और उसके अनन्तर लौकिक भाषा दोनों का नाम संस्कृत है । सामान्यतया वैदिक भाषा को 'छंदस' और लौकिक भाषा को 'संस्कृत' कहते हैं ।"[184]

यहाँ हम देख सकते हैं कि मिश्रजी ने भारतीय भाषाओं पर विचार किया है । इसमें ये पाँच कोटियाँ स्वीकारते है । ये मानते हैं कि आग्नेय परिवार की भाषा भारत के दक्षिण पूर्व में प्रचलित है । मेघालय की खासी भाषा इसी परिवार की है, जबकि शाम-चीन भाषा का सम्बन्ध असम से है । इनकी यह भी विशेषता रही है कि ये अपने द्वारा कहे गये बातों को एक समीक्षक के नजर से भी देखते हैं ।

संदर्भ :

1. हिन्दी का सामयिक साहित्य : लेखक - विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.सं. 150
2. 'नाटक किस चिड़िया का नाम है : हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 9
3. महादेवी जी का रहस्य काव्य - हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 68
4. अमीर खुसरों : हिन्दी साहित्य का अतीत - प्रथम भाग, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 141
5. आत्मनिवेदन, रामचरितमानस, काशिराज संस्करण, संपा. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 9
6. गंगालहरी - संपा. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 15-16
7. मानक हिन्दी कोश : पाचावाँ खण्ड, प्रधान सपा. रामचन्द्र वर्मा, पृ. सं. 122
8. वही, पृ. सं. 122
9. आलोचना या समीक्षा, वाङ्मय-विमर्श - ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 128
10. वही, पृ. सं. 128
11. समीक्षा की नवीन व्यावहारिक पद्धति का प्रयोग, हिन्दी का गद्य-साहित्य, ले. रामचन्द्र तिवारी, पृ.सं. 88
12. हिन्दी आलोचना का विकास, हिन्दी का गद्य साहित्य, ले. रामचन्द्र तिवारी, पृ. सं. 85
13. आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, वही, पृ. सं. 347
14. हिन्दी-समीक्षा के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारि रूपों का विकास और उत्कर्ष, वही, पृ. सं. 85
15. शास्त्रीय आलोचना : नवीन दृष्टिकोण से समीक्षा-सिद्धान्तों की स्थापना, वही, पृ. सं. 87
16. आलोचना या समीक्षा, वाङ्मय-विमर्श, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वही, पृ. सं, 128
17. वही, पृ. सं. 129
18. साहित्य का इतिहास लेखन :परिप्रेक्ष्य और समस्याएँ,पत्रिका-मधुमति, पृ.सं. 29
19. भारतीय हिन्दी परिषद् - 35 वाँ अधिवेशन, पत्रिका - हिन्दी अनुशीलन , संपा. डॉ. वीरेन्द्र नारायण यादव, पृ. सं. 9
20. आलोचना या समीक्षा, वाङ्मय-विमर्श, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 130

21. काव्य का स्वरूप, वाङ्मय-विमर्श, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.सं. 1-2
22. काव्य , वही, पृ.सं. 3
23. विषय का प्रतिपादन, पुस्तक - रामचरितमानस का सौंदर्यतत्व, लेखक - डॉ. कवीश्वर ठाकुर, पृ. सं. 14
24. रसराज या मूलरस, वही, पृ.सं.107
25. प्रस्तुति, पुस्तक - काव्य-रस : चिन्तन और आस्वाद, लेखक - डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ. सं. 3
26. रस, वही, पृ.सं. 95
27. समीक्षक व्यक्तित्व के नियामक तत्त्व, हिन्दी आलोचना और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, ले. डॉ. रामबहादुर राय, पृ. सं. 192
28. काव्य और कला, वाङ्मय-विमर्श, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र,पृ.सं. 192
29. पुरोवचन, हिन्दी साहित्य का अतीत - भाग - 1, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 7
30. वही, पृ. सं. 7
31. वही, पृ. सं. 8
32. निबंध का उदय, पुस्तक - हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : त्रयोदश भाग, संपा. डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांसु, पृ. सं. 46
33. हिन्दी-निबन्ध : स्वरूप और विकास, (डॉ. रामशंकर त्रिपाठी) साहित्यिक निबन्ध, संपा. डॉ. रामसजन पाण्डेय, पृ.सं. 374
34. स्केच या रेखामात्र निबन्ध, हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 132-133
35. भूमिका, पुस्तक - निबन्ध-निकष, संपा. डॉ. रामचन्द्र तिवारी, पृ.सं. 1
36. निबंध का उदय, पुस्तक - हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : त्रयोदश भाग, संपा. डॉ. लक्ष्मी नारायण सुधांसु, पृ. सं. 43
37. हिन्दी-निबन्ध : स्वरूप और विकास, (डॉ. रामशंकर त्रिपाठी) साहित्यिक निबन्ध, संपा. डॉ. रामसजन पाण्डेय, पृ.सं. 375
38. स्केच या रेखामात्र निबन्ध, हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 133
39. विचारात्मक निबन्ध, आधुनिक हिन्दी निबन्ध, ले. भुवनेश्वरीचरण सक्सेना, पृ. सं. 5
40. वही, पृ. सं. 5
41. भावात्मक निबन्ध, वही, पृ. सं. 5-6

42. स्केच या रेखामात्र निबन्ध, हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 133
43. आत्मपरक निबन्ध, आधुनिक हिन्दी निबन्ध, ले. भुवनेश्वरीचरण सक्सेना, पृ. सं. 7
44. स्केच या रेखामात्र निबन्ध, हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 133
45. वर्णानात्मक निबन्ध, आधुनिक हिन्दी निबन्ध, ले. भुवनेश्वरीचरण सक्सेना, पृ. सं. 7
46. विवरणात्मक निबन्ध, आधुनिक हिन्दी निबन्ध, ले. भुवनेश्वरीचरण सक्सेना, पृ. सं. 8
47. स्केच या रेखामात्र निबन्ध, हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 134
48. वही, पृ. सं. 135
49. महावीर तीर्थ की यात्रा, वही, पृ. सं. 31-32
50. साहित्य और लोक जीवन, वही, पृ. सं. 3
51. विश्व कवि, गोंसाईं तुलसीदास, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 2
52. पुस्तकालोचन, हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.सं.141
53. पुस्तक - संस्कृत हिन्दी कोश, लेखक - आदित्येश्वर कौशिक, पृ. सं. 144
54. टीका कार्य के विविध रूप, हिन्दी आलोचना और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, ले. डॉ. रामबहादुर राय, पृ. सं. 277
55. वही, पृ. सं. 277-278
56. वही, पृ. सं. 278
57. सतसैया, बिहारी, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 136-137
58. पुरोवाक्, गोंसाईं तुलसीदास, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 5
59. वही, पृ. सं. 4
60. टीका कार्य के विविध रूप, हिन्दी आलोचना और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, ले. डॉ. रामबहादुर राय, पृ. सं. 279
61. निवेदन, घनानंद कवित्त (प्रथम शतक) - ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.सं.3
62. हिन्दी साहित्य की भूमिका - ले. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. सं. 11-12
63. अनुवचन, हिन्दी साहित्य का अतीत - दूसरा भाग, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 13

64. अनुवचन, हिन्दी साहित्य का अतीत - दूसरा भाग, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 11
65. परवर्ती काव्य, बिहारी - ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 135
66. परिशिष्ट, आधारभूत प्रतियों का नाम-संकेत, रामचरितमानस (काशिराज संस्करण) ; संपा. - आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 460
67. परिशिष्ट, संक्षिप्त पाठ भेद; संपा.- आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 463
68. परिशिष्ट, गंगालहरी ; संपा.- आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 59
69. मूल-ग्रंथ, घनाआनंद कवित्त, (प्रथम शतक) - सं आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 49-50-51
70. टीकाएँ एवम् भाष्य - आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रःरचना यात्रा - ले. शंभुनाथ राय, पृ. सं. 39, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : अभिनन्दन ग्रंथ
71. हिन्दी का गद्य साहित्य - ले. रामचन्द्र तिवारी, पृ. सं. 626,
72. शास्त्र, वाङ्मय विमर्श - ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.सं. 86
73. स्वरूप भेद, हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.सं.104
74. काव्य की परिभाषायें, पॉपुलर मास्टर गाइड यू. जी. सी. NET/SLET हिन्दी पेपर II तथा III ; ले. डॉ. प्रमोद कुमार सिंह एवम् सुधीर प्रताप सिंह, पृ. सं. 123
75. काव्य की परिभाषायें, वही, पृ. सं. 123
76. वही, पृ. सं. 123
77. काव्य, वाङ्मय विमर्श - ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.सं. 2-3
78. ब्रह्मानंद सहोदर, पुस्तक - संस्कृत वाङ्मय कोश, प्रथम खण्ड ग्रंथकार, संपा. डॉ. श्रीधर भाष्कर वर्णेकर, पृ. सं. 212
79. काव्य, रस-मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, संपा. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 5-6
80. काव्य का प्रयोजन, वाङ्मय विमर्श - ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.सं. 4
81. वही, पृ.सं. 4
82. काव्य प्रयोजन, भारतीय काव्य मीमांसा, ती. नं. श्रीकण्ठय्या, अनुवादक - भालचन्द्र जयशेट्टी, पृ. सं. 168
83. काव्य के भेद, वाङ्मय विमर्श - ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.सं. 6
84. वही, पृ.सं. 6
85. वही, पृ.सं. 7
86. वही, पृ.सं. 8
87. वही, पृ.सं. 8

88. काव्य के भेद, वाङ्मय विमर्श - ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.सं. 8
89. काव्य के भेद, काव्य-कल्पद्रुम - भाग -1, - ले. सेठ कन्हैयालाल, पोद्दार, पृ. सं. 35
90. काव्य के भेद, वाङ्मय विमर्श - ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.सं. 8
91. वही, पृ.सं. 9
92. वही, पृ.सं. 9
93. कविता का हेतु, भारतीय काव्य मीमांसा, ती. नं. श्रीकण्ठय्या, अनुवादक - भालचन्द्र जयशेट्टी, पृ. सं. 132
94. काव्य के हेतु, वाङ्मय विमर्श - ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.सं. 10
95. वही, पृ.सं. 11
96. शब्द-अर्थ भारतीय काव्य मीमांसा, ती. नं. श्रीकण्ठय्या, अनुवादक - भालचन्द्र जयशेट्टी, पृ. सं. 179
97. शब्द और अर्थ, वाङ्मय विमर्श - ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.सं. 86
98. शब्द और अर्थ का साहित्य, रस सिद्धान्त और सौन्दर्य शास्त्र, लेखिका - निर्मला जैन, पृ. सं. 275
99. शब्द और अर्थ, काव्य-कल्पद्रुम रस मंजरी - भाग - 1 , ले. सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, पृ. सं. 40
100. शब्द और अर्थ, वाङ्मय विमर्श - ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.सं. 86
101. शब्द-अर्थ भारतीय काव्य मीमांसा, ती. नं. श्रीकण्ठय्या, अनुवादक - भालचन्द्र जयशेट्टी, पृ. सं. 181
102. शब्द और अर्थ, वाङ्मय विमर्श - ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.सं. 86
103. शब्द-अर्थ भारतीय काव्य मीमांसा, ती. नं. श्रीकण्ठय्या, अनुवादक - भालचन्द्र जयशेट्टी, पृ. सं.
104. शब्द और अर्थ, वाङ्मय विमर्श - ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.सं. 86-87
105. शब्द-अर्थ भारतीय काव्य मीमांसा, ती. नं. श्रीकण्ठय्या, अनुवादक - भालचन्द्र जयशेट्टी, पृ. सं. 191
106. शास्त्र, वाङ्मय विमर्श - ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.सं. 87
107. अलङ्कार, काव्य-कल्पद्रुम रस मंजरी - भाग- 1, ले. सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, पृ. सं. 38
108. अलंकार-रीतिप्रस्थान, भारतीय काव्य मीमांसा, ती. नं. श्रीकण्ठय्या, अनुवादक - भालचन्द्र जयशेट्टी, पृ. सं. 35
109. अलङ्कार, पुस्तक - काव्य कल्पद्रुम भाग - 1, पृ. सं. 14
110. अलंकार, वाङ्मय विमर्श - ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.सं. 87

111. अलङ्कार, काव्य-कल्पद्रुम रस मंजरी - भाग- 1, ले. सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, पृ. सं. 38
112. अलंकार, वाङ्मय विमर्श - ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.सं. 87
113. वही, पृ.सं. 87
114. वही, पृ.सं. 87
115. वही, पृ.सं. 88
116. वही, पृ.सं. 89
117. वही, पृ.सं. 90
118. वही, पृ.सं. 90
119. वही, पृ.सं. 90
120. व्यंजना, काव्य-कल्पद्रुम रस मंजरी - भाग- 1, ले. सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, पृ. सं. 62
121. व्यंजना, वाङ्मय विमर्श - ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.सं. 91
122. वही, पृ.सं. 91
123. शब्द शक्ति, रस-मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, संपा. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 313
124. व्यंजना, वाङ्मय विमर्श - ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.सं. 92
125. वही, पृ.सं. 92-93
126. रस, वही, पृ.सं. 95
127. वही, पृ.सं. 95
128. रस चिन्तन का ऐतिहासिक विकास, रस सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र - ले. निर्मला जैन, पृ. सं. 20
129. वही, पृ. सं. 20
130. रसानुभाव, भारतीय काव्य मीमांसा, ती. नं. श्रीकण्ठय्या, अनुवादक - भालचन्द्र जयशेट्टी, पृ. सं. 260
131. रस चिन्तन का ऐतिहासिक विकास, रस सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र - ले. निर्मला जैन, पृ. सं. 22
132. रस, वाङ्मय विमर्श - ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.सं. 95
133. रस-मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, संपा. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 214-215
134. रस सम्बन्धी मत, वाङ्मय विमर्श - ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.सं. 96
135. वही, पृ.सं. 97
136. वही, पृ.सं. 97

137. रस सम्बन्धी मत, वाङ्मय विमर्श - ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.सं. 97
138. वही, पृ.सं. 98
139. वही, पृ.सं. 98
140. वही, पृ.सं. 98
141. वही, पृ. सं. 98
142. वही, पृ.सं. 99
143. वही, पृ.सं. 99
144. वही, पृ.सं. 99
145. वही, पृ.सं. 99
146. वही, पृ.सं. 100
147. रस प्रक्रिया पर डॉ. अवतरे, पुस्तक - रस-प्रक्रिया, लेखक - शंकरदेव अवतरे, पृ. सं. 3
148. भूमिका, पुस्तक, रस-चिंतन के विविध आयाम, संपा. आनंद प्रकाश दीक्षित, पृ. सं. 7
149. रस सम्बन्धी मत, वाङ्मय विमर्श - ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.सं. 100
150. वही, पृ.सं. 100
151. वही, पृ.सं. 100
152. वही, पृ.सं. 101
153. वही, पृ.सं. 101
154. वही, पृ.सं. 101
155. वही, पृ.सं. 101
156. वही, पृ.सं. 101
157. वही, पृ.सं. 101
158. वही, पृ.सं. 102
159. भाव, वही, . 103
160. वही, पृ.सं. 103
161. वही, 103
162. वही, पृ.सं. 103
163. वही, पृ.सं. 103
164. भाव, वाङ्मय विमर्श - ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.सं. 104
165. वही, पृ.सं. 104
166. रसों के भेद, वही, पृ.सं. 104
167. वही, पृ.सं. 104

168. भाव, वाङ्मय विमर्श - ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.सं. 105
169. वही, पृ.सं. 105
170. वही, पृ.सं. 105
171. रासों के भेद, वाङ्मय विमर्श , लेखक - विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 105
172. भारत की भारती, हिन्दी-साहित्य का अतीत : प्रथम भाग, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं.13
173. मानव जाति के लिए जीवन योगी की साधना, लेखक - काका साहेब कालेलकर, पृ. सं. 25
174. भारत की भारती, हिन्दी-साहित्य का अतीत : प्रथम भाग, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 14-15
175. वही, पृ. सं. 15
176. वही, पृ. सं. 15
177. वही, पृ. सं. 16
178. वही, पृ. सं. 18
179. वही, पृ. सं. 18
180. वही, पृ. सं. 18
181. वही, पृ. सं. 19
182. वही, पृ. सं. 20
183. वही, पृ. सं. 20
184. वही, पृ. सं. 20

षष्ठ अध्याय

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की समीक्षा दृष्टि :

प्रमुख आधार

षष्ठ अध्याय

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की समीक्षा-दृष्टि : प्रमुख आधार

6. क. सांस्कृतिक आधार :

"संस्कृति मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति है ।"[1] हिन्दी शब्दकोश में 'संस्कृति' शब्द का अर्थ "अलंकृत करना, आचरणगत परम्परा, परिष्कृत, संस्कार"[2] आदि मिलते हैं । यही 'संस्कृति' शब्द जब किसी व्यक्ति के सापेक्ष जोड़कर देखा जाता है तो इससे उस व्यक्ति-विशेष के संस्कारगत गुण, शील आदि का पता चलता है, जिसके आधार पर समाज में उस व्यक्ति-विशेष के कद की पहचान होती है । इतना ही नहीं "आज सारे विश्व में हमारे देश को जो सम्मान प्राप्त है उसका श्रेय हमारी संस्कृति, भाषा और हमारे आचरण को है ।"[3] इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध साहित्यिक चिन्तक श्री परशुराम चतुर्वेदीजी कहते हैं कि - "संस्कृति शब्द किसी व्यक्ति के पक्ष में बहुधा उसकी शिष्टता, सौजन्यता अथवा मानवता का बोधक होता है और इन गुणों द्वारा उसकी किसी ऐसी स्थायी मनोवृति वा ऐसे शील का पता चलता है जिसके कारण वह समाज में स्वभावतः उच्च कोटि का गिना जाता है ।"[4] इस सम्बन्ध में अगर हम बाबू गुलाब राय एवं श्री गुरुदत्तजी के विचारों का अवलोकन करें तो स्पष्ट होता है कि संस्कृति का सीधा-सीधा सम्बन्ध हमारे संस्कारों से है । बाबू गुलाब राय एवं श्री गुरुदत्त 'संस्कृति' शब्द का सम्बन्ध संस्कारों से स्थापित करते हुए कहते हैं कि - "संस्कृति शब्द का सम्बन्ध संस्कार से है । जिसका अर्थ है संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना । अंग्रेजी शब्द कल्चर में वही धातु है जो एग्रीकल्चर में है । इसका भी अर्थ पैदा करना या सुधारना है । संस्कार व्यक्ति के भी होते हैं और जाति के भी । जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं ।"[5] वस्तुतः

संस्कृति का सम्बन्ध हमारे जीवन से है । जीवन के एक-एक क्रिया-कलाप से है । सांस्कृतिक धरोहर वास्तव में हमें विरासत से मिलती है और पीढ़ी-दर-पीढ़ी इसका विकास एवम् हस्तान्तरण होता रहता है । "यह देश सहस्त्राब्दियों से सभ्य रहा है । इसकी अपनी अजेय संस्कृति रही है ।"[6] इस सम्बन्ध में साहित्यिक विद्वान श्री जवरीमल्लपारख के विचार हमें समीचीन लगते हैं । श्री पारखजी के अनुसार - "संस्कृति मानव गतिविधि के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त है, और यह कहना सही भी है । संस्कृति कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे जीवन और जीवन से जुड़ी गतिविधियों से काटकर देखा जा सकता है । वह तो मनुष्य जीवन में प्रत्येक क्रिया-कलाप में समाहित है । मनुष्य का पहनना-ओढ़ना, खाना-पीना, रचना-सोचना, बोलना-लिखना, कौन-सा ऐसा कार्य है जिसमें संस्कृति अभिव्यक्त नहीं होती या जिससे संस्कृति का निर्माण नहीं होता । प्रतयेक जातीय समुदाय की अपनी लंबी सांस्कृतिक परम्परा होती है, उसी परम्परा से उसकी संस्कृति का विशिष्ट रूप बनता है ।"[7] कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि - "संस्कृति का स्वरूप अनेक मार्गों से, अनेक तरीकों से व्यक्त होता है।"[8] कहने की आवश्यकता नहीं कि - "संस्कृति का संबंध मानवीय अंतश्चेतना से है।"[9]

ध्यातव्य है कि संस्कृति का सरोकार हमारे आध्यात्मिक ज्ञान एवम् आध्यात्मिक जीवन से भी है । जीवन और जगत के बीच मानवीय मूल्य का निरन्तर जो विकास होता है वह हमारी सांस्कृतिक प्रगतिशीलता का द्योतक है । डॉ. एन. के देवराज कहते हैं कि - "मानवता के आध्यात्मिक जीवन की सर्जना अथवा इसमें भाग लेने को संस्कृति कह सकते हैं । यदि हम इसे एक उपलब्धि समझें तो यह मानव की निरन्तर विकसित होने वाली ऐतिहासिक वस्तु है । संस्कृति का विकास मानव के

आध्यात्मिक ज्ञान एवम् भावों के प्रगतिशील संशोधन के क्रमिक विकास में सन्निहित है।''[10] एक तरह से देखा जाय तो सांस्कृतिक-सूत्र मानव एवम् उनसे जुड़े मानवीय क्रिया-कलापों से पूर्णतया अभिसिंचित होते हैं । इसका सम्बन्ध मानव के रीति-रीवाज, धर्म यहाँ तक कि साहित्य एवम् समाज से भी होता है । इस सम्बन्ध में विद्वान श्री जवरीमल्लपारखजी कहते हैं कि - ''संस्कृति के वैविध्यमय और बहुआयामी रूपों के विकास क्रम को हम उन ज्ञानानुशासनों, कला रूपों और अभिव्यक्ति माध्यमों से समझ सकते हैं जिनके अलग-अलग विकास और अध्ययन की लंबी परम्पराएँ हैं । संगीत, चित्र, साहित्य, इतिहास, भाषा, वेश-भूषा, खान-पान, रीति-रिवाज, धार्मिक-सामाजिक-राजनीतिक संस्थाएँ, विचारधाराएँ, आदि इसी सांस्कृतिक विकास के ही अलग-अलग अभिव्यक्ति रूप हैं । संस्कृति के इस विशाल वट-वृक्ष का उसकी पूर्णता में समझना और अपने में आत्मसात करना ही कठिन है ।''[11]

उपर्युक्त समग्र विवेचन का सर्वेक्षण अगर हम करें तो हम पाते हैं कि हमारे सांस्कृतिक मूल्यों का सीधा-सीधा सम्बन्ध हमारे जातिगत संस्कार, परिष्कार, दर्शन, चिंतन, परम्परा, कला एवम् आध्यात्मिक मूल्यों से है । आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने इन मूल्यों के परिप्रेक्ष में समीक्षा का सांस्कृतिक आधार स्वीकार किया ।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की समीक्षा-दृष्टि का केन्द्रीय आधार सांस्कृतिक आधार भी माना जा सकता है । जैसा कि स्पष्ट हो चुका है कि संस्कृति का सम्बन्ध हमारी परम्परा से है । परम्परा अर्थात् वर्षों-वर्षों से, पीढ़ी-दर-पीढ़ी से आ रही हमारे जीवनोत्सव के संस्कारगत प्रचलन । मिश्रजी कहते हैं कि - ''किसी वस्तु के प्रति कोई भावना हमारे पूर्व पुरुषों की थी, आज वही भावना हमारी भी है । वह भावना हममें संस्कारगत हो गई है । वह वासनास्थित हो चुकी है । वह हमारी

संस्कृति के भीतर समा चुकी है । वह हमारे स्वभाव में बैठ गई है ।''[12] जिसका त्याग हम नहीं कर सकते । इसके दो कारण हमें प्रतीत होते हैं - एक तो यह कि अगर इसका सूत्र हम अपने देश से जोड़कर देखें तो यह कहा जा सकता है कि - ''भारत सदा से धर्मप्राण देश रहा है, और यहाँ की संस्कृति धर्म पर आधारित रही है ।''[13] वहीं दूसरा कारण यह भी है कि - ''मनुष्य जीवन के समस्त धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि कार्य-व्यवहार सदा से संस्कृति को प्रभावित और स्वरूप प्रदान करते आये हैं ।''[14] स्पष्ट होता है कि सांस्कृतिक आधार का सम्बन्ध संस्कृति से है जिसकी अवहेलना समीक्षा-दृष्टि में भी नहीं की जा सकती ।

भारतीय आर्य-भाषा की समीक्षा के दौरान मिश्रजी की दृष्टि इस बात पर गई जिसमें यह ''कहा जाता है कि भारतीय आर्य लोग समुद्र से परिचित नहीं थे, इसलिए इनकी भाषा में उन आर्यों की भाषा का एक शब्द, जो समुद्र से परिचित थे, नहीं मिलता ।''[15] मिश्रजी ने इसका उत्तर हमारे सांस्कृतिक विरासत के महत्वपूर्ण ग्रंथ 'ऋग्वेद' से उधृत करते हुए कहा कि - ''ऋग्वेद में भारतीय आर्यों के समुद्रज्ञान का उल्लेख है - 'वेद नाव समुद्रियः' वरुण समुद्र के देवता हैं । आज भी वरुण की पूजा जल देवता के रूप में भारतीय आर्यों में मिलती है । अँग्रेजी के मेरीन और लातीनी के मेयर से ध्वनिसाम्य रखने वाला -मीर' शब्द समुद्र के अर्थ में संस्कृत में मिलता है और लक्ष्मी का नाम 'मीरजा' भी ।''[16] इसी प्रकार आचार्य मिश्रजी ने भारत के पूर्वोत्तर प्रदेश असम के सांस्कृतिक सम्बन्ध चीनी-परिवार की भाषा से जोड़ते हुए कहा कि - ''चीनी परिवार की शाम-चीनी भाषा का सम्बन्ध असम से है ।''[17] वस्तुतः जब हम किसी तथ्य की समीक्षा सांस्कृतिक आधार पर करते हैं तो हमें उसका सम्बन्ध पूर्व सांस्कृतिक

परम्परा से जोड़ना अथवा दिखाना होता है । मिश्रजी ने भी चीनी परिवार की एक शाखा का सूत्र असम से होकर प्रवाहित होने वाले ब्रह्मपुत्र नदी से जोड़ते हुए कहा कि- "तिब्बत-ब्रह्मी वस्तुतः चीनी परिवार की एक शाखा है जिसका मूल यांगटीसीक्याँग की वेदिका है । ब्रह्मपुत्र की गति के अनुसार इसके तीन प्रवाह हो गए हैं - एक तिब्बत की ओर, दूसरा असम की ओर और तीसरा ब्रह्म देश की ओर उन्मुख है ।"[18]

'साहित्य' के सम्बन्ध में प्रचलित धारणा का खण्डन करते हुए ये कहते हैं कि वाङ्मय के दो रूप हैं एक 'ज्ञान-वाङ्मय' और दूसरा 'शक्ति-वाङ्मय' । "पहले का कार्य है उपदेश, शिक्षा या ज्ञान और दूसरे का संवेदन, आंतर-स्पंदन, तल्लीनता । वाङ्मय नौका हो तो पहला पतवार है और दूसरा डाँडा या पाल । पहले का लगाव तर्क या बुद्धि से और दूसरे का लगाव मन या हृदय से है ।"[19]

इन्होंने वीरकाव्य का परम्परा से सम्बन्ध जोड़ते हुए कहा है कि "त्यूतानियों के पूर्वज गानप्रिय और युद्ध प्रिय थे । वे वीरों की महिमा तथा कृति का यशोगान करते थे । युद्धजनित उमंगे, विजय की सफलता तथा किसी महारथी का वीरतापूर्वक युद्ध क्षेत्र में लड़ते-लड़ते मारा जाना उनके गान के विषय थे ।"[20] इन्हीं सोपानों से गुजरते हुए वीरकाव्य अस्तित्व में आया ।

इसी प्रकार 'रास' या 'रासक' शब्द की समीक्षा इन्होंने सांस्कृतिक आधार पर करते हुए कहा कि - 'रासो' शब्द का प्रचलन ब्रजभाषा में भी हो रहा है, जहाँ एक ओर यह काव्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है वहीं दूसरी ओर अन्य अर्थों में भी इसके प्रयोग देखे जा सकते हैं । मिश्रजी ने 'रासो की व्युत्पत्ति' के सन्दर्भ में 'रासो' शब्द के विभिन्न अर्थों में प्रयोग को उदाहरण देकर पुष्ट किया है जो इस प्रकार है -- "जैसे हमने चौदै के गदर को एक 'रासौ' जोड़्यो है - कल बहादूर सिंधजी की बैठक

में बंदर ने गदर कौ रासौ गायो है । फिर मैंने भरतपुर के राजा सूरजमल को रासौ गायो सो सब देखते ही रह गए - अजी ये कहा रासौ है ।''[21] यहाँ भी इन्होंने 'रास' या 'रासक' शब्द को सांस्कृतिक आधार से जोड़ते हुए इसे परम्परा सम्मत माना है । ये कहते हैं कि 'रासा' का अर्थ कथा, झगड़ा, विवाद आदि से है । वही 'रासक' शब्द का व्यवहार 'काव्य' के अर्थ में भी होता है । ये कहते हैं कि - ''रास शब्द चरित, इतिहास, वृतांत आदि का सूचक है।......... 'रासक' शब्द से 'रासा' की उत्पत्ति मानने वालों से भी मैं सहमत नहीं हूँ क्योंकि 'रासक' एक प्रकार के नाटक-दृश्यकाव्य - का नाम है ।''[22]

मिश्रजी का मानना है कि किसी भी देश का साहित्य उस देश की संस्कृति से संपृक्त रहता है । अगर ऐसा नहीं होता है तो वह साहित्य अधूरा माना जाएगा । यहाँ तक कि किसी एक देश के साहित्य में दूसरे देश की संस्कृति के दर्शन दुर्लभ होते हैं । इस आशय का उल्लेख इन्होंने अपने 'हिन्दी का सामयिक साहित्य नामक निबन्ध संग्रह में एक स्थान पर इस प्रकार किया है - ''लोकजीवन को लेकर चलने वाला साहित्य सबसे पहले संस्कृति को देखता है । यदि संस्कृति को छोड़कर किसी देश का साहित्य चलता हो तो वह नकली हो जाएगा । यदि अरबों के साहित्य में कोई भारतीयों की संस्कृति झलकाने लगे तो वह नकली या भ्रांत होगा । भारतीयों के साहित्य में यदि अँग्रेजों या अरबों की संस्कृति झलकाई जाय तो ठीक इसी प्रकार यह भी भूल या धोखा होगा ।''[23] क्योंकि हमारे देश की ''हिन्दू-सभ्यता-संस्कृति यहाँ की मूल एवं प्राचीन सभ्यता संस्कृति मानी गई है ।''[24] मिश्रजी यह भी कहते हैं कि साहित्य जहाँ एक ओर सामाजिक जीवन-धारा को संयमित और अनुशासित करती है वहीं यह सामाजिक जीवन-अवस्था अर्थात् लोकजीवन एवम् संस्कृति का भी ज्ञान

कराती है । इस आशय का विर्मश इन्होंने अपने निबंध में करते हुए कहा कि - *''साहित्य की सच्ची-धारा जिस प्रकार जीवन की सच्ची या मूल धारा से प्रेरित एवं उत्तेजित होती है उसी प्रकार यह जीवन-धारा के बहाव को बनाए रखने के लिए उसमें एकत्र होने वाले कूड़ा-करकट को, सड़ी-गली और बदबूदार चीजों को धारा के साथ बहा देने के लिए उसे तीव्र भी कर देती है ।''*[25]

इन्होंने राष्ट्रभाषा हिन्दी को सांस्कृतिक एकता का प्रतीक बताया । ये कहते हैं कि इस भाषा में सबको एक सूत्र में जोड़ने की अपूर्व शक्ति है, जो अन्य भाषाओं में नहीं है । इन्होंने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की इस अमूल्य उक्ति का उल्लेख करते हुए कहा है कि - *''भारतीय भाषाओं का मूल एक है फिर हिन्दी के विकास में उनका* सहयोग, उनका लदाव कभी बाधक न होगा । क्यों नहीं कह दिया जाता कि हिन्दी बंगला, मराठी, गुजराती, तमिल, तेलगू, कन्नड़, मलयालम आदि सभी भारतीय भाषाओं का विकास अपना विकास समझती है । बंगला का विकास हिन्दी का ही विकास है, तमिल का विकास हिन्दी का ही विकास है आदि-आदि । हिन्दी जिस सांस्कृतिक एकता का प्रतीक है, क्या उससे भिन्न किसी संस्कृति के संवर्धन में देशी भाषाएँ संलग्न हैं या हो सकती हैं । कदापि नहीं । भावुकता नहीं, तर्क की साक्षी से कहा जा सकता है । इसी से *भारतेंदु की उक्ति आज भी ज्यों की त्यों है* - निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल ।''[26]

यहाँ यह देखा जा सकता है कि संस्कृति का सम्बन्ध व्यक्ति विशेष की शिष्टता, सौजन्यता अथवा मानवता से जोड़ा गया है । मिश्रजी कहते हैं कि किसी वस्तु के प्रति जो भावना पूर्व पुरुषों की थी वही आज हमारी भी है । यह हमें संस्कारगत प्राप्त हुई है । जब हम किसी चीज की समीक्षा सांस्कृतिक आधार पर

करते हैं तो हमे उसका सम्बन्ध पूर्व सांस्कृतिक परम्परा से जोड़ना होता है । इन्होंने राष्ट्रभाषा हिन्दी को सांस्कृतिक एकता का प्रतीक बताया क्योंकि इस भाषा में सबको एक सूत्र में जोड़ने की अपूर्व शक्ति है ।

6. **ख. लोक परक आधार :**

कोश के अनुसार लोक का अर्थ "मनुष्यों का वर्ग या समूह, लोग The people or subjects, a collection, group, class, company"[27] आदि हैं । बृहत हिन्दी कोश में भी लोक का अर्थ "संसार, पृथ्वी, मानव जाति, समाज, सांसारिक व्यवहार"[28] आदि मिलते-जुलते अर्थ दिए हुए हैं । श्री माता प्रसाद त्रिपाठी ने अपने एक आलेख 'लोक संस्कृति का अर्थ' में 'लोक' को भारोपीय शब्द कहा है जो "प्रकाशपरक लुच् धातु से निष्पन्न हुआ है ।"[29] डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा परिभाषित 'लोक' का उल्लेख डॉ. कृष्णदेव शर्मा ने अपने पुस्तक 'लोक साहित्य' में इस प्रकार किया है - "लोक शब्द का अर्थ 'जनपद' या 'ग्राम्य' नहीं है बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं । ये लोग नगर में परिष्कृत, रुचि सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचिवाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं उनको उत्पन्न करते हैं ।"[30] वहीं डॉ. कृष्णदेव शर्मा जी 'फोक' (Folk) शब्द की उत्पत्ति एंग्लोसेक्सन शब्द FORE से माना है । इसका संकुचित अर्थ से असंस्कृत और मूढ़ समाज का बोध होता है तथा व्यापक अर्थ में इसका प्रयोग सुसंस्कृत राष्ट्र के सभी लोगों के लिए होता है । 'साहित्य-सन्देश' नामक पत्रिका में

डॉ. सत्येन्द्र लिखते हैं कि "लोक मनुष्य समाज का वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है ।"[31] यहाँ तक कि "सभ्यता के विकसित क्रम में लोक ने समय के दुष्चक्री स्वभाव का भी अवबोधन किया है ।"[32] लोक को मानव का वास्तविक इतिहास से सम्बोधित करने वाले रचनाकार विनोद शाही लिखते हैं कि "लोक हमारी सामाजिकता की गंगोत्री है, हमारी सभ्यता का प्रवेश द्वारा है । वह हमारे सभ्यता के विकास के समस्त इतिहास से कहीं अधिक बड़ा मानव यथार्थ का वास्तविक इतिहास है ।"[33] अतः कहा जा सकता है कि "जन जीवन का सच्चा साहित्य वास्तव में लोक साहित्य है ।"[34] वहीं जयप्रकाश भारतीजी इसके महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि - "लोक कथाओं और लोकोक्तियों में *जनता की युग-युग की अनुभूतियों का निचोड़ संचित रहता है । अतएव राष्ट्र के* सांस्कृतिक नवोत्थान में उनका बड़ा भारी महत्त्व है ।"[35] इसके अतिरिक्त "लोक कथाओं और लोक कथानकों का साहित्य साधारण जनता के अंतरतर की अनुभूतियों का प्रत्यक्ष दिग्दर्शन भी है ।"[36]

अचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'रामचरितमानस' को लोकमत प्रधान ग्रंथ माना है । इस आशय का उल्लेख इन्होंने 'गोंसाई तुलसीदास' में करते हुए कहा कि - "रामचरितमानस' लोकमत-प्रधान ग्रंथ है । जिसमें प्रायः सभी तत्कालीन सामाजिक मान्यताओं का समर्थन दिखाई देता है ।"[37]

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र मुख्य रूप से रसवादी समीक्षक हैं । अगर "मिश्रजी की समस्त समीक्षा-कृतियों को ध्यान में रखकर विचार किया जाय तो उनकी समीक्षा -पद्धति रस-दृष्टि की व्याप्ति की समस्त आधुनिक संभावनाओं को

समेटकर चली है - इतिहास, परंपरा शास्त्रीयता, जीवनी, लोक स्वीकृति, तुलना, मनोवैज्ञानिक विकास, केन्दीय विशेषता, आन्तरिक एवं बाह्य सौन्दर्य-निरूपण, भाषा-वैशिष्ट्य आदि ।''[38] यहाँ यह देखा जा सकता है कि मिश्रजी की समीक्षा दृष्टि के अन्तर्गत लोक-परक आधार भी एक कसौटी की भाँति साहित्य-समीक्षा का माप-दण्ड रही है । उन्होंने जीवन-धारा का सामंजस्य लोक-धारा से दिखाते हुए कहा कि -- ''जिस प्रकार की विचार-धारा भाव-धारा, व्यवहार-धारा समष्टि में से होकर बहती है वही जीवन-धारा है, वही लोक-धारा है । यदि व्यष्टि में ही समष्टि की इन धाराओं का प्रवाह लक्षित किया जाय तो वही व्यष्टि समष्टि के लिए प्रतीक बन जाती है । जीवन के भीतर समष्टि की ये धाराएँ जिस व्यापक एवं विस्तीर्ण क्षेत्र से होकर बहती हैं, उसी का नाम है लोक-जीवन ।''[39] मिश्रजी इस बात पर बल देते हैं कि लोक-जीवन को लेकर चलने वाला साहित्य ही वास्तव में साहित्य है नहीं तो वह नकली माना जाएगा । वे कहते हैं कि साहित्य की सच्ची धारा जीवन की मूल धारा से प्रेरित होती है । इसके अनुसार-- ''लोकजीवन की झाँकी के साथ-साथ संस्कृति की झाँकी कराना और बिगड़े हुए रूप को संवारने का संकेत देना, या लगे हुए मैल को पोंछ डालने का इंगित करना भी उसका काम होता है ।''[40]

सम्पूर्ण वाङ्मय के प्रत्येक क्षेत्र यथा कथा-कहानी, कविता, नाटक, उपन्यास आदि सभी लोक अथवा समाज अथवा जनता से किसी न किसी रूप में जुड़े होते हैं । मिश्रजी एक स्थान पर कहते हैं कि -- ''नाटक का सम्बन्ध जीवन से है, जनता से है ।''[41] वे स्वच्छंदतावादी को लोक-भूमि के एकदम निकट मानते हैं जबकि रहस्यवादी को उससे दूर समझते हैं । इस तथ्य का उल्लेख उन्होंने अपने निबन्ध की पुस्तक हिन्दी का सामयिक साहित्य में इस प्रकार किया है -- ''लोक-भूमि पर विश्वास

के साथ फिर से उतरने वाले शुद्ध स्वच्छंदतावादी ही दिखाई पड़े, शुद्ध रहस्यवादी नहीं।''[42] रहस्यवादी के अतिरिक्त इन्होंने उन कवि एवम् कविताओं को लोक की भाव-भूमि से परे माना है जो पाश्चात्य प्रभाव अथवा विदेशी प्रेरणा से प्रेरित अथवा भावित हैं । ये कहते हैं कि -- ''भारतीय परम्परा के कवि आशावादी तो थे ही, यदि कभी व्यक्तिवादी भी होते थे तो लोकबद्ध भावभूमि पर ही । पर विदेशी प्रेरणा से भावित कविता नैराश्यवादिनी थी, उसमें शुद्ध व्यक्तिवाद था, जिसका लोक से तो नहीं, हाँ कभी-कभी परलोक से गठबंधन अवश्य हो जाता था ।''[43] मिश्रजी ने यह भी माना है कि साहित्य पर स्वार्थ अथवा अहंभाव का प्रभाव नहीं पड़ना चाहिये तभी वह लोकोपयोगी बन सकता है, क्योंकि साहित्य का काम मन को सम रखने एवम् साम्य की ओर ले जाने को प्रवृत रहता है । एक स्थान पर इस आशय का उल्लेख करते हुए मिश्रजी कहते हैं कि ''जीवन के परस्पर विरोधी विधानों में स्वार्थ की वृत्ति को दबाने की मनःस्थिति उत्पन्न करके साहित्य विशेष लोकोपयोगी बन जाता है । स्वार्थ या अहंता का जब तक शमन न होगा, अहंभाव जब तक विश्वात्मा-भाव में लीन न होगा तब तक लोक का समुचित चालन भी नहीं हो सकता ।''[44]

रामधारी सिंह दिनकरजी ने अपने कुरुक्षेत्र नामक ग्रंथ में भीष्म-पितामह को लोकमत का पक्ष लेते हुए दिखाया है, जिसका उल्लेख मिश्रजी ने अपने निबन्ध संग्रह हिन्दी का सामयिक साहित्य के 'प्रबन्ध कविता कुरुक्षेत्र' में किया है। ये कहते हैं कि - ''भीष्म पितामह लोकमत के पक्ष से अनीति-विरोधी युद्ध का समर्थन करते हैं, उसे धर्म, पुण्य बतलाते हैं, युधिष्ठिर की जिज्ञासा का उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया -

तप्त होता क्षुद्र अंतर्व्योम पहले व्यक्ति का ।
और तब उठता धधक समुदाय का आकाश भी ।''[45]

मिश्रजी ने दिनकरजी के अन्य रचनाओं को भी अपनी समीक्षा-पद्धति की कसौटी पर कसते हुए कहा कि - ''द्वंद्वगीत, में व्यक्ति और लोक का तुल्य-बल से विधान है । 'रेणुका' और 'हुंकार' में लोक प्रधान है, रसवंती में व्यक्ति । 'द्वंद्वगीत में दोनों का ही निरूपण है । 'सुख दुःख, ऊँच-नीच, छोटा-बड़ा, स्वाधीनता, पराधीनता बंधमुक्ति आदि को युग्मक में रखकर देखा गया है और देखा गया है मानवता की कसौटी पर कसकर ।''[46] मिश्रजी ने यह स्पष्ट किया है कि वैसे ही कवियों की कविताएँ पाठक चाव से पढ़ते हैं जिसका सम्बन्ध लोक से होता है । ठीक उसी प्रकार वैसे ही वीरों के चरित्र पाठक चाव से पढ़ने को ललायित रहते हैं जिन्होंने लोक की पीड़ा को दूर करने का प्रयास किया । इस आशय का उल्लेख इन्होंने अपने एक निबन्ध 'वीरकाव्य-हल्दीघाटी' में इस प्रकार किया है - ''लोकरंजन या लोकदुःख के निवारक वीरों का ही काव्य में महत्त्व होने का एक कारण और है । जो अपने उत्साह की अभिव्यक्ति के लिए लड़ते रहे हैं, जिनके उत्साह का प्रेरक लोक-पीड़ा या लोकरंजन, नहीं रहा है उनके विषय में लिखी गई कविता का लोक में आदर कम होता है । जिस चाव से शिवाजी के चरित्र पढ़े जाते हैं उस चाव से साधारण नरेशों या राजाओं की लड़ाई के नहीं ।''[47]

इन्होंने बड़े ही साफ शब्दों में एक तरह से यह घोषणा ही कर दी है कि वैसे कवि जिनका लगाव अथवा जिनकी रचनाएँ प्रकृति से सामंजस्य नहीं रखती अथवा सामान्य लोगों की भाव-भूमि से परे होती है वे लोकसिद्ध हो ही नहीं सकते । इस तथ्य का उद्घाटन उन्होंने अपने एक निबन्ध 'हरिऔध जी की लोक दृष्टि' में इस प्रकार किया है - ''जो लोक से उदासीन होकर व्यक्तिसाधना करते हैं, या जो कविता द्वारा ऐसी साधना का प्रचार करना चाहते हैं जो लोक के प्रति उदासीन

हैं वे अलौकिक बातों का चाहे जितना बखान करें, देश को निकम्मा बना डालेंगे, पर जिनकी दृष्टि लोक पर है, जो उससे उदासीन नहीं हैं, जो कविता के द्वारा लोगों को सामान्य भूमि पर लाना चाहते हैं, जो प्राणी प्राणी के बीच, प्राणी और प्रकृति के बीच भरपूर अनुराग उत्पन्न करनेवाले हैं, वे ही लोकसिद्ध कवि सच्चे कवि हैं ।''[48]

अगर हम हिन्दी साहित्य के अन्य रचनाकारों की रचनाओं का अवलोकन करते हैं तो उनमें से कुछ ऐसे भी रचनाकार हमें मिलते हैं जिनकी रचनाएँ समस्त भारतीय जन-जीवन के साथ तादात्म्य स्थापित करती हैं । ऐसे रचनाकारों में प्रेमचंद आदि का नाम सम्मान के साथ लिया जा सकता है । प्रेमचंद की इस विशेषता का उल्लेख डॉ. संतराम 'अनिल' ने अपने निबन्ध 'प्रेमचंद की लोक चेतना' में कुछ इस प्रकार किया है - ''प्रेमचंद समस्त भारतीय जन-जीवन से तादात्म्य अनुभव करते थे । उन्होंने उसके हर पहलू को बहुत नजदीक से और बड़ी गहराई से देखा था । इसलिए उनकी रचनाओं में लोकचेतना की संवेदनशील, सशक्त और प्रामाणिक अभिव्यक्ति हुई हैं।''[49] यहाँ हम देखते हैं कि मिश्रजी की भाँति अन्य विद्वानों ने भी अपनी समीक्षा-पद्धति में लोक-दृष्टि को समीक्षा का मापदण्ड निर्धारित किया है । डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने भी लोक दृष्टि के आधार पर प्रेमचंद जैसे रचनाकार की समीक्षा की है जिसका उल्लेख डॉ. संतराम 'अनिल' ने अपने निबंध 'प्रेमचंद की लोकचेतना' में इस प्रकार किया है -- ''अगर आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाषा-भाव, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दुःख-सुख, सूझ-बूझ जानना चाहते हैं तो 'प्रेमचंद से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिलेगा । झोंपड़ियों से लेकर महलों तक, खोमचे वालों से लेकर बैंकरों तक, गाँव से लेकर धारासभाओं तक आपको इतने कौशलपूर्वक और सामाजिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता । आप बेखटके प्रेमचंद

का हाथ पकड़कर मेड़ों पर गाते हुए किसान को, अंतःपुर में भान किए प्रियतमा को, कोठे पर बैठी गर-वनिता को, रोटियों के लिए ललकते भिखमंगों को, कूट-परामर्श में गोयंदों को, ईर्ष्या-परायण प्रोफेसरों को, दुर्बल-हृदय नौकरों को, साहस-परायण चमारिन को, ढोंगी पंडितों को, फरेबी पटवारी को, नीचाशय अमीर को देख सकते हैं और निश्चिंत होकर विश्वास कर सकते हैं जो कुछ आपने देखा है वह गलत नहीं है । इससे अधिक सच्चाई से दिखा सकने वाले परिदर्शक को हिन्दु-उर्दू की दुनिया नहीं जानती ।''[50] हम यहाँ यह भी कह सकते हैं कि यह दृष्टि सिर्फ साहित्यिक ग्रंथ संपादकों अथवा रचनाकारों की ही नहीं बल्कि पत्रिका संपादकों में भी लोकदृष्टि के दर्शन होते हैं । प्रगतिशील लेखक संघ शिलांग के 'साहित्यवार्ता' के संपादक माधवेन्द्र अपने पत्रिका की संपादकीय में लिखते हैं कि -- ''साहित्य का जो 'लोक' पत्रिकाओं के माध्यम से विकसित होता है, उसमें अपने समय, समाज एवं जमीन के सच को कहने की छटपटाहट तो होती ही है, साथ ही 'वैयक्तिकता' से मुक्त होने का दबाव भी होता है।[51] वहीं रचनाकार वंशीधर त्रिपाठी ने लोक-दृष्टि का सूत्र परिवेश से जोड़ते हुए कहा है कि - ''लोक-दृष्टि संपूर्ण दुर्बलताओं से युक्त समान्य मानव की दृष्टि से परिवेश पर दृष्टिपात करती है ।''[52]

यह देखा गया है कि सहृदय रचनाकार की दृष्टि समाज पर अधिक होती है । वह समाज को केन्द्र में रखकर अपनी बात कहने का प्रयास करता है । मिश्रजी भी मानते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास की दृष्टि समाज पर अधिक रही । फलतः हम कह सकते हैं कि तुलसीदास की दृष्टि लोकवादी दृष्टि थी । एक स्थान पर मिश्रजी कहते हैं कि - ''हिन्दी के कवियों में तुलसीदास की दृष्टि समाज पर बहुत अधिक थी । दरबारदारी के युग में उन्होंने 'क्रांतिकारी' कार्य किए । समाज को

उद्‌बुद्ध करने में उन्होंने कुछ उठा नहीं रखा । समाज पर उनका सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है । साहित्य को उन्होंने उतना नहीं प्रभावित किया । भाषा पर ही उनका सबसे अधिक प्रभाव पड़ा उनके राम का जैसा स्वभाव था वैसा ही उनका । समाज के उस रूप पर उनकी सबसे अधिक दृष्टि थी जो क्लेश में पड़ा था ।

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन न भिन्न ।

बंदौं सीताराम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न ।।१८।।''[53]

मिश्रजी यह मानते हैं कि जिस समझ की बदौलत गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' लिखना आरम्भ किया, निश्चित रूप से वह उनकी लोकदृष्टि की उपज रही होगी । इनका मानना है कि -- ''लोकाराधन के व्रती उपास्य का उपासक लोकदृष्टि का त्याग कैसे कर सकता है । समाज में 'बुध' भी थे और 'अबुध' भी । कवि को दोनों का सामीप्य प्राप्त करना था । दोनों के निकट राम को पहुँचाना था । दोनों के हृदयों में उनके लोकाराधन-रूप की प्रतिष्ठा करनी थी । इसके लिए इन्होंने जितना परिश्रम किया, जितनी तपस्या की, जितनी बुद्धि लगाई, जितना हृदय निकालकर अपनी रचनावली में रखा, उन सबसे इनकी अलौकिक लोकदृष्टि का ही पता लगता है ।''[54] मिश्रजी ने तुलसीदास जी की उस लोक-दृष्टि का उल्लेख अपने ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य का अतीत भाग - I' में किया है जिसमें तुलसीदासजी की लोक दृष्टि समाज की व्याकुलता से व्यथित कवितावली के इस कबित में निदर्शित हुई है --

''किसबी किसान कुल बनिक भीखारी भाट चाकर चपल नट चोर चार चेटखी।

पेट को पढ़त गुन गढ़त गिरत गिरि अटत गहन बन अहन अखेटकी ।

ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि पेट ही को पचत बेचत बेटा बेटकी ।

तुलसी बुझाइ एक राम घनस्याम ही तें आगि बड़वागि ते बड़ी है अगि पेटकी।।''[55]

संभवतः तुलसीदास जी की लोकवादी दृष्टि के आधार पर ही मिश्रजी ने उनके 'रामचरितमानस' को लोकमत प्रधान ग्रंथ कहा है । इन्होंने यह साफ किया है कि काव्य का लोकजीवन से घनिष्ट सम्बन्ध होता है । वह ज्यादा दिनों तक सामाजिक जीवन की वास्तविकताओं से अलग नहीं रह सकता । इस आशय का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि -- "जब काव्य जीवन के वास्तविक पक्ष को छोड़कर बँधे-बँधाए कुछ विशिष्ट पक्षों को ही लेकर चलने लगता है तब आवश्यकता होती है कि वह सामान्य जीवन से फिर संलग्न हो ।"[56] मिश्रजी ने एक तरह से अपने 'हिन्दी साहित्य के अतीत भाग - 2' में घोषणा ही कर दी कि साहित्य धारा का अभिप्राय क्या होता है ? वास्तव में कौन सा साहित्य साहित्यिक कोटि में रखा जा सकता है ? उपरोक्त वक्तव्यों का समाधान हम उनके 'हिन्दी साहित्य का अतीत भाग - 2' 'अनुवचन' में ढूँढ सकते हैं । वे कहते हैं कि -- "साहित्य-धारा को कोई विचार-धारा तभी प्रभावित करती है जब उसमें साहित्य का लोक-रसामृत होता है, सहस्त्रदल की मधुमयी अमृत-धारा उसे अलोकसामान्य लगती है ।"[57]

भाषा के सम्बन्ध में भी इनका मानना है कि कुछ भाषा ऐसी होती हैं जिसका सम्बन्ध सिर्फ विद्वानों एवम् पण्डितों से होता है, जबकि कुछ भाषा लोक में प्रचलित होती हैं । अपने पुरोवचन में ये लिखते हैं कि -- "संस्कृत-प्राकृत छंदों के लिए पंडितों का मुँह ताकती थीं, अपभ्रंश ने लोक की ओर दृष्टि दौड़ाई ।"[58]

तथ्यों को केन्द्र में रखकर अगर हम मिश्रजी की लोकवादी दृष्टि का अवगाहन करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने वैसी रचनाओं को साहित्यिक रचना माना जिसमें लोकरस का अमृत घुला हो तथा वैसे रचनाकार को सहृदय रचनाकार अथवा लोकहितकारी माना "जो अपने समय की सम्पूर्ण परिस्थितियों का सम्यक्

अध्ययन कर समाज में व्याप्त घातक प्रचलित मान्यताओं का विरोध करता है और एक नवीन स्वस्थ लोक-जीवन का आदर्श प्रस्तुत कर समाज का सही मार्ग-दर्शन करता है, वह समाज में प्राचीन प्रचलित घातक मान्यताओं का सशक्त विरोध कर समय के अनुकूल नवीन, उचित और लोक-कल्याणकारी मान्यताओं का समर्थन करता है, उसके इस शुभ प्रयत्न में अपने युग के कल्याण के साथ युग-युगीन कल्याण की कामना निहित रहती है । इसलिए वह भविष्य को भी प्रभावित करने में समर्थ होता है।''[59]

6. **ग आध्यात्मिक आधार :**

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र एक धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे । भगवान काशी-विश्वनाथ की नगरी में प्रतिदिन गंगा सेवन इनकी दिनचार्या में था । प्रातः संकटाजी के दर्शन के पश्चात् ही ये दिन के बाकी कोर्यों में रुचि लेते थे । फलतः उनके अचार-व्यवहार आध्यात्मिक भावनाओं से शासित थीं । ये आध्यात्मिक भावनाएँ उनकी समीक्षा-दृष्टि में भी परिलक्षित होती हैं । अपनी संपादित पुस्तक 'गंगालहरी' में इन्होंने गंगा के प्रति अध्यात्मिक दृष्टि रखते हुए कहा कि - ''देवी-देवताओं की स्तुति में जिस प्रकार पंचक, अष्टक, शतक आदि लिखे जाते हैं उसी प्रकार गंगा की स्तुति में भी इस प्रकार के स्रोत्रों की रचना हुई । पर इसमें से दो-एक को छोड़कर प्रायः सभी शुद्ध धार्मिक दृष्टि से लिखे हुए हैं ।''[60] मिश्रजी की अध्यात्मिक दृष्टि और भी प्रखर हमें वहाँ नजर आती है जब वे ब्रह्मा के कल्पित तीनों रूपों का विवेचन करते हैं साथ ही जगत के जड़ और चेतन में ब्रह्म-रूप की ही कल्पना करते हैं । यहाँ तक कि गंगा को ब्रह्मदेव अर्थात् ब्रह्मस्वरूप सूर्य की भाँति प्रत्यक्ष देवता कहते हैं । इस आशय का उल्लेख इन्होंने इस प्रकार किया है - ''ब्रह्म के तीन प्रकार के रूप कल्पित किए

गए हैं- निराकार, नीराकार और नराकार । निराकार ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म होता है, पर शेष दोनों रूप सगुण ब्रह्म के हैं । जगत् में जो चित् और अचित् या जड़ और चेतन है उनमें से जल (जड़) रूप और नर (चेतन) रूप में बह्म की कल्पना की गई है । चेतन रूप में मत्स्य से लेकर राम तक के अवतारों में विकास है - एक ही चेतन तत्त्व के रूप का । राम के रूप में उस चेतन सत्ता का चरम विकास है । ब्रह्म ही जब द्रव होकर नीराकार हो गया तब वह गंगा के रूप में ब्रह्म द्रव कहलाया । गंगा का ब्रह्मद्रव नाम नीराकार ब्रह्मस्वरूप का प्रमाण है । ब्रह्मद्रव की कथाएँ पुराणों में भिन्न-भिन्न हैं । गंगा त्रिपथगा है । स्वर्ग, मर्त्य और पाताल तीनों लोकों में प्रवाहित हैं । स्वर्ग में इनका नाम मंदाकिनी, मर्त्य में भागीरथी और पाताल में भोगावती है । गंगा सूर्य की भाँति प्रत्यक्ष देवता हैं ।''[61] मिश्रजी ने उन साहित्यिक महात्माओं की उक्तियों को आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचित किया है जिन्होंने गंगा के सम्बन्ध में पौराणिक धारणा को केन्द्र में रखकर गंगा की महत्ता को स्थापित करने का प्रयास किया है । उनमें रत्नाकर, रहीम, रसखान, पद्माकर आदि हैं । ये लिखते हैं कि -- ''पारम्परिक पौराणिक धारणा को लेकर पद्माकर ने कई उक्तियाँ मार्मिकतापूर्वक कही हैं । रत्नाकर ने भी इसके आधार पर कुछ उक्तियाँ बाँधी हैं । रहीम और रसखानि ने भी गंगा के माहात्म्य पर उक्तियाँ बाँधी हैं । 'भाँग धतूरो चबात फिरै विष खात फिरै सिव तेरे भरोसे' रसखानि ने कहा और रहीम ने तो संस्कृत और हिन्दी दोनों में भावभरी उक्ति कही --

अच्युतचरणतरंगिणी शशिशेखर मौलिमालती माले गंगे ।
मम तनु वितरण समये हरता देया न मे हरिता ।।''[62]

गंगा के अध्यात्मिक महत्व की चर्चा मिश्रजी करते हैं तथा बताते हैं कि 'गंगा' शब्द का नामोच्चारण करने मात्र से ही पापियों के पाप छू मन्तर हो जाते हैं। विभिन्न स्वर्गीय लोकों की चर्चा करते हुये ये कहते हैं कि -- "गंगा ने सृष्टि का क्रम ही बदल दिया है । उधर एक नई स्थिति स्वर्ग आदि लोकों के कार्य-कत्ताओं की हो गई है । गंगा के कारण जो तरते हैं, उन्हें इतना अधिक पुण्यात्मा माना जाता है कि सभी दिव्यलोकों के देवता यही चाहते हैं कि मेरे लोक में यह व्यक्ति आकर निवास करे । अब उसे अपने लोक में ले जाने के लिए होड़ लग जाती है । जो अवसर पाता है उसे अपने लोक में उड़ा ले जाता है दूसरे पश्चाताप करते रह जाते हैं। ब्रह्मलोक ले लाने के लिए हंस, विष्णुलोक ले जाने के लिए गरुड़ और शिवलोक ले जाने के लिए वृषभ दौड़े चले आते हैं ।"[63]

मिश्रजी ने अपने संपादकीय पुस्तक गंगालहरी में इस बात का भी जिक्र किया है कि गंगा के आध्यात्मिक माहात्म्य में गंगा के प्रति लोगों की असीम श्रद्धा देखी जाती रही है । अतः गंगा के जल को पैरों से स्पर्श करना एक तरह से लोगों के मन-मस्तिष्क में एक तरह का अपराध ही माना जा रहा है । वे यह भी कहते हैं कि पवित्र गंगा के पुण्य-प्रताप से पुण्यात्मा को विष्णु, शिव आदि का रूप भी मिल जाता है अर्थात् पुण्यात्मा विष्णुमय अथवा शिवमय हो जाता है । यहाँ भी इन्होंने स्पष्ट किया है कि पुण्यात्मा शिवमय ही होना ज्यादा चाहती है । इसका कारण मिश्रजी बताते हैं कि- "रहिमन जिस प्रकार यह प्रार्थना करते हैं कि विष्णु मुझे मत बनाना, शिव ही बनाना, उसी प्रकार यहाँ भी तरने वालों को शिव बनने की इच्छा होती है । शिव बनने से गंगा को कोई शिर पर धारण करेगा इससे उनके प्रति संमान का भाव बना रहेगा । पर विष्णु बनने से पैरों से स्पर्श करने में वह बात नहीं रहेगी । यह भी कल्पना की गई है

कि विष्णु आदि बनाने के बदले गंगा शिव ही अधिक बनाती हैं । कारण प्रत्यक्ष है। दिगंबर शिव ने गंगा को सिर पर धारण किया इसीसे गंगा की उनके प्रति ममत्व की दृष्टि सबसे अधिक है ।''[64]

मिश्रजी की आध्यात्मिक दृष्टि उनके धर्मोपासना के सम्बन्ध में दिए गये वक्तव्य से भी स्पष्ट होती है, जहाँ इन्होंने अपने काशीवास से लेकर शैव, वैष्णव, शाक्त से सम्बन्धित अपने धार्मिक विकास का क्रमबद्ध विवेचन किया है । वे कहते हैं कि - ''मुक्ति जन्ममहि' मेरी भी 'जन्ममहि' है 'जहाँ बस संभु भवानि' वहाँ मैं भी बसा और वंश परम्परा से शाक्त, वर्त्तमान पारिवारिक धर्मधारा से वैष्णव और काशीसेवन से शैव भी हो गया । गाणपति का पूजन बुद्ध और चतुर्थी को करके तथा रविवार को व्रत तथा अर्ध्यदान से गणपत्य और सौर भी कहा जा सकता हूँ । इस प्रकार पंचदेवोपासक होकर भी मेरे व्यक्तिगत जीवन का जो धार्मिक विकास हुआ उससे मैं रामोपासक ही माना जा सकता हूँ । रामोपासना में किसी की उपासना का विरोध नहीं है । कम से कम गोसाईं तुलसीदास ने जिस रामोपासना का प्रचार-प्रसार करने का सदुद्योग किया वह अन्य देवोपासना की विरोधिनी नहीं है । अन्य देवों की उपासना भी राम को ही पहुँचती है ।''[65]

वहीं हनुमत्पूजा के प्रचार-प्रसार एवम् देश के विभिन्न भागों प्रांतो, यहाँ तक कि गाँव-गाँव में 'प्रभुहनुमान जी' के मंदिर तथा प्रत्येक सप्ताह में एक दिन या दो दिन विशेषतया मंगलवार एवम् शनिवार को रामचरितमानस का परायण अथवा पाठ की परम्परा का जिक्र इन्होंने अपने ग्रंथ गोसाईं तुलसीदास में किया है । ये कहते हैं कि-- ''मारुतिपूजा का प्रसार गुरु रामदास ने महात्मा तुलसीदास की उत्तरापथ में प्रसारित हनुमत्पूजा के आदर्श पर किया था, यह कहने की आवश्यकता नहीं । मध्यभारत

उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश क्या, सारे उत्तरापथ में हनुमत्पूजा का प्रसार रामदास तुलसी का प्रयत्न है । विशेषतया हिन्दी प्रांत के गाँव-गाँव में हनुमन्मूर्ति की स्थापना, उसके सामने मानस का परायण (प्रायः मंगल या शनि को) तत्संलग्न अखाड़े आदि अपना इतिहास छिपाए देश के शारीरिक और मानसिक उत्थान में सांस्कृतिक रीति से अब भी योग दे रहे हैं ।''[66] यहाँ तक कि इन्होंने तुलसीदास के रामचरितमानस एवम् रामलीला को राष्ट्र के सामाजिक, साहित्यिक एवम् राष्ट्रीय आन्दोलन में मील का पत्थर माना है । ये कहते हैं कि ''उसने विछिन्न जीवन को जोड़ दिया है । उसने यह विश्वास जगाया कि अत्याचार का अंत होगा ।''[67] ये आगे कहते हैं कि - ''जनता ने सीता के रूप में स्वातंत्र्य के अवतारों को किस प्रकार देखा है यह असहयोग-आंदोलन के समय प्रकाशित काव्यकृतियों और चित्रों में सुरक्षित है ।''[68]

मिश्रजी कहते हैं कि तुलसीदासजी का यह दृढ़ विश्वास था कि भगवान राम का जन्म जगत के कल्याण के लिए ही हुआ । ये एक स्थान पर लिखते हैं कि -

''रामजनमु जग मंगल हेतु । २/२५३/३

औरों का जन्म जग के मंगल के लिए भी हो सकता है और अमंगल के लिए भी, पर राम का जन्म केवल मंगल के लिए होता है ।''[69]

मिश्रजी की आध्यात्मिक दृष्टि हमें वहाँ भी दृष्टिगोचर होती है जहाँ ये कहते हैं कि साहित्य की आराधना से व्यक्ति अभयवत जीवनन्मुक्त हो सकता है यहाँ तक कि मरी हुई वृत्तियों को जिला सकता है, बलशाली से भी टकराने की हिम्मत कर सकता है तथा विपरीत मानसिकता वाले राक्षसीवृति के मानव को देवतुल्य बना सकता है । ''साहित्य में मन रमकर जगत्-प्रपंच से मुक्त हो जाता है । मन का

विकार दूर करने के लिए जो साधनाएँ योगी किया करती हैं वे इससे आपसे-आप हो जाती हैं । केवल ज्ञान से क्या हो सकता है । साहित्य अनुभूति के द्वारा उस ज्ञान को सार्थक कर सकता है । अहंकार का त्याग इसका प्रथम लक्षण है । राजनीति केवल रजोगुण की साधना सिखलाती है, सात्विक भाव का उद्रेक साहित्य से ही हो सकता है। सत्वोद्रेक के अनंतर क्या 'चिन्मय' स्थित होती है इसे अभिनवगुप्त मम्मट, पंडितराज बहुत पहले बतला गए हैं । आधुनिक क्रोचे, बैडले, रिचर्ड्स से पूछने पर भी यही उत्तर मिलेगा । जगत् के कल्याण का मार्ग अब साहित्य ही खोज सकेगा। पिछले युग में उसने जो कुछ किया उसे सभी जानते हैं और नीति, नियम, स्वार्थ आदि की वृद्धि से तथा साहित्य के त्याग से क्या हुआ इसे प्रत्यक्ष देख सकते हैं । कहाँ तो अब्दुर्रहीम खानखाना, जो रसखानि के समान भक्त भी नहीं हुए थे, ऐसे-ऐसे वचन कह गए हैं --

अच्युत-चरण-तरंगिनी सिव-सिर-मालति-माल ।

हरि न बनायौ सुरसरी कीन्यौ इंदवभाव ।।''[70]

मीराबाई की साधना और अभिव्यक्ति के विवेचन में भी हम मिश्रजी की आध्यात्मिक दृष्टि की ऊँचाई को देख सकते हैं जहाँ इन्होंने मीराबाई की साधना को अंतर्वृति प्रधान अलौकिक प्रेम की संज्ञा दी है । ये कहते हैं कि मीराबाई ने 'गिरधर गोपाल' से अपना जन्म-जन्मांतर का सम्बन्ध माना है जिसमें अनुभूति की तीव्रता के साथ गंभीरता और गरिमा भी है साथ ही लौकिक प्रेम के अभाव के परिणामस्वरूप ही अलौकिक प्रेम की ओर मीराबाई का हृदय उन्मुख हुआ । ऐसा इनका मानना है । ये कहते हैं कि -- ''अलौकिक के प्रति राग होने से ऐहिक जीवन के प्रति विराग होना

स्वाभाविक है । सूफियों की भाँति मीरा इस जगत में अपने प्रिय के ऐश्वर्य-वैभव को छाया हुआ नहीं देखतीं । यही कारण है कि उनकी रचना अंतर्वृतिप्रधान है, बहिर्वृत्त का उसमें अभाव है । प्रकृति की विभूति में उन्हें आकर्षण नहीं दिखाई देता, अतः उनकी रचना में प्रकृति न तो आलंबन के रूप में दिखाई देती है और न उद्दीपन के रूप में । वे विरक्त भक्तों की भाँति भवसागर को दुःखपूर्ण या विकार सागर मानती हैं--

यौ संसार बिकार सागर बीच में घेरी ।

नाव फाटी प्रभु पाल बाँधै बूड़त है बेरी ।।''[71]

मिश्रजी ने अपने साहित्येतिहास ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य का अतीत प्रथम भाग' में विश्वकवि तुलसीदास के विचारों का विवेचन बड़े ही गंभीरता के साथ किया है जहाँ इनकी आध्यात्मिक दृष्टि झलकती है । ये कहते हैं रामभक्ति में प्रवृत्ति और निवृत्ति अर्थात् घर और वन दोनों का समन्वय है । ''जैसे संसार में अन्न-जल सबके लिए अनिवार्य है वैसे ही भक्ति भी अनिवार्य है । अन्य पदार्थों की अपेक्षा सामाजिक नीति के अनुसार अन्न-जल सस्ता होना चाहिए, जिससे गरीब से गरीब उसे प्राप्त कर सके । यही भक्ति के सम्बन्ध में तुलसीदास की मान्यता है । भक्ति ऐसी सहँगी अर्थात् सरल होनी चाहिए कि उसे कनिष्ठ साधक भी सरलता से जीवन में उतार ले ।''[72]

इन्होंने महात्मा बुद्ध की पूजा के बारे में कहा है कि ऐसी मान्यता प्रचलित है कि भगवान जगन्नाथ की पूजा बुद्ध की पूजा का परिवर्तित रूप है । साथ-साथ इन्होंने भगवान बुद्ध के देन एवम् बताए गये मध्यम मार्ग को भी विवेचित करते हुए कहा कि -- ''महात्मा बुद्ध की, सबसे बड़ी देन है मध्यमा प्रतिपदा अर्थात् मध्यम मार्ग, अत्यंत सुख, और अत्यन्त दुःख के मध्य में सुख-दुःखात्मक मार्ग का अवलंबन ।''[73] आशय यह कि जीवन के निर्वाह में प्रवृति एवम् निवृति दोनों के कुछ अंश होने चाहिए ।

हम यहाँ देख सकते हैं कि आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी की आध्यात्मिक दृष्टि जहाँ महात्मा बुद्ध के मध्यम मार्ग को स्वीकारती है वहीं विश्वकवि तुलसीदास के सरल भक्ति की वकालत करती हुई दिखती है । मीराबाई के अलौकिक प्रेम के प्रति झुकाव का हेतु इन्होंने लौकिक प्रेम का अभाव माना, वहीं सृष्टि शिवमय होकर पवित्र गंगा के प्रति किसी भी प्रकार के अपराध से बचने की प्रवृत्ति का भी उल्लेख इनकी दृष्टि की गहराई का सूचक है ।

ये यह भी कहते हैं कि मुक्ति जन्ममाहि मेरी भी जन्ममहि है जहाँ बस संभु भवानि वहाँ मैं भी बसा और वंश परम्परा से शाक्त, वर्त्तमान परिवारिक धर्म-धारा से वैष्णव और काशी सेवन से शैव हो गया । इनके अनुसार औरों का जन्म जग के मंगल के लिए भी हो सकता है और अमंगल के लिए भी पर श्रीराम का जन्म मंगल के लिए ही होता है ।

6. **घ काव्यशास्त्रीय आधार :**

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने अपने जिन विचारों का उल्लेख किया है वे काव्यशास्त्रीय परिधि से बाहर नहीं जाते । खास तौर से समीक्षा के क्षेत्र में काव्यशास्त्रीय आधार प्रमुख आधारों में से एक रहा है । काव्यशास्त्रीय समीक्षा में उनकी दृष्टि भावानुभूति, शब्द-अर्थ, अलंकार, रसानुभूति, काव्यानुभूति, काव्य और सौन्दर्य आदि काव्यशास्त्रीय सोपानों पर गई और इन्होंने इन बिन्दुओं पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया है ।

मिश्रजी कहते हैं कि - ''रसमीमांसा में भारतीय आचार्यों ने 'अर्थ' का बोध्य केवल 'वस्तु' को, न मानकर 'भाव' को माना है ।''[74] इस सम्बन्ध में इनका मानना है कि साहित्य की रस प्रक्रिया में शब्द, अर्थ और भाव तीनों का महत्व है ।

इसका उल्लेख इन्होंने अपने ग्रंथ वाङ्मय विमर्श में इस प्रकार किया है । इनके अनुसार - "शास्त्रीय शब्दों में वस्तुव्यंजना के स्थान पर भाव-व्यंजना का महत्व स्वीकार किया है । भाव-व्यंजना से ही रस संभव है । वस्तु-व्यंजना रह सकती है, पर साहित्य की, रस की प्रक्रिया में 'भाव' उसका चरम लक्ष्य है । इस प्रकार इसके लिए शब्द, अर्थ और भाव तीनों का महत्व है ।"[75] इन्होंने शब्द, अर्थ एवम् भाव का सम्बन्ध बताते हुए कहा कि शब्द का सम्बन्ध कर्त्ता से, भाव का ग्राहक से एवम् अर्थ का वर्ण्य से होता है । इन तीनों का वृत इन्होंने इस प्रकार दिखया है --

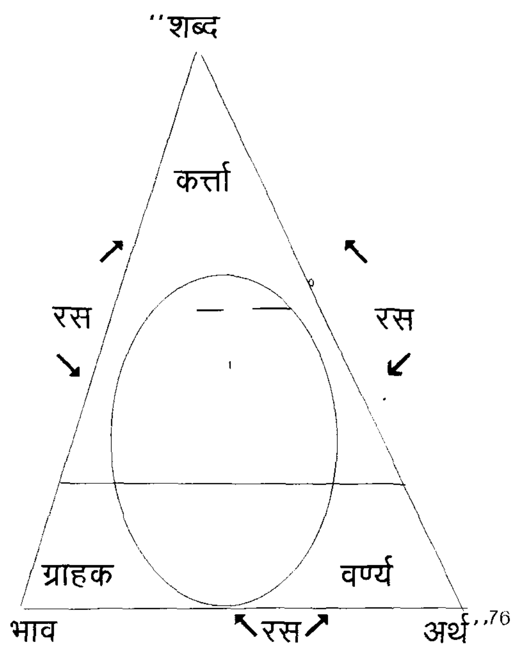

मिश्रजी एक स्थान पर लिखते हैं कि - "भरतमुनि ने तो रस को अलौकिक नहीं कहा, पर आगे चलकर रसानुभूति अलौकिक कही गई ।"[77] रसानुभूति को अलौकिक कहने के पीछे मिश्रजी का यही मानना है कि काव्य के प्रसंग चाहे जो भी हों सुखात्मक हों या फिर दुःखात्मक, दोनों ही स्थितियों में मन लीन रहता है, रमा रहता है । वस्तुतः "रसात्मक अनुभूति में प्रत्यक्षानुभूति की भाँति मन की सुखात्मक

दु:खात्मक दो प्रकार की स्थिति नहीं रहती ।''[78] ये मानते हैं कि रसास्वाद में हमेशा अनुकूल संवेदन रहता है । यहाँ तक कि ''रसानुभव से चित्तवृत्ति आर्द होती है । भावनाएँ सूक्ष्माति सूक्ष्म और प्रखर होती हैं ।''[79] अगर ऐसा न रहता अथवा न होता तो करुण प्रसंग पढ़ने में मन प्रवृत न रहती । ये यहाँ तक कहते हैं कि - ''यदि कोई कहे कि फिर आँसू ऐसे प्रसंग में क्यों आते हैं तो इसका उत्तर यह दिया गया कि आँसू करुणा दु:ख या विषाद में ही नहीं आते, आनंद में भी आते हैं, रसानुभूति के कारण चित्तद्रुति से आते हैं। इस प्रकार यह रसानुभूति लोक की सामान्य सुखदु:खात्मक अनुभूति से विलक्षण है। अतः अलौकिक है ।''[80]

मिश्रजी इस बात का भी खण्डन करते हैं जिसमें कुछ विद्वानों का यह मानना है कि - ''काव्य में न तो वस्तु का महत्व है और न भावों का ।''[81] इस सम्बन्ध में मिश्रजी मानते हैं कि संभवतः काव्य क्षेत्र से भावों को अलग कर के देखने के पीछे यही भावना हो सकती है कि - ''भावों की अनुभूति सुखात्मक और दु:खात्मक होती है, किन्तु काव्यानुभूति केवल सुखात्मक अथवा आनंद स्वरूप ही हो सकती है । यदि काव्य में भावों का भी योग होता तो काव्यानुभूति भी दो प्रकार की होती । जब यह अनुभूति एक ही प्रकार की होती है तब निश्चित है कि इसमें भावों का योग नहीं है।''[82] आगे ये कहते हैं कि काव्यानुभूति एवम् भावानुभूति में कोई अन्तर नहीं है । जिस प्रकार प्रत्यक्षानुभूति अथवा भावानुभूति सुखात्मक या दु:खात्मक होती है उसी प्रकार काव्यानुभूति भी । अन्तर सिर्फ काव्यानुभूति में विशेषत्व का त्याग करने में है । मिश्रजी कहते हैं कि जहाँ काव्य का रचियता विशेषत्व का त्याग करता है वहीं रस लेने वाला पाठक भी जिससे कवि एवम् पाठक का तादात्म्य स्थापित होता है । अन्त में *ये कहते हैं कि -- ''स्वसंबन्ध का परित्याग होने के कारण प्रवृत्ति और निवृत्ति की*

स्थितियाँ उत्पन्न नहीं होतीं । मन अपनी स्वच्छंद क्रिया में संलग्न रहता है । वह मुक्तावस्था प्राप्त कर लेता है । इससे स्पष्ट है कि प्रातिभ ज्ञान के आधार पर भावों का काव्य के क्षेत्र से बहिष्कार उचित नहीं ।''[83]

एक स्थान पर मिश्रजी ने अपने समीक्षात्मक विचार 'सौन्दर्य' के सम्बन्ध में भी व्यक्त किए हैं जिसमें यह कहा जाता है कि -- ''अधिकतर सौन्दर्य व्यक्तिगत माना जाता है, लोकगत नहीं ।''[84] जबकि मिश्रजी सौन्दर्य को 'व्यक्तिगत' न मानकर 'लोकगत' मानते हैं । इस सम्बन्ध में वे कहते हैं कि लोक में रुचि की भिन्नता होते हुए भी एकता अवश्य है । यदि ऐसा न होता तो संसार चल ही नहीं सकता । कुछ उदाहरणों के माध्यम से वे अपनी बात इस प्रकार सिद्ध करने का प्रयास करते हैं । उनके अनुसार अगर ''किसी वृक्ष के कुछ पत्तों को ही सामने रखकर देखें तो उन पत्तों में भिन्नता अवश्य दिखाई देती है । एक पत्ता दूसरे पत्ते से एकदम मिलता हुआ नहीं जान पड़ता । फिर भी उनके रूप और रंग में एकता वर्तमान रहती है । सृष्टि में दिखाई देनेवाले विभिन्न वर्गों के प्राणियों, लता-वीरुध आदि में सर्वत्र भिन्नता में यही अभिन्नता या एकता दृष्टिगोचर होती है ।''[85] वहीं मनुष्य की मानसिक स्थितियों पर भी प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं कि लगभग सभी सामान्य मनुष्यों की मानसिक स्थिति एक सी होती है जैसे अपने बच्चों को प्यार करना, जो कष्ट पहुँचाता हो उस पर क्रोध करना, साहस दिखाना, आश्चर्य करना, हँसना आदि मानसिक स्थितियाँ विश्व के सारे मनुष्यों में दिखाई पड़ती हैं । यहाँ तक कि अलग-अलग देशों के रचनाओं को विभिन्न देशों के पाठकों द्वारा प्रशंसा किया जाना भी इस बात का प्रमाण है कि - ''जनता में सौन्दर्य का कोई सामान्य आधार है । ठीक यही स्थिति काव्य में भी है । टेढ़े मुँह के व्यक्ति को यदि कोई कवि प्रेम का आलंबन बनाना चाहे तो वह सफल नहीं हो सकता।

सौन्दर्य कोई व्यक्तिगत मानसिक स्थिति नहीं है । यदि कुछ दूर तक वह लोक में व्यक्तिगत रूप में दिखाई भी दे तो भी काव्य में उसका व्यक्तिगत रूप उपयोगी नहीं सिद्ध हो सकता ।''[86]

इसी प्रकार इन्होंने पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र में काव्य के किए गए दो भेद - एक बाह्यार्थनिरूपक और दूसरा स्वानुभूतिनिदर्शक, के सम्बन्ध में काव्यशास्त्रीय आधार पर विचार करते हुए कहा कि पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र में काव्य के जिन दो भेदों पर विचार किया है वह बहुत ही स्थूल दृष्टि से किया गया है, जिसमें यह कहा गया है कि -- ''पहले प्रकार की रचना में कवि अपनी सत्ता पृथक किए रहता है । जिस रूप में वह बाह्य जगत् का निरीक्षण करता है उसी रूप में उसे ज्यों का त्यों व्यक्त कर देता है । दूसरे प्रकार की रचना में उसका व्यक्तित्व विशेष रूप से लक्षित होता है ।''[87] काव्य के पहले प्रकार के भेद बाह्यार्थनिरूपक (आबजेक्टि) के सम्बन्ध में मिश्रजी कहते हैं कि ऐसा सिर्फ नहीं होता है कि कवि जिस रूप में जगत् का निरीक्षण करता है वही रूप काव्यबद्ध भी होता है बल्कि जब कवि बाह्यजगत के रूप को काव्यबद्ध करता है तो - ''यह निश्चित है कि उस रचना के साथ उसकी अंतःसत्ता भी चिपकी हुई है । यदि ऐसा न हो तो एक ही विषय को लेकर रचना करनेवाले भिन्न-भिन्न कवियों की रचनाओं में किसी प्रकार का भेद ही न लक्षित हो । किन्तु ध्यान देने से स्पष्ट लक्षित होता है कि एक ही विषय पर भिन्न-भिन्न कवियों की रचनाओं में केवल पदावली का ही स्थूल अन्तर नहीं होता, प्रत्युत विषय के निरूपण और निरीक्षण का भी पार्थक्य दिखाई देता है ।''[88] इसी प्रकार की समीक्षात्मक दृष्टि हम काव्य के दूसरे प्रकार के भेद स्वानुभूतिनिदर्शक (सब्जेक्टिव) के सम्बन्ध में भी मिश्रजी के विचार को देख सकते हैं जिसमें वे कहते हैं कि -- ''यदि कोई कवि अपनी ऐसी अनुभूति

काव्य में व्यंजित करता है जिसका न बाह्य जगत् से कोई सम्बन्ध है और न इतर व्यक्तियों की अनुभूति से तो ऐसा विलक्षण काव्य समाज के किसी काम का नहीं हो सकता । इसलिए इस दूसरे वर्ग के अन्तर्गत जितनी रचनाएँ रखी जाती हैं उनमें बाह्यार्थ के साथ ही व्यक्तिगत अनुभूति का मेल दिखाई देता है, उससे एकदम स्वच्छंद अनुभूति का नहीं ।''[89]

आलोचना के रूप को मिश्रजी ने भी व्याख्यायित और विश्लेषित किया है । वस्तुतः ''आलोचना का काम है कि वह सामाजिक व्यवस्था के साथ साहित्य के अंतःसंबंधों की बोधगम्य व्याख्या करे ।''[90] आलोचक एवम् रचनाकार के संबंधों को दर्शाते हुए आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री कहते हैं कि ''आलोचक को रचनाकार का अंतरंग होना चाहिए और रचना के आधार पर ही आलोचना के मानदण्ड स्थापित करना चाहिए ।''[91] विद्वानों ने तो आलोचना को पब्लिक डिस्कोर्स कहा है और वे यह भी मानते हैं कि ''यह वाद-विवाद नहीं संवाद है ।''[92] पर शर्त यह है कि विद्वान आलोचक ''युग की गत्यात्मक चेतना को ठीक ढंग से पहचाने ।''[93] यहाँ हम देखते हैं कि मिश्रजी ने आलोचना के तीन रूप बताये - ''निर्णयात्मक, तुलनात्मक और विश्लेषणात्मक ।''[94] एक अन्य प्रकार की परिचयात्मक आलोचना का भी नाम ये लेते हैं, पर स्वरूप के विचार से उसका अन्तर्भाव निर्णयात्मक आलोचना में ही मानते हैं । निर्णयात्मक आलोचना के सम्बन्ध में ये लिखते हैं कि -- ''निर्णयात्मक आलोचना वह है जो किसी कवि या लेखक की रचना का विवरण देकर यह भी निर्णय करे कि वह उत्तम, मध्यम और अधम में से किस श्रेणी में है ।''[95] इस कोटि के माध्यम से रचयिता का ठीक-ठीक रूप व्यक्त नहीं हो पाता है । वहीं तुलनात्मक आलोचना के सम्बन्ध में

ये कहते हैं कि कुछ दूर तक तो यह ठीक है "पर अधिक आगे बढ़ने पर वह भिन्न-भिन्न कवियों की विशेषता का निरूपण करने के बदले उनकी समता या विषमता दिखलाकर ही संतोष कर लेती है। यह कैसे कहा जा सकता है कि दो व्यक्तियों के साम्य और वैषम्य से उनकी विशेषताओं का पूर्णतया पृथक-पृथक उद्‌घाटन हो ही जाएगा ।"[96] अतः ये कहते हैं कि विश्लेषणात्मक आलोचना ही ऐसी आलोचना है जो- "रचयिता की भिन्न-भिन्न विशेषताओं का सूक्ष्मतापूर्वक उल्लेख करता है । निरपेक्ष बुद्धि से वह जिस प्रकार उसके गुणों का संधान करता है उसी प्रकार दोषों का भी । ऐसी आलोचना लिखने में पांडित्य और सहृदयता दोनों अपेक्षित हैं । अपने पांडित्य अर्थात् बुद्धिमत्ता द्वारा आलोचक मार्ग निकालता है तथा सहृदयता द्वारा गहराई में धँसता है।"[97] इसके अतिरिक्त मिश्रजी आलोचना के अन्य दो रूप 'खंडनात्मक' एवं 'मंडनात्मक' की भी चर्चा करते हुए कहते हैं कि - "इस प्रकार की अधिकतर आलोचना रचयिता के सम्बन्ध में पूर्वनिश्चित मत की प्रेरणा से होती है । किसी कवि या लेखक की रचना या उसके सम्बन्ध में जैसी धारणा पहले से बँधी है, उसी के आधार पर खंडनात्मक या मंडनात्मक आलोचना कर दी जाती है । इस प्रकार की आलोचना में अधिकतर द्वेष-वृत्ति या राग-वृत्ति काम करती है ।"[98]

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि मिश्रजी ने 'आलोचना' के सम्बन्ध में जो अपनी समीक्षा दृष्टि रखी है उसमें विश्लेषणात्मक आलोचना ही सहृदयता की गहराइयों को छूने वाला तथा इसके लिए पांडित्य एवम् सहृदयता का होना आवश्यक बताया गया है ।

इनके विचार से साहित्य के निर्माण में तीन तत्त्वों की योजना रहती है-

''भाव, विचार और वस्तु ।''[99] जिनमें से नाटक में कथा और भाव की ही प्रधानता मिश्रजी स्वीकारते हैं । साथ ही नाटक में रस की प्रधानता को महत्व देते हैं । इनके अनुसार - ''पुराने नाटक शास्त्र के नियमों में बँधे रहते थे । उनमें रस का अधिक ध्यान रखा जाता था ।''[100] क्योंकि नाट्य प्रवृति की दृष्टि से भारतीय परम्परा रसपरक है । भारतीय और पश्चिमी दृष्टिकोण में अन्तर करते हुए ये कहते हैं कि - ''भारतीय साहित्य रसानुभूति को प्रधान मानता है और पश्चिमी शीलदर्शन को ।'[101] मिश्रजी यह भी कहते हैं कि चारों प्रकार के नायकों - ''उदात्त, उद्धत, ललित और प्रशांत''[102] में ''नाटक' का नायक उदात्त ही रहेगा । ऐसा न करने से रसानुभूति में बाधा होगी।''[103] साथ ही वे यह भी कहते हैं कि - ''नाटक के महत्कार्य को फलरूप में प्राप्ति करनेवाला ही अर्थात् उसका भोक्ता ही नायक कहा जाता है ।''[104] उदाहरण के तौर पर ये कहते है कि जिस पकार ''मुद्राराक्षस' की घटनावली को विश्वस्त रूप में अपने पक्ष में घटा लेने की क्षमता रखनेवाला चाणक्य उसका नायक नहीं है । अमात्य राक्षस का मंत्रित्व प्राप्त करने वाला चंद्रगुप्त ही नायक है ।''[105]

मिश्रजी के अनुसार साहित्य में रस प्रक्रिया में शब्द, अर्थ और भाव तीनों का महत्व होता है । इन्होंने रस को अलौकिक कहे जाने के पीछे मन के रमने की बात को स्वीकरा है । मिश्रजी के अनुसार काव्य में भावों का महत्व होता है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य मिश्र ने विभिन्न विषयों से सम्बन्धित जो समीक्षाएँ कीं उन पर उनकी विचार धाराओं का स्पष्ट प्रभाव है । मिश्रजी एक भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को जीने वाले रचनाकार थे, जो बहुत कुछ संस्कृति के

पारंपरिक मूल्यों को स्वीकार करते थे । यद्यपि उनकी दृष्टि में संस्कृति के रूप में विद्यमान रूढ़ियों का विरोध भी दिखलाई पड़ता है ।

जहाँ तक 'लोक' का प्रश्न है उनकी रचनाओं में लोक आम आदमी के रूप में हमेशा दिखलाई पड़ता है और साहित्य के सरोकार को वे हमेशा लोक के विश्वास और आस्था से जोड़ते हैं । वस्तुतः मिश्रजी का यह विश्वास कि 'लोक' साहित्य से बड़ा है, उन्हें हमेशा दृष्टि प्रदान करता रहा है ।

काशी के आध्यात्मिक वातावरण में पले-बढ़े मिश्रजी के धार्मिक विचार बड़े ही मुखर और साफ हैं, जिनमें भारतीय आदर्श और मूल्यों की मांग बहुत साफ है और यही मांग वे उन रचनाओं या रचनाकारों से भी करते हैं जो उनकी समीक्षा-दृष्टि में आते हैं । काव्यशास्त्रीय आलोचक के रूप में उन्हें हम शुद्धतावादी मान सकते हैं, और उसका प्रभाव हम उनकी समीक्षा पर भी देख सकते हैं ।

संदर्भ :

1. भारत वर्ष की सांस्कृतिक समस्या, पत्रिका - मधुमति, सं. अभय कुमर, पृ. 7
2. सचित्र बजरंग हिन्दी शब्दकोश, संपा. डॉ. आलोक कुमार, पृ. सं. 145
3. सम्पादकीय, पत्रिका - रचनाकर्म, संपा. डॉ. माया प्रसाद पाण्डेय, पृ. सं. 6
4. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास सामाजिक एवं सांस्कृतिक संदर्भ, ले. डॉ. विमल शंकर नागर, पृ. सं. 6
5. वही, पृ. सं. 6
6. प्रथम अध्याय, पुस्तक - हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, नवाँ भाग, संपा. पं. सुधाकर पाण्डेय, पृ. सं. 1
7. राष्ट्रीय संस्कृतिनीति : कुछ बुनियादी सवाल, संस्कृति और समीक्षा के सवाल, ले. जवरीमल्ल पारख, पृ. सं. 3
8. शब्द और संस्कृति (सीता कान्त महापात्र), पत्रिका- नया ज्ञानोदय, सं. प्रभाकर श्रोत्रिय, पृ. सं. 11
9. सम्पादकीय : महापथ की पहचान, पत्रिका - इन्द्रप्रस्थ भारती, संपा. - डॉ. रामशरण गौड़, पृ. सं. 5
10. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास सामाजिक एवं सांस्कृतिक संदर्भ, ले. डॉ. विमल शंकर नागर, पृ. सं. 6
11. राष्ट्रीय संस्कृति नीति : कुछ बुनियादी सवाल, संस्कृति और समीक्षा के सवाल, ले. जवरीमल्ल पारख, पृ. सं. 3
12. अतीत का अनुराग : हिन्दी साहित्य का अतीत भाग - 1, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 39-40
13. द्वितीय अध्याय : सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पुस्तक - हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : पाचवाँ भाग, संपा. डॉ. दीनदयाल गुप्त, पृ. सं. - 16
14. आत्मनिवेदन, पुस्तक- भारतीय संस्कृत कोश, लेखक- लीलाधर शर्मा, 'पर्वतीय' पृ. सं. 788
15. भारत की भारती, हिन्दी साहित्य का अतीत भाग - 1, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र,, पृ. सं. 14
16. वही, पृ. सं. 14
17. वही, पृ. सं. 15
18. वही, पृ. सं. 15
19. साहित्य, वही, पृ. सं. 27

20. वीर महाकाव्य, हिन्दी साहित्य का अतीत भाग - 1, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 62
21. रासो की व्युत्पति, वही, पृ. सं. 65- 66
22. वही, पृ. सं. 67
23. साहित्य और लोकजीवन, हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 3
24. भारत की सांस्कृतिक एकता, लेखक - श्रीशरण, पृ. सं. 153
25. साहित्य और लोकजीवन, हिन्दी का सामयिक साहित्य , ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 3
26. निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल, वही, पृ. सं. 3
27. हिन्दी-मलयालम-अंग्रेजी त्रिभाषा कोश जिल्द - 2, पृ. सं. 796
28. पुस्तक - बृहत् हिन्दी कोश, संपा. कालिका प्रसाद, पृ. सं. 997
29. लोक संस्कृति का अर्थ (माता प्रसाद त्रिपाठी) पत्रिका - नया ज्ञानोदय, संपा.- प्रभाकर श्रोत्रिय, पृ. सं. 71
30. लोक साहित्य का सामान्य परिचय, लोक साहित्य, ले. डॉ. कृष्णदेव शर्मा, पृ. सं. 1
31. लोक साहित्य : परिभाषा (डॉ. सत्येन्द्र) , पत्रिका साहित्य संदेश, संपा. - गुलाब राय, पृ. सं. 468
32. लोक : दिक्-काल का अवबोध (श्याम सुन्दर दुबे), पत्रिका - पहल, संपादक - ज्ञानरंजन, पृ. सं. 200
33. लोक मूल्य : सभ्यता के विकास के अंतर्विरोध , (विनोद शाही), पत्रिका- मड़ई, संपा. डॉ. कालीचरण यादव, पृ. सं. 5
34. साहित्य परिचय, पत्रिका- साहित्य संदेश, नवम्बर - 1957 - श्री मुरारीलाल, पृ. सं. 255
35. दो शब्द, भारत की प्रतिनिधि लोक कथाएँ, संपा. जयप्रकाश भारती,
36. प्राक्कथन, पुस्तक - हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : बारहवाँ भाग, संपा. डॉ. निर्मला जैन, पृ. सं. 1
37. सर्वजनहिताय, गोंसाईं तुलसीदास, ले आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.सं.27
38. व्यावहारिक समीक्षा - पद्धति, हिन्दी का गद्य - साहित्य, ले. रामचन्द्र तिवारी, पृ.सं. 621
39. साहित्य और लोक-जीवन, हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 2
40. वही, पृ. सं. 3

41. नाटक किस चिड़िया का नाम है, हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 10
42. रहस्य स्वच्छंदता, वही, पृ. सं. 61
43. छाया रहस्य, वही, पृ. सं. 65
44. स्वरूप भेद, वही, पृ. सं. 105
45. प्रबन्ध कविता - कुरूक्षेत्र, वही, पृ. सं. 110
46. वही, पृ. सं. 122
47. वीरकाव्य - हल्दीघाटी, वही, पृ. सं. 126
48. 'हरिऔधजी की लोकदृष्टि, वही, पृ. सं. 53
49. प्रेमचंद की लोकचेतना, कथाकार प्रेमचंद, संपा. रामदरश मिश्र, ज्ञानचन्द गुप्त, पृ. सं. 73
50. वही, पृ. सं. 73
51. संपादकीय, साहित्यवार्ता, लोकार्पण अंक, जुलाई- 2006, प्रगतिशील लेखक संघ, शिलांग, संपा. माधवेन्द्र, भरत प्रसाद, पृ. सं. 1
52. संस्कृति की धाराएँ, वंशीधर त्रिपाठी , पत्रिका - साहित्य अमृत, जून - 2004 संपा. विद्यानिवास मिश्र, पृ. सं. 54
53. विश्वकवि, गोसाईं तुलसीदास, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 19
54. अलौकिक लोकदृष्टि - हिन्दी साहित्य का अतीत भाग - 1 , ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 263
55. देश के ऐहिक उत्थान में योग- वही, पृ. सं. 264
56. काव्य और लोक जीवन, वाङ्मय-विमर्श, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 227
57. अनुवचन, हिन्दी-साहित्य का अतीत - दूसरा भाग, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 8
58. पुरोवचन, वही, पृ. सं. 5
59. उपकार, यू.जी.सी. 'हिन्दी', ले. डॉ. जगदीश शरण, पृ. सं. 169
60. ब्रजभाषा साहित्य में गंगा, गंगालहरी, संपा. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 22
61. गंगा, गंगालहरी, वही, पृ. सं. 26
62. वही, पृ. सं. 27
63. वही, पृ. सं. 28-29
64. वही, पृ. सं. 29
65. पुरोवाक् - गोसाईं तुलसी दास, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 3
66. देश के ऐहिक उत्थान में योग , वही, पृ. सं. 31

67. मानस की रामलीला, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, , पृ. सं. 38
68. वही, पृ. सं. 39
69. साहित्यिक मानदण्ड, वही, पृ. सं. 57
70. अतीत का अनुराग, हिन्दी-साहित्य का अतीत प्रथम भाग, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र,पृ. सं. 34
71. मीरा की साधना और अभिव्यक्ति, वही, पृ. सं. 117
72. विश्वकवि तुलसीदास, वही, पृ. सं. 249-250
73. विश्वकवि तुलसीदास, वही, पृ. सं. 249
74. साहित्य में व्यष्टि और समष्टि, वाङ्मय विमर्श, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 145
75. वही, पृ. सं. 146
76. वही, पृ. सं. 145
77. रस मत , वही, पृ. सं. 167
78. वही, पृ. सं. 167
79. प्रस्तावना : भारतीय काव्य सिद्धांत, संपा. डॉ. नगेन्द्र, पृ. सं. XII
80. रस मत, वाङ्मय विमर्श, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 167
81. काव्य और प्रातिभ ज्ञान, वही, पृ. सं. 197
82. वही, पृ. सं. 197
83. काव्य और सौन्दर्य, वही, पृ. सं. 199
84. वही, पृ. सं. 199
85. वही, पृ. सं. 200
86. वही, पृ. सं. 210
87. वही, पृ. सं. 210
88. वही, पृ. सं. 210
89. आलोचना के प्रकार, वही, पृ. सं. 21
90. साहित्य का इतिहास लेखन : परिप्रेक्ष्य और समस्याएँ (रवि श्रीवास्तव), पत्रिका-मधुमति, अगस्त - 2003, संपा. वेद व्यास, पृ. सं. 29
91. भारतीय हिन्दी परिषद - 35 वाँ अधिवेशन, पत्रिका - हिन्दी अनुशीलन, संपा. डॉ. वीरेन्द्र नारायण यादव, पृ. सं. 9
92. नामवर उवाच, (संस्कृति परिदृश्य) पत्रिका - वर्तमान साहित्य, संपा. हरीशचन्द्र अग्रवाल, पृ. सं. 69
93. नयी आलोचना : भाषिक संरचना, पुस्तक - आलोचक और आलोचना, लेखक-डॉ. बच्चन सिंह, पृ. सं. 88

94. आलोचना के प्रकार, वाङ्मय विमर्श, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 216
95. वही, पृ. सं. 216
96. साहित्य में स्थान, हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 145
97. नाटककार भारतेन्दु, वही, पृ. सं. 17
98. आजतशत्रु में आजातशत्रु की समस्या, वही, पृ. सं. 70
99. वही, पृ. सं. 71
100. वही, पृ. सं. 71
101. वही, पृ. सं. 73
102. वही, पृ. सं. 73
103. सचित्र बजरंग हिन्दी शब्दकोश, संपा. डॉ. आलोक कुमार, पृ. सं. 145
104. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास सामाजिक एवं सांस्कृतिक संदर्भ, ले. डॉ. विमल शंकर नागर, पृ. सं. 6
105. वही, पृ. सं. 6

सप्तम अध्याय

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की भाषा

सप्तम अध्याय

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की भाषा

7. **क - भाषा-प्रयोग का वैशिष्ट्य :**

किसी रचनाकार के भाषागत वैशिष्ट्य के आरेखन का तात्पर्य होता है रचना में प्रयुक्त भाषा के स्थूल उपकरणों का अध्ययन जिससे एक ओर जहाँ रचना की सफलता एवम् वैशिष्ट्य का उद्घाटन होता है वहीं रचनाकार की मानसिकता एवम् शक्ति-सामर्थ्य का भी पता चलता है । इस दृष्टि से भाषा अपनी भाषा वैज्ञानिक सीमा से मुक्त होकर जन-सम्प्रेष्य रूप में ही अधिक सशक्त मानी जाती है । शब्द-प्रयोग, वाक्य-संरचना, वाक्य-विन्यास, वर्णन-शैली आदि के माध्यम से किसी रचना के भाषाई क्षमता का आकलन किया जा सकता है ।

इस दृष्टि से अगर हम देखें तो आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की भाषा में कोई विशेष चमत्कारिक वैविध्य नहीं है बल्कि खड़ी बोली हिन्दी की परिष्कृत शैली के दर्शन उनकी रचनाओं में अधिकांशतः होते हैं । चाहे वह इतिहास रहा हो अथवा समीक्षा या निबंध रचना, सर्वत्र यह रूप देखा जा सकता है । जहाँ तक समीक्षा का प्रश्न है उन्होंने परिष्कृत खड़ी बोली हिन्दी को ही आधार बनाया है ।

आचार्य मिश्र की भाषा में मूर्त विधायिनी शक्ति है जो वर्णन की शैली को और अधिक सजीव बना देती है । यहाँ हम इनके भाषा-प्रयोग के इस वैशिष्ट को इन उदाहरणों में देख सकते हैं - ''मैंने छूटते ही टाइम-टेबुल हाथ में ले लिया । पन्द्रह-बीस मिनट तक मैं उसके पृष्ठ खोलकर आँखे गड़ाता और फिर ध्यान की मुद्रा में कुछ गिनने का अभ्यास सा करता रहा । अंत में मैंने कहा - 'रास्ता निकल आया, सिर्फ चौबीस घंटे लगेंगे । बिंदकी रोड से होकर जाना चाहिए ।' केडिया जी उछल पड़े ।''[1] इसी तरह से इन्होंने अपने गद्य लेखन में तमाम प्रयोग बखूबी किये हैं यथा -

''दार्शनिक तो पत्ते के बीच की कुछ मोटी रीढ़ की भाँति नस पर सीधे जाता है, इधर-उधर फूटी हुई नसों की ओर जाने की उसे अपेक्षा नहीं होती, पर निबन्ध-लेखक या साहित्यिक फूटी हुई नसों की ओर भी अपने मन या हृदय को ले जाता है ।''[2]

आचार्यजी ने प्रांतीय भाषाओं, देशी भाषाओं का प्रयोग अपने लेखन में इस प्रकार किया है कि ऐसा लगता ही नहीं कि ये शब्द मिलाकर लिखे गये हैं, जो अत्यन्त प्रौढ एवम् प्रभावशाली बन पड़े हैं । इनके लेखन के इस वैशिष्ट को हम यहाँ नीचे दिए गये गद्यांश में देख सकते हैं, यथा -- ''अगर उन्हें पता चल जाय कि आज घर में पिसा हुआ आटा तैयार नहीं तो उसकी चिंता ही उन्हें इतना व्यग्र कर देती है कि रात भर नींद नहीं आती । हाथ काँपता है । पीठ की धन्वा कुछ झुक गई है । चलते समय किसी के सहारे की जरूरत पड़ती है । पर इतना होने पर भी द्विवेदीजी दो वक्त, सुबह और शाम गाँव के बाहर चक्कर लगा लेते हैं । खेतों को देख आते हैं, वृक्षों की देख-भाल कर लिया करते हैं ।''[3]

मिश्रजी की भाषा-प्रयोग का यह वैशिष्ट देखा गया है कि जब वे ग्रामीण परिवेश का वर्णन करते हैं तो प्रान्तीय एवम् राष्ट्रभाषा का मिला-जुला रूप उनके लेखन-शैली को और भी गुणात्मक बना देती है यथा - ''खेतों का कोना-कोना, वृक्षों की डाली-डाली उनकी आँखों में नाचती रहती है । अगर एक फल भी कहीं से हट जाय, तो उन्हें पता लग जाता है । घर के एक-एक प्राणी, एक-एक जीव की चिंता उन्हें रहती है । घूमकर लोटते समय सुग्गे के लिए भुट्टा लाना नहीं भूलते, क्योंकि चने खाने की अपेक्षा वह भुट्टा बड़े प्रेम, स्वाद और तल्लीनता से खाता है।''[4]

मिश्रजी जब किसी महान रचनाकार अथवा साहित्याचार्य के बारे में कुछ कहते हैं तब उनकी भाषा, अत्यन्त सधी हुई, गंभीर एवम् प्रौढ़ बन पड़ती है ।

यहाँ हम कुछ गद्यांशों को ले सकते हैं जहाँ उनके द्वारा प्रौढ़ भाषा के रूप प्रयोग किए गये हैं । उदाहरण द्रष्टव्य है - ''लोक का कल्याण करनेवाले महात्मा संसार में नित्य ही शरीर नहीं धारण करते, उनका आविर्भाव समय समय पर ही हुआ करता है । धर्म की हानि होने पर, अधर्मों के बढ़ जाने पर और सज्जनों के कष्ट पाने पर भगवान का अवतार तो होता ही है,पर समाज की, देश की, विश्व की गुत्थियों को सुलझाने के लिए भगवान अपनी विभूति का, अपनी शक्ति का एक अंश देकर महात्माओं को भी संसार का मंगल करने के लिए भेज दिया करते हैं । भारत में जिन दिनों सांप्रदायिक मतवाद बढ़ रहा था, लोग ईश्वरोपासना का मूलतत्त्व भूलकर केवल स्थूल बातों को प्रधानता देने लगे थे, उसी समय महात्मा तुलसीदास का आविर्भाव हुआ । इन्होंने लोक कल्याण के लिए समन्वय का जो मार्ग निकाला वह इतना प्रशस्त था कि उसमें सबके खड़े होने के लिए जगह मिल गई । समाज का कोई अंग ऐसा न था जो समाज से जुटा न रहकर अलग फेक दिया गया हो । उस 'राजडगर' में सभी सुख की साँस लेने लगे ।''[5]

यहाँ हम यह भी देखते हैं कि ये गद्य लेखन में संतुलित वाक्य-समूह का प्रयोग करते हैं । पूरे गद्यांश में कहीं भी एक भी शब्द अनुपयुक्त नहीं प्रयुक्त होता है। भाषा की शुद्धता एवम् स्पष्टता इनके लेखन की विशेषता है । भाषा के प्रति अनुशासन संभवतः आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदीजी के प्रभाव का ही परिणाम इनके लेखन में दिखाई पड़ता है । यहाँ हम इनकी इस विशेषता को नीचे के उदाहरण में देख सकते है -- ''बिहारी पर केशवदास का प्रभाव उनके प्रत्यक्ष गुरु-शिष्य संबन्ध का कुतूहल भले ही जगा ले पर बिहारी एकलव्य भी हो सकते हैं । हिन्दी में केशव के अनेक एकलव्य थे, यह उनकी समीक्षा में विस्तार से अवसर आने पर दिखाया

जाएगा।''[6] मिश्रजी जब किसी कृति का सूक्ष्म विवेचन करते हैं तो उसमें कहीं न कहीं उनके व्यक्तित्व की झलक भी दिखाई देती है पर प्रधानता वर्ण्य-विषय को ही रहती है। वस्तुतः होता यह है कि व्यक्तित्व वर्ण्य-विषय में घुल-मिलकर अर्थात् एक तरह से तिरोहित होकर अभिव्यक्त होता है, फलतः उनके व्यक्तित्व की छाया स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं पड़ती । उनके इस वैशिष्ट को नीचे के उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है, यथा-- ''विदग्धता सहजा होती है, उत्पाद्या नहीं । अतः 'हास' के क्षेत्र में उन्हीं को हाथ लगाना और मुँह खोलना चाहिए जिनमें यह सहज गुण हो और विदग्धता के रूप में हो । पश्चिमी साहित्य के अनुगमन के साथ-साथ अपने यहाँ के साहित्य को केवल मनोरंजन की वस्तु बना डालना ठीक नहीं । साहित्य का उद्देश्य गंभीर है । अतः रेखामात्र निबन्धों में यदि हास्य-विनोद का गाढ़ा रंग रहेगा तो उनका लघुकत्व' ऐसा हो जाएगा कि साहित्य के क्षेत्र से उन्हें निकालना पड़ेगा ।''[7]

मिश्रजी ने अपने लेखन में व्याकरणिक शब्द-शक्तियों यथा - अभिधा, लक्षणा एवम् व्यंजना का प्रयोग किया है । सामान्य अर्थ के भीतर छिपे भाव एवम् गूढ़ रहस्य को स्वभाविक रूप से अभिव्यंजित करने हेतु इन्होंने शब्द-शक्तियों का लेखन में उपयोग किया है । यथा - ''हँसी केवल मूर्खों की ही नहीं उड़ाई जाती, बड़ो-बड़ों की हँसी की जाती है और हँसी का लक्ष्य वहाँ भी कोई न कोई, त्रुटि या असंगति होती है, बड़ों की इस त्रुटि या असंगति के लिए 'मूर्खता' शब्द कड़ा पड़ता है, यद्यपि उनके बेढंगे कार्य-कलाप में उसका बीज या कण रहता अवश्य है ।''[8]

मिश्रजी की समीक्षा पद्धति में पूर्वाग्रह एवम् पक्षपात का लेशमात्र भी आरोपन नहीं होता और न ही रुचि-अरुचि का प्रभाव होता है, बल्कि वे अपना पक्ष तर्क-प्रधान रखते हैं । एक तरह से हम यहाँ कह सकते हैं कि समीक्षा के दौरान अपने

आप को तटस्थ रखते हुए ये परिमार्जित भाषा का प्रयोग करते हैं । मिश्रजी के भाषा प्रयोग के इस वैशिष्ट को हम नीचे के गद्यांश में देख सकते हैं -- ''प्रकृत में कहना यह था कि तीन ठाकुरों के स्थान पर दो ठाकुर रह गये हैं । इन दोनों ठाकुरों की रचनाएँ मिश्रित हो गई हैं । उनको पृथक करने का उद्योग करने वालों को कठिनाई हुई और स्वकल्पित मानदंड से वे उन्हें पृथक घोषित करते हुए भी भिन्न नहीं कर सके। पर इन ठाकुरों की प्रवृत्तियाँ रीतिबद्धता और रीतिमुक्तता के रूप में इतनी विलग हैं कि इन्हें सरलता से अलग किया जा सकता है । यही स्थिति बोधा की भी है । दोनों बोधा कवियों की रचनाएँ पृथक हैं । एक शास्त्रानुयायी शास्त्रस्थितिसंपादन के प्रेमी रीतिबद्ध बोधा हैं तो दूसरे स्वच्छंदमार्गी प्रेमोमार्ग के गायक रीतिमुक्त बोधा । सबको संपिंडित करके कहना है कि तटस्थ दृष्टि के लिए यह विचार अनपेक्षित है कि प्रस्तावक कौन है । उचित या उपयोगी का वक्ता वत्स भी मान्य हो सकता है और अनुचित या अनुपयोगी का उपदेशक ब्रह्मा भी अमान्य ही रहेगा ।''[9]

मिश्रजी के लेखन में उनकी अभिव्यक्ति की भाषा में किसी तथ्य को अधिकार के साथ स्थापित करने की चेष्टा होती है, जहाँ उनकी भाषा-प्रयोग में दृढ़ता एवम् आत्मविश्वास झलकता है । उनके द्वारा प्रयुक्त कुछ वाक्यों को हम यहाँ देख सकते हैं जिसका प्रयोग उन्होंने अपने मत के प्रतिपादन एवम् स्पष्टीकरण में किया है यथा- ''इस तथ्य ने स्पष्ट कर दिया है', 'कहना यह था कि, 'स्पष्ट' हो गया होगा कि, 'बात यह थी कि' 'यह विश्वास है कि आदि । यह भी देखा गया है कि संस्कृत के वाक्यों का प्रयोग अपने-अपने मत की पुष्टि हेतु मिश्रजी कहीं-कहीं अपने वक्तव्य के दौरान करते हैं यथा - ''यही विश्वास है कि - सदोषमपि निर्दोषं भवत्यग्रे विपश्चिताम्।''[10]

मिश्रजी के व्यक्तित्व में यह देखा गया है कि वे बाह्य आडम्बर से कोसो दूर रहे हैं । दिखावा या आडम्बर उनको छू तक नहीं पाया । लगभग यही गुण उनके लेखन में भी देखा गया है । अपने भाषा-प्रयोग के दौरान ये किसी भी प्रकार के आडम्बर या भड़कीले भाषा-शब्दों का वे प्रयोग नहीं करते । बल्कि हमेशा नपे-तुले, कटे-छँटे एवम् शोधित भाषा का ही वे प्रयोग करते हैं । यथा -- "साहित्य की सच्ची धारा जिस प्रकार जीवन की सच्ची या मूल धारा से प्रेरित एवं उत्तेजित होती है उसी प्रकार यह जीवन-धारा के बहाव को बनाए रखने के लिए उसमें एकत्र होने वाले कूड़ा-करकट को, सड़ी-गली और बदबूदार चीजों को धारा के साथ बहा देने के लिए उसे तीव्र भी कर देती है ।"[11]

मिश्रजी जब किसी रचनाकार की मूल संवेदना को प्रकट करने का उद्योग करते हैं तो सम्बन्धित रचनाकार की संवेदना की पुष्टि हेतु रचनाकार की कुछ पंक्तियों का भी उल्लेख अवश्य करते हैं ताकि इनके विचारों को बल मिल सके । एक उदाहरण के माध्यम से उपरोक्त उक्ति की पुष्टि यहाँ की जा रही है -

"निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल ।

बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल ।।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र के इस कथन में विश्वास करने वाला इस राजनीतिक युग में सहृदय साहित्यिक के अतिरिक्त कोई न होगा । इसका हेतु यही है कि राजनीतिक दृष्टिपथ में बसे वर्तमान को ही देखती है और भविष्य की अँधेरी गुफा में भी टटोलने का प्रयास करती है ।"[12]

जब ये किसी रचनाकार के रचनाओं की आलोचना करते हैं तब इनकी भाषा मूल्यपरक हो जाती है । वैसे आलोचना के जिन पद्धतियों का प्रयोग बहुधा होता

है उनमें मनोवैज्ञानिक, प्रभाववादी, प्रगतिवादी आदि हैं, पर किसी एक पद्धति का ही प्रयोग आलोचक नहीं करता वरन अन्य पद्धतियों का भी प्रभाव रहता है । वैसे मिश्र जी भी इससे अछूते नहीं रहे । उनकी आलोचना में भी इस पद्धति का मिला-जुला रूप ही परिलक्षित होता है जहाँ इनकी भाषा औदात्य की माँग करती दीखती है । रीतिसिद्ध कवि बिहारी के सम्बन्ध में एक स्थान पर इनका वक्तव्य है कि - "एक तो रंगों के आधार पर अप्रस्तुत की योजना करने के लिए सूर्य-मंडल से ग्रहों का उतरना ही समीचीन नहीं, फिर जीवन-जगत की वे ही बातें गृहीत करनी चाहिए जो सामान्यतया सुलभ हों । ऐसी उक्तियाँ चमत्कारातिशय की व्यंजना करके रह जाती हैं, भाव के क्षेत्र में प्रवेश नहीं करतीं । अच्छा हुआ कि बिहारी ने इस प्रकार की उक्तियाँ बहुत नहीं लिखीं ।"[13]

अर्थ के निर्धारण के समय मिश्रजी की दृष्टि रचनाकार के पूरे व्यक्तित्व पर रहती है जो इनकी भाषा को भी प्रभावित करती है । रचना के विश्लेषण के समय भी इनकी दृष्टि 'खोजपरक ही रहती है । यहाँ हम इनकी इन विशेषताओं को परखने हेतु इनके द्वारा लिखित 'गोंसाईं तुलसीदास' ग्रंथ के कुछ अंशों को देख सकते हैं -

"सिर भर जाउँ उचित अस मोरा । सबतें सेवक धरमु कठोर । २/२०२/६ यहाँ भरत ने 'सिर के बल' जाने की बात कही हैं। अतएव तुलसीदास 'झलका झलकत है पायन्ह कैसे' वाली चौपाई से यह लक्षित करा रहे हैं कि वे सिर के बल ही आए हैं। इसलिए सिर नीचे पैर ऊपर होने से उनके पैर के फफोले दिखाई पड़ रहे हैं । फफोलों के दिखाई पड़ने के लिए शीर्षासन की कल्पना व्यर्थ है । यदि भरत सिर के बल आए तो छाले पैरों में क्यों पड़े । सिर में क्यों नहीं । भरत के सिर भर जाउँ

उचित अस मोरा' से तो स्पष्ट है कि वे 'सिर भरि' जाने में असमर्थ हैं और अपनी दृष्टि से अनौचित्य कर रहे हैं फिर यह कहना कि वे सिर से आए बुद्धि विलास मात्र है ।''[14]

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी के लेखन में देशी-विदेशी सभी प्रकार के शब्दों का प्रयोग हुआ है । विदेशी भाषा के सम्बन्ध में श्री भोलानाथ तिवारीजी के विचारों का उल्लेख श्रीमति सावित्री सिंह ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी शिक्षण' में इस प्रकार किया है - ''विदेशी भाषा का अर्थ केवल दूसरे देश की भाषा ही नहीं है, अपितु अपने देश की अपनी भाषा से इतर भाषा भी है अर्थात् एक हिन्दी भाषी के लिए फारसी, अंग्रेजी, तमिल ये तीनों ही विदेशी भाषायें मानी जायेंगी ।''[15] मिश्रजी के भाषा-प्रयोग की यह विशेषता रही है कि प्रसंगानुकूल उसमें परिवर्त्तन होता रहता है । ग्रामीण परिवेश के वर्णन के समय ये प्रान्तीय एवम् राष्ट्रभाषा का मिला-जुला रूप प्रस्तुत करते हैं । किसी महान रचनाकार के वर्णन में इनकी भाषा अत्यन्त प्रौढ़ बन पड़ती है। वहीं व्याकरणिक शब्द-शक्तियों के प्रयोग से इनकी भाषा विशिष्ट बन गयी हैं ।

7. **क-1. शब्द-सम्पदा (संस्कृतनिष्ठ, देशज एवम् विदेशी शब्द) :**

हम देखते हैं कि हिन्दी भाषा अपने आरंम्भिक काल से ही बाह्य प्रभावों से प्रभावित होती रही है । विभिन्न देशों के लोगों के सम्पर्क में आने तथा वहाँ निवास करने वाली जातियों की भाषाओं के सम्पर्क में आने से हमारी हिन्दी-भाषा प्रभावित हुई। भाषा की स्वच्छता जाती रही । भाषा का मिश्रित रूप हमारे सामने रह गया । हमारे यहाँ ईरानी, मुगल, अँग्रेज, डच, फ्रांसीसी आदि आए, साथ में अपनी भाषा एवम्

संस्कृति भी साथ लाए । दो अलग-अलग संस्कृतियों एवम् भाषाओं के सम्पर्क में आने के प्रतिफलनस्वरूप यहाँ की जीवित भाषा हिन्दी उन भाषाओं के शब्दों को आत्मसात करती चली गयी । वस्तुतः शब्दों की व्यापकता एवम् सजीवता ही शब्दों के आत्मसात एवम् मिश्रित होने का कारण होती है ।

हमारा यहाँ सम्बन्ध आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी के गद्य-पद्य लेखन में प्रयुक्त शब्द-सम्पदा से है । आचार्य मिश्रजी ने भी अपने लेखन में संस्कृत के तत्सम, तदभव, देशी एवम् विदेशी शब्दों का भरपूर प्रयोग किया है । प्रयोग में इन्होंने विशुद्ध हिन्दी शब्दों से इतर उन्हीं शब्दों को ग्रहण किया है जो व्यापक एवम् सजीव अर्थ रखते हैं तथा लेखन के दौरान हिन्दी के शब्दों के साथ आसानी से सम्मिश्रित होने में सक्षम होते हैं । वैसे मिश्रजी गद्य लेखन में ज्यादातर संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग करते हैं यथा सहस्त्र, वस्तुतः, पृथक, अपाणिपादी, जवनो, ग्रहीता, ब्रह्म, काव्य, व्यंग्यार्थों, बुभुक्षा, भस्मक, दर्शनेप्सु, अतिदर्शनेत्सु, वाणी, सृष्टि, मनुष्य, कथमपि, पुनः, फलतः, दृष्टांत, साम्राज्य, दृष्टि, मधुचर्चा, महोदधि, द्विधा, विषयिविशिष्ट, तृप्त, अनुग्रहण, उभयपक्षविशिष्ट, क्षण, नवता, रमणीयता, शिष्य, स्वभावतः, वृषभानुजा, चातुर्य, स्वांतःसुखाय, स्वामिनः, कपूत, अंतःकरण आदि । वहीं इन्होंने विदेशी शब्दों का भी भरपूर प्रयोग किया है । जिसमें अरबी, फारसी, अर्दू, अंग्रेजी आदि के शब्द हैं । अरबी के जिन शब्दों का उन्होंने प्रयोग किया है उनमें से कुछ शब्द इस प्रकार हैं यथा - बिल्कुल, दावा, डफली, मुहावरे, मुसाफिर, तकलीफ, सलीका आदि । वहीं फारसी के भी कुछ शब्द देखे जा सकते हैं यथा - रूख, हिमायती आदि । उर्दू के शब्दों में से कुछ शब्द जिसका इन्होंने यथास्थान प्रयोग किया है वे हैं - राज, बखूबी, मजमून, खपना आदि । इन्होंने द्विभाषिक शब्दों का भी प्रयोग किया है - उदाहरणतः

छापाखाना । इसमें 'छापा' हिन्दी का शब्द है और 'खाना' फारसी का । इसी प्रकार 'ग्राफपद्धति' - इसमें 'ग्राफ' अंग्रेजी का शब्द है जबकि पद्धति हिन्दी का । इन्होंने सामासिक शब्दों का भी भरपूर प्रयोग किया है । उदाहरण स्वरूप यहाँ हम उनके द्वारा प्रयोग किए गए कुछ शब्दों को देख सकते हैं - जोड़-तोड़, जन-जीवन, काव्य-विकास, काव्य-सागर, नायक-नायिका, भक्ति-सम्प्रदाय, सुध-बुध, भाव-साधना, रस-साधना, अनुकूलता-प्रदर्शन, सुने-समुझे, समझ-बूझ, काव्य-शाखा, चमत्कार-प्रदर्शन, शमा-परवाना, बिछुरे-मिलें, मीन-पतंग, मीन-जल, प्रेम-साधना, चेतन-पक्ष, घट-बढ़, दाँव-पेच, कला-विधान, बंधु-बाँधव, चित्रण-व्यंजन, परकीया-प्रेम, सभा-सम्मेलन, हाव-भाव, परकीया-भाव, धन-संपत्ति आदि। अपभ्रंश-प्राकृत भाषा के भी शब्द इनके प्रयोग में देखे जा सकते हैं यथा - दूहा, गाथा आदि । तत्सम्-तदभव का एक साथ मिला रूप अर्थात् संस्कृत हिन्दी के युग्मक शब्दों का भी प्रयोग इनके लेखन में मिलता है यथा - परहृदयदुःखकातरता, कृष्णभक्ति-विषयक बुद्धिपरिपुष्ट, शास्त्रानुमोदित, स्वात्मवैशिष्ट्य, कपूतकलिकाल, श्रृंगार-चषक आदि । इन्होंने देशी शब्दों का भी खूब प्रयोग किया है यथा - चाल, ढाल,मट्ठा, छाछ, सीढ़ी, घट-बढ़, दांव-पेंच, ढूँस-ढाँस आदि । इन्होंने अंग्रेजी के शब्दों का भी प्रयोग किया है यथा - प्रोग्राम, टाइम-टेबुल, रोड, कैमरा, फैसन आदि । मिश्रजी ने मुहावरों का भी प्रयोग अपने गद्य लेखन में यथास्थान किया है । यहाँ हम उनके द्वारा प्रयोग किये गये कुछ मुहावरों को उदाहरण स्वरूप ले सकते हैं - डूबते को तिनके का सहारा, अपना उल्लू सीधा करना, पाँव भारी होना, गुड़ गोबर कर देना, आँख लगाना, भैंस के आगे बीन, अपनी डफली अपना राग, मुँह लटकाए चलना, पीठ ठोकना आदि । ध्यातव्य हो कि उनके द्वारा प्रयोग किए गये देशी-विदेशी शब्द, मुहावरे आदि भाषा-शैली एवम् शब्द संरचना के

स्वभाविक प्रवाह में पिरोये हुए होते हैं ऐसा कहीं भी नहीं लगता है कि ये अलग से जड़े गये हों ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन्होंने संस्कृत के तत्सम, तद्भव, अंग्रेजी के शब्द, अरबी के शब्द, फारसी के, उर्दू के, द्विभाषिक, सामासिक, अपभ्रंश, प्राकृत यहाँ तक कि मुहावरे आदि का खुलकर प्रयोग किया है ।

7. ख. भाषा : शैली एवम् संरचना :

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र शब्दब्रह्म के सिद्ध भाष्यकार हैं । इनकी भाषा विशुद्ध खड़ी बोली हिन्दी है । संस्कृत के प्रति इनका झुकाव इस प्रकार है कि हिन्दी में संस्कृत भाषा के शब्दों के प्रयोग मणिकाञ्चनवत मिलते हैं । यहाँ कुछ अंश उदाहरण स्वरूप दिए जा रहे हैं यथा - ''काव्य और शास्त्र में भेद होते हुए भी अन्य वाङ्मय शास्त्ररूप में काव्य में यथावसर अनुस्यूत रहते हैं । साहित्य का उदर बृहत है, गंभीर है । विश्व की कोई विद्या या कला अथवा उपविद्या ऐसी नहीं जिसका इससे साहित्य न हो । साहित्य की प्रसक्ति 'सहितस्य भावः' अथवा 'हितयोः शब्दार्थयोः भावः ही तक नहीं है, 'साहितानां शब्दार्थानां भावः तक भी है । साहित्य का स्वकीय शास्त्र तो उसका अंग है ही,अन्य वाङ्मय या शास्त्र भी उपकारक हो उसके अंग बन जाते हैं। तो क्या काव्य और शास्त्र की भेदक विशेषता और है । अन्य भेदक तत्व को दृष्टिगम कर साहित्य को इतर वाङ्मय से पृथक करने की कल्पना अन्य प्रकार से की गई।''[16]

आचार्य मिश्रजी की गद्य लेखन शैली का गम्भीरता से विवेचन करने पर यह प्रतीत होता है कि उनकी गद्य लेखन शैली निम्न रूपों में विद्यमान हैं-

क. शोध एवम् अनुसंधानात्मक गद्य शैली

ख. विचार-विनिमय की गद्य शैली

ग. संस्मरणात्मक गद्य शैली

घ. वर्णन एवम् विश्लेषणात्मक गद्य शैली तथा

ङ. *व्यंगय-विनोद की गद्य शैली*

शोध एवं अनुसंधानात्मक गद्य शैली में विषय-वस्तु का गहराई से अध्ययन-मनन निहित होता है जिसके सम्बन्ध में मिश्रजी की अपनी विशेष दृष्टि होती है । इस प्रकार की शैली का एक उदाहरण हम निम्नलिखित पंक्तियों में देख सकते हैं -- ''साहित्य की विभिन्न शाखाओं में जीवन के बाह्य और आभ्यांतर दोनों पक्षों की योजना किसी न किसी रूप में बराबर रहती है, केवल मात्रा का भेद होता है । जीवन के बाह्य पक्ष से कार्य-कलाप या वस्तु का संग्रह किया जाता है और आभ्यंतर पक्ष में हृदय तथा बुद्धि का योग रहता है । वस्तु या घटनाओं से सामग्री सज्जित होती है, हृदय अनुभूति की सरसता लाता है और बुद्धि विचार का मार्ग उद्घाटित करती है । नाटक, उपन्यास और कहानी वस्तु प्रधान रचनाएँ हैं, पर इसमें भी अनुभूति और विचार का विधान गौण रूप से रहता है ।''[17]

मिश्रजी के विचार विनिमय की शैली अत्यन्त सटीक एवम् सरस होती है । ये अपने विचार को पाठकों पर थोपते नहीं, पर उक्त कथन पर पाठक को विचार करने के लिए अवश्य प्रेरित करते हैं । उदाहरणतः - ''साहित्य या काव्य में त्रिकोणात्मक स्थिति रहती है - एक कोण पर तो कर्ता या निर्माता, कवि या साहित्यकार होता है, दूसरे पर ग्राहक, दर्शक, पाठक या श्रोता । निर्माता वहीं (दूसरे कोण पर) अपनी निर्मिति पहुँचाना चाहता है । मनुष्य सामाजिक प्राणी है । जीवन में

जो भी अनुभूति होती है उसे वह अपने तक ही नहीं रखना चाहता, अकेले ही उसका आनन्द नहीं लूटना चाहता, औरों के साथ अनुभूत करना चाहता है ।''[18]

वहीं मिश्रजी की संस्मरणात्मक गद्य-शैली अत्यन्त सजीव एवम् प्रत्यक्ष पाठक को लगती है मानों कथोपकथन का मूर्त रूप सामने विद्यमान हो गया हो । संदर्भ, घटना आदि का वाक्यों में इस प्रकार प्रयोग रहता है कि गद्य-शैली की संप्रेषण शक्ति पाठक को सहज लगती है । इस शैली के एक उदाहरण नीचे की इन पंक्तियों में भली-भाँति देखे जा सकते हैं -- ''जब हमलोग मुगलसराय पहुँचे तो तूफान मेल पैंतालीस मिनट लेट था । केडियाजी की उत्सुकता और उत्कंठा इस समय देखने ही योग्य थी । पूर्व की ओर से कोई इंजिन भी आता दिखाई पड़ता तो चौंककर कहने लगते गाड़ी आ गई । उनकी मेघ-ध्वनि ने मुसाफिरों से कई बार उठा-बैठी की कसरत उस शीत में अनायास ही करा ली । राम-राम करते जब गाड़ी आई तो तिल रखने की कौन कहे राई रखने की भी जगह न थी । मैं लपककर खिड़की से घुसा तो मेरी धोती दबकर चीं बोल गई । किसी प्रकार सामान ढूँसा गया, और सब लोग पिल पड़े ।''[19]

अपने वर्णन एवम् विश्लेषणात्मक गद्य-शैली में मिश्रजी शब्दों के गुंफन एवम् सजे हुए वाक्यों की लड़ियाँ सूत्र-शैली में पिरोते हैं । उनके उद्देश्य सरल एवम् सपाट होते हैं जिसे सहृदय पाठक सहज ही हृदयंगम कर लेता है । यथा - ''भारत में धार्मिक दृष्टि से गंगा का महत्त्व अधिक बढ़ा-चढ़ा है । धर्म की मनोहरता पर मुग्ध होने वाले भारत ने जिसे धर्म के आवरण में निहारा, फिर उसके अन्य रूपों को प्रायः भुला दिया । हिन्दी में गंगा का वर्णन दो रूपों में मिलता है - एक देवी के रूप में, दूसरा सरिता के रूप में । स्मरण रखना चाहिए कि सरिता के रूप में जो चित्रण मिलता है वह धार्मिक भावना के लगाव में ही है ।''[20]

मिश्रजी के व्यक्त्वि में व्यंग्य-विनोद की प्रवृति कूट-कूट भरी हुई थी । वे विनोदी प्रवृति के थे । डॉ. किशोरी लाल गुप्त ने अपने एक आलेख में मिश्रजी के इस स्वभाव को उजागर इस प्रकार किया है - ''उनके गंभीर व्यक्तित्व में परिहास एवं विनोद की प्रवृति वैसे ही छिपी हुई हैं जैसे मेंहदी के हरे पत्ते में उसकी लाली । सन् 1951 में जब पंडितजी आजमगढ़ आए थे, तो उनके सम्मान में कवि-गोष्ठी हुई थी जिसमें उन्होंने ब्रजभाषा में लिखित अपने चातक-संबन्धी अत्यन्त सरस सवैये सुनाए थे। पंडितजी का कवि पक्ष अभी उजागर नहीं हुआ है । उस गोष्ठी में मेरे मित्र विश्वनाथ लाल शैदा ने कहा था ' इस गोष्ठी में मेरा आना सफल हो गया । पंडितजी ने छूटते' ही कहा, आना आपका सफल नहीं हुआ 'आना' तो मेरा सफल हुआ, हाँ आपका 'सोलह आना' सफल रहा । उसी गोष्ठी में मेरे शिष्य कवि शिव प्रसाद शर्मा, 'अम्बु' को किसी ने पुकारा अंबुजी', यहाँ आइए ।' पंडितजी ने कहा, 'इन्हें' अंबुजी' क्यों कहते हैं, इन्हें तो 'अंबुज' कहना चाहिए ।''[21] यहाँ हम उनके हास्य-व्यंग्यात्मक गद्य-शैली के कुछ नमूने उनके निबंध में भी देख सकते हैं । यथा -- ''जब हमलोग गाँव के निकट पहुँचे तो एक सामानवाली बैलगाड़ी तो लीक-लीक भेज दी गई, और हमलोग शायर, शूर, सपूत की भाँति लीक छोड़कर पैदल चले । हमलोग गाँव में पहुँचे ही थे कि वह गाड़ी भी आ गई, पर केडियाजी के 'थरमस' की टोपी न जाने कहाँ रास्ते में उत्तर गई । जिस थरमस ने गरम पूरियों और तरकारी से लोगों को उस सफर में बासी होने पर भी ताजी का स्वाद दिया था, उसका शिरस्त्राण ही गायब ।''[22]

आचार्य मिश्रजी के विचारात्मक निबंधों में प्रायः संस्कृत के तद्भव एवम् तत्सम शब्दों का मिला रूप रहता है । देशी शब्द भी इसके साथ इस तरह घुले-मिले रहते हैं मानों मट्ठे और लस्सी का मिश्रण हो । मिश्रजी के इस प्रकार के शब्दों के

प्रयोग को डॉ. राम बहादुर रायजी तदभव-तत्समात्मक भाषा की मिश्र-शैली मानते हैं इस प्रकार की शैली के बारे में डॉ. राय कहते हैं कि -- ''तद्भव-तत्समात्मक भाषा की मिश्र-वाक्यशैली दो या दो से अधिक ऐसे वाक्यों से मिलकर वाक्य बनाते हैं, जिनमें संस्कृत के तद्भव और तत्सम तथा देशी सभी शब्द रूपों का प्रयोग होता है ।''[23] यहाँ हम इनके इस भाषाशैली का शब्दों की संरचना का अवलोकन नीचे के गद्यांश में कर सकते हैं -- ''साहित्य-धारा का एक निश्चित पथ होता है, जीवन के स्थायी आदर्शों का रूप बिगड़ सकता है, उसमें ऐसे विकार उत्पन्न हो सकते हैं जिनसे ग्रस्त होकर उसकी धारा जीवन-धारण करने वालों को ही नष्ट-भ्रष्ट करने लग जाय, पर साहित्य के स्थायी आदर्श बदलते नहीं । उन्हीं आदर्शों को सामने रखकर वह जीवन का संस्कार करने लगता है और उसके विकार की औषध बन जाता है ।''[24]

आचार्य मिश्र वाक्यों के प्रयोग के समय अंग्रेजी के शब्दों के अर्थ या तो कोष्ठक में देते हुए चलते हैं या फिर पूरे अंग्रेजी के शब्दों को देवनागरी में ही उल्लेख करते हैं साथ ही उसके अर्थ भी प्रस्तुत करते हैं, ताकि विज्ञ पाठक एवम् अनुसंधित्सु विषय-वस्तु की अर्थवत्ता को समझ सके । यहाँ हम उनके इस पद्यशैली में शब्दों की संरचना को नीचे दिए गए गद्यांश में देख सकते हैं -- ''बिहारी की प्रशंसा केवल हिन्दी में या भारतीय के द्वारा ही की गयी हो ऐसा नहीं है । प्रसिद्ध विद्वान श्री ग्रियर्सन ने 'लालचन्द्रिका' के अपने संस्करण की भूमिका में यहाँ तक लिख दिया है कि 'बिहारी हैज बीन काल्ड दि थाम्सन आव इण्डिया, बट आई डू नाट थिंक दैट इंदर ही आर एनी आव ब्रदर पीयूव्स आव हिन्दुस्थान कैन बी यूजफुली कंपेयर्ड बिद एनी वेस्टर्न पोयट- आइद नो नथिंग लाइक हिज वसेंज इन एनी यूरोपीयन लैंग्वेज ।' अर्थात बिहारी भारत के थाम्सन कहे गये हैं । पर मेरी समझ में उनकी या उन्हीं के भाई-बन्धु

किसी दूसरे भारतीय कवि की किसी प्रतीच्य कवि से ठीक-ठीक तुलना नहीं की जा सकती । मैं यूरोप की किसी भाषा में बिहारी की रचना के जोड़ से अनभिज्ञ नहीं हूँ।"[25]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने अपने भाषा-शैली एवम् संरचना में विषय प्रधान-विचारात्मक गद्यशैली को स्वीकारा, पर अन्य शैलियाँ भी उनके गद्य-लेखन में प्रयोग हुई हैं । अगर कुल मिलाकर हम देखें तो यह स्पष्ट होता है कि उनके भाव और भाषा की सामञ्जस्यपूर्ण गद्य-लेखन की शैली वस्तुतः संस्कृत के क्रोढ़ में अन्तःनिस्थ है अर्थात् संस्कृतगर्भा है । इनकी भाषा-शैली एवम् शब्दों की संरचना अत्यन्त ही प्रौढ़, स्पष्ट, परिष्कृत एवम् शुद्ध है । शुष्क एवम् गम्भीर विवेचन भी उनके इस प्रयोगात्मक भाषा-शैली एवम् शब्दों के गुँफन से विषय-वस्तु अत्यन्त ही सरल, सहज एवम् हृदयबोधक हो जाती है, जिसे पाठक हृदयंगम करने में सक्षम होते हैं ।

उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की भाषा खड़ी बोली हिन्दी है जिसमें अपेक्षाकृत संस्कृत के शब्दों का प्रयोग अधिक है । यद्यपि यह ध्यान देने कि बात है कि मिश्रजी अपनी भाषा में विषयानुकूल परिवर्त्तन करते रहते हैं । शास्त्रीय विषयों के विवेचन में जहाँ भाषा में संस्कृतनिष्ठता एवम् सटीक शब्दों के प्रयोग की प्रवृति दिखलाई देती है वहीं सामान्य वर्णन के समय उनकी भाषा जन-भाषा के करीब दिखलाई देती है । इसके लिए वे ठेठ स्थानीय शब्दों का प्रयोग बड़े ही कुशलता से करते दिखलाई पड़ते हैं, साथ-ही बोल-चाल में प्रयुक्त होने वाले अरबी, फारसी एवम् अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग बड़ी सहजता के साथ करते हैं । जहाँ तक वर्णन-शैली का प्रश्न है उनकी शैली प्रसंगानुकूल अपना रूप परिवर्तन करती चलती है।

आलोचना एवम् समीक्षा के समय जहाँ उनका स्वर चुटीला रहता है वहीं इतिहास लेखन में वह समीक्षामूलक दिखलाई पड़ता है । इसी तरह निबंधों में उनकी दृष्टि वर्णनात्मक अधिक होती है ।

निष्कर्ष रूप में अगर हम देखें तो आचार्य मिश्र की भाषा सामान्य बोल-चाल की तत्सम प्रधान भाषा ठहरेगी, जिसमें भाषा कौशल से अधिक भाषा की सम्प्रेष्णीयता को ध्यान में रखा गया है ।

संदर्भ :

1. महावीर तीर्थ की यात्रा , हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 31
2. मंजूषा, चिन्तामणि पहला भाग - मूल लेखक - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, मंजूषा लेखक - विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 8
3. महावीर तीर्थ की यात्रा , हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 35
4. वही, पृष्ठ संख्या - 35
5. रामचरितमानस, गोसाईं तुलसीदास, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र,पृ. सं. 71-72
6. उपक्रम, बिहारी, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 1
7. स्केच या रेखामात्र निबंध, हिन्दी का सामयिक साहित्य - ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 138
8. हास्य-विनोद, वही, पृ. सं. 156
9. अनुवचन, हिन्दी-साहित्य का अतीत : दूसरा भाग, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 12
10. वही, पृ. सं. 16
11. साहित्य और लोक-जीवन, हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 3
12. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल, वही, पृ. सं. 4
13. कवि की जानकारी, बिहारी की वाग्विभूति, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 65
14. मानस-बिन्दु, गोसाईं तुलसीदास, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 179
15. भाषा के विविध रूप, हिन्दी शिक्षण, लेखिका - सावित्री सिंह, पृ. सं. 1
16. अनुवचन, हिन्दी-साहित्य का अतीत : दूसरा भाग, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 5
17. स्केच या रेखामात्र निबंध, हिन्दी का सामयिक साहित्य - ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 133
18. मंजूषा, चिन्तामणि, पहला भाग, मूल लेखक - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, मंजूषा लेखक - विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 67-68

19. महावीर तीर्थ की यात्रा , हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 31-32
20. ब्रजभाषा साहित्य, गंगालहरी, संपा. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 21
21. आचार्य मिश्र और उनका एक अन्तेवासी, ले. डॉ. किशोरी लाल गुप्त, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : अभिनन्दन ग्रंथ, पृ. सं. 96
22. महावीर तीर्थ की यात्रा , हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 33
23. भाषा-शैली, हिन्दी आलोचना और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, ले. राम बहादुर राय, पृ. सं. 304
24. साहित्य और लोक-जीवन, हिन्दी का सामयिक साहित्य, ले. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 1
25. उपसंहार, बिहारी, ले. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. सं. 135-136

उपसंहार

उपसंहार

हिन्दी साहित्य के नवोत्थान में जिन आचार्यों एवम् मनीषियों का योगदान रहा है, उनमें आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी का नाम श्रद्धा से लिया जा सकता है । साहित्य के क्षेत्र में मिश्रजी के सम्पादन कार्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं । महत्वपूर्ण इस मायने में कि इन्होंने ज्यादातर वैसे ग्रंथों का सम्पादन किया है जो असाध्य प्रतीत होते थे तथा जिसकी प्रामाणिकता को सिद्ध करने के साधन दुर्लभ एवम् श्रम-साध्य थे । पाठालोचन एवम् पाठानुसंधान जैसे महत्वपूर्ण कसौटियों पर संधान करने की जरूरत थी । यह विदित है कि अपने देश पर विदेशियों का प्रभुत्व, छापाखानों का अभाव, संगठित साहित्यिक सहयोग का अभाव तथा स्वतंत्र रूप से साहित्यिक गति-विधि को आगे बढ़ाने का अवसर न प्राप्त होना तथा प्रतिलिपिकारों के प्रमाद अथवा भूल ही पाठान्तर के कारण रहे । हिन्दी साहित्य की समय-सीमा पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दी साहित्य का प्रसार मुगल एवम् मुगलपूर्व शासकों के समय से लेकर अंग्रेजों के काल तक था । प्रत्येक काल में कार्यालयी भाषा अलग-अलग थे । अंग्रेजों के काल में अंग्रेजी का महत्व हिन्दी की तुलना में अधिक था, वहीं मुगल काल में अरबी-फारसी का । कहना न होगा कि हिन्दी की स्थिति दयनीय थी । इसे भी अवसर की तलाश थी । आधुनिक-काल के शुरुआती दौर से ही हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में संगठनात्मक साहित्यिक कार्यों के संकेत मिलने लगे थे । साहित्य की लगभग सभी विधाओं में विद्वानों के अवदान पाठक वर्गों द्वारा सराहे जाने लगे । आचार्य शुक्ल आदि विद्वान इसी कोटि में स्थान पाने योग्य हैं । आचार्य मिश्र ने भी शुक्लजी के नक्शे-कदम का अनुसरण करते हुए साहित्यिक विधा के ऐसे क्षेत्र को चुना जो साहित्यिक दृष्टि से अति महत्वपूर्ण माना जाता था । पाठालोचन एवम् पाठानुसंधान का क्षेत्र, जिसमें कई विद्वानों एवम् आचार्यों के कार्य श्लाध्य रहे हैं : जैसे

पं. रामचन्द्र शुक्ल, पं. केशव प्रसाद मिश्र, बाबू श्याम सुन्दर दास, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि । इसी क्रम में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का भी नाम लिया जा सकता है । जिन्होंने साहित्य के अनेक विधाओं को समृद्ध किया है यथा - समीक्षा, निबंध, साहित्येतिहास लेखन, कहानी, कविता, टीकांकन एवम् अनुवाद आदि । इन सभी क्षेत्रों में इन्होंने अपने नवोन्मेषिणी सर्जनात्मक प्रतिभा से नवीन उपलब्धि हिन्दी साहित्य को दी है । अतः मिश्रजी के उपरोक्त महनीय कार्यों को आरेखित करने के क्रम में इस विषय को लिया गया, ताकि उनके व्यक्तित्व एवम् कृतित्व को विश्लेषणात्मक रूप से जाना जा सके ।

इस पूरे शोध प्रबन्ध को सात भागों में विभाजित किया गया है । प्रथम अध्याय में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के जीवन पर प्रकाश डाला गया है जिससे पता लगता है कि ये मध्यम वर्गीय ब्राह्मण परिवार के थे । इनका अपना भरा-पूरा परिवार था । इनमें जातिगत संस्कार कूट-कूट कर भरे पड़े थे । प्रतिदिन गंगा सेवन, पूजा-पाठ तथा विद्याभ्यास इनका दैनिक जीवन-चर्या रहा । यह देखा गया कि इनके शुरुआती जीवन बड़े ही आर्थिक कठिनाइयों में बीते । इससे उबरने के लिए उन्हें प्रेस में कम्पोजीटर, प्रूफरीडर आदि के कार्य करने पड़े । अपने छात्र-जीवन में ये मेधावी छात्र के रूप में जाने जाते रहे । एडमिशन परीक्षा की उत्तर पुस्तिका में परीक्षक महोदय के द्वारा लिखे गये प्रशंसा के दो शब्द इनकी योग्यता के प्रमाण हैं । अध्यापक के रूप में इन्होंने कई विश्वविद्यालयों में अपनी सेवाएँ दीं । पर इनका मन अध्यापन के अतिरिक्त प्राचीन ग्रंथों के आलोडन-विलोडन में अधिक रमा । प्रतिफलन स्वरूप इन्होंने कई प्राचीन ग्रंथों का सम्पादन किया । आचार्य शुक्ल के नक्शे कदम पर चलने वाले मिश्रजी को हिन्दी साहित्य जगत एक सक्षम समीक्षक, आलोचक, रसवादी चिंतक

लोकवादी चिंतक एवम् सांस्कृतिक चिंतक के रूप में जानता है । इनके जीवन का एक पक्ष देश की स्वतंत्रता आंदोलन के समय जुझारू क्रांतिकारी का भी रहा है ।

द्वितीय अध्याय इनके सम्पादकीय रचनाकर्म को दर्शाता हैं, जिसमें यह देखा गया कि इन्होंने ग्रंथों के सम्पादन के अतिरिक्त पत्र-पत्रिकाओं का भी संपादन किया । इन्होंने कुल पचपन ग्रंथों का संपादन किया जिसमें आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिककाल के रचनाकारों के ग्रंथों का संपादन शामिल है । आदिकालीन विद्यापति के साथ-साथ सूर, तुलसी, पद्माकर, घनानंद से लेकर आचार्य शुक्ल आदि जैसे महान रचनाकारों की रचनाओं का इन्होंने सम्पादन किया । हालांकि इनकी लेखनी रीतिकालीन सर्जनाकारों पर अधिक चली । इन सब के पीछे इनकी दृष्टि सम्बन्धित लेखक अथवा रचनाकार की विचारधारा को अक्षरसः उकेरने की, तुलनात्मक एवम् अर्थपरक समुचित सम्पादन की, मूल पाठ की तह तक पहुँचने की साथ-ही हाशिये पर रखे गये कवियों-लेखकों को साहित्यिक मुख्यधारा से जोड़ने एवम् रचना की प्रामाणिकता को यथा साध्य सिद्ध करने की रही ।

पत्रिका सम्पादन में भी इनकी लगन देखी गयी । कुल सात तरह की पत्रिकाओं का इन्होंने सम्पादन किया जिनमें दैनिक पत्र, अर्द्ध साप्ताहिक पत्र, साप्ताहिक पत्रिका, त्रैमासिक पत्रिका, अर्द्धवार्षिक पत्रिका एवम् शोध पत्रिका प्रमुख थी। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' शोध पत्रिका थी । पत्रिका सम्पादन के पीछे इनकी दृष्टि तत्कालीन ज्वलंत समस्याओं को उजागर करने, प्रबुद्ध पाठकों में साहित्यिक रुचि के संचारण हेतु नवीन साहित्यिक उपलब्धियों को पत्रिका की विषय-वस्तु बनाने तथा प्रमुख साहित्यिक व्यक्तित्व के बारे में सम्पूर्ण जानकारी उपलब्ध करने की रही है ।

तृतीय अध्याय में मिश्रजी के पाठालोचन एवम् पाठानुसंधान के रूप में

किए गए कार्यों का विश्लेषण किया गया है । प्राचीन ग्रंथों में उनकी रुचि एवम् तल्लीनता के परिणामस्वरूप उनकी ख्याति पाठालोचक एवम् पाठानुसंधित्सु के रूप में ज्यादा फैली । मिश्रजी के इस रूप में देखा गया कि पाठालोचन एवम् पाठानुसंधान के दौरान उपलब्ध पाण्डुलिपियों अथवा हस्तलेखों की प्रामाणिकता को परखने के लिए इन्होंने कुछ आधार तय किए जिसमें अक्षरों की बनावट, वर्त्तनी एवम् शब्दों के उच्चारण, शब्द रचना, वाक्य रचना, एवम् रचनाकार के जीवन की तिथियों तथा सर्जनाकारों के मूल वंशज की तहकीकात के साथ-साथ ऐतिहासिक पड़ताल, कागज एवम् प्रयोग किए गए पन्नों की रूप-रेखा आदि हैं । इन महत्वपूर्ण आधार रूपी कसौटी पर कस कर ही ये पाठ की प्रामाणिकता सिद्ध करने का प्रयास करते थे । एक तरह से कहा जा सकता है कि इन्होंने एक सफल पाठालोचक एवम् पाठानुसंधित्सु के दायित्व का निर्वाह करते हुए पुरखों की थाती को बचाए रखने एवम् उसे नई पीढ़ी तक हस्तांतरित करने का प्रशंसनीय उद्योग किया ।

चतुर्थ अध्याय में मिश्रजी के साहित्येतिहासकार-रूप का विवेचन है जिसमें मिश्रजी के इतिहास के ग्रंथों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है । 'हिन्दी साहित्य का अतीत भाग - एक में मध्यकाल के पूर्वार्ध (भक्तिकाल) का विवेचन है जबकि हिन्दी साहित्य का अतीत भाग - दो में हिन्दी साहित्य के मध्यकाल के उतरार्ध (श्रृंगारकाल) का विवेचन इन्होंने सविस्तार किया है, जबकि 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' में समय-समय पर उनके द्वारा लिखे गये निबंधों का संग्रह है । 'हिन्दी साहित्य का अतीत भाग- एक में इन्होंने जिन महत्वपूर्ण तथ्यों का विवेचन किया है उनमें हिन्दी साहित्य का आविर्भाव काल, अपभ्रंश साहित्य, हिन्दी साहित्य का अतीत वैभव एवम् समृद्धि, काल विभाजन एवम् नामकरण आदि हैं, जिसमें इन्होंने माना है कि हिन्दी साहित्य का

अतीत अपने वर्तमान की अपेक्षा ज्यादा समृद्ध है । वहीं काल विभाजन एवम् नामकरण में इन्होंने कहा कि साहित्य के इतिहासों में विभाजन एवम् नामकरण का सर्वोत्कृष्ट ढंग वर्ण्य-विषय की व्याप्ति ही प्रमुख है । इन्होंने अन्तः साक्ष्य वाली सामग्री को अधिक विश्वसनीय बताया । इस दृष्टि से इन्होंने आदिकाल को वीर रसकाल या वीरकाल की संज्ञा दी । वहीं 'हिन्दी साहित्य के अतीत भाग-दो' में इन्होंने रीतिकाल का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया है । इस काल में श्रृंगार की प्रधानता को केन्द्र में रखते हुए एवम् उपरोक्त नामकरण की पद्धति के आधार पर इन्होंने इस काल को 'श्रृंगारकाल' कहा साथ-ही इसमें अन्तर्निहित विभाग भी दिए जो क्रमशः रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध एवम् रीतिमुक्त अथवा स्वछंद काव्यधारा के रूप में जाना जाता है । कारण यह कि इस काल के कवि "प्रेम और श्रृंगार के कवि हैं । इन कवियों के मन में जहाँ एक ओर शास्त्रीय काव्य परंपरा के प्रति विद्रोह था वहीं इनके अंतर्मन में सामाजिक मर्यादाओं और रूढ़ियों के प्रति भी विद्रोह की भावना थी । अतएव इन्होंने दोनों ही प्रकार की रूढ़ियों को तोड़कर यहाँ तक कि धर्मगत बंधनों की भी परवाह न करते हुए स्वच्छंद प्रेम का मार्ग ग्रहण किया और प्रेम और, श्रृंगार की मर्म स्पर्शिनी रचनाएँ प्रस्तुत की।"[1]

निबंधों के संग्रह 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' में इनके ज्यादातर निबंध समीक्षात्मक एवम् आलोचनात्मक है । देखा गया है कि "आलोचनात्मक निबंध में जितनी प्रगति हिंदी निबंध ने की है वैयक्तिक निबंध ने नहीं की ।"[2]

पंचम अध्याय में मिश्रजी का स्वतंत्र लेखक-रूप व्याख्यायित है

---

1. रीतिमुक्त काव्य रचना के कारण, पु. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : सातवाँ भाग, संपा. डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ. 39
2. वर्त्तमान युग के निबंध की शक्ति और सीमा, पु. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहासः चौदहवाँ भाग, संपा. डॉ. हरवंश लाल शर्मा

जिसमें मिश्रजी समीक्षक के रूप में, निबंधकार के रूप में, टीकाकार के रूप में काव्यशास्त्रीय एवम् भाषाशास्त्रीय चिंतक के रूप में दिखाई देते हैं । समीक्षक के रूप में उनकी समीक्षा पद्धति विशेष रूप से उन्हें अन्य समीक्षकों से अलग स्थान दिलाती है। वे जब किसी रचनाकार की रचनाओं का सम्पादन करते हैं तो साथ-साथ वे समीक्षा भी करते चलते हैं । जब वे किसी रचनाकार की रचनाओं की भूमिका लिखते हैं तो वह भूमिका रचना एवम् रचनाकार की औपचारिकता न होकर उसकी कसौटी सिद्ध होती है। निबंधकार के रूप में उन्होंने आलोचनात्मक एवम् विचारात्मक निबंधों को ही प्रोत्साहन दिया है । इनके लेखन में मूर्त विधायिनी शक्ति का अवलोकन किया जा सकता है । टीकांकन के क्षेत्र में इन्होंने नवीन पद्धति का प्रयोग किया । प्रकरण, चूर्णिका, तिलक, व्याख्या, विशेष, छन्द आदि की क्रमवार विवेचना इनके टीकांकन में हैं।

षष्ठ अध्याय में मिश्रजी की समीक्षादृष्टि के प्रमुख आधारों को विवेचन का विषय बनाया गया है जिसमें सांस्कृतिक आधार, लोक-परक आधार, आध्यात्मिक एवम् काव्यशास्त्रीय आधार हैं । देखा यह गया कि जब भी वे किसी भी विषय-वस्तु का विवेचन करते हैं तो उसका सूत्र संस्कृति से जोड़ते हैं चाहे वह किसी प्रदेश की भाषा हो या फिर परंपरा से प्रचलित कोई शब्द ।

सप्तम आध्याय में मिश्रजी द्वारा प्रयुक्त शब्द-योजना एवं भाषा-शैली का विवेचन हुआ है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि मिश्रजी खड़ी बोली हिन्दी के प्रयोग में संस्कृतनिष्ठ भाषा का ज्यादा प्रयोग करते हैं वहीं देशज, विदेशज अर्थात अरबी, फारसी, अंग्रेजी आदि शब्दों के साथ-साथ द्विभाषिक शब्दों का भी बखूबी प्रयोग करते हैं ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आचार्य

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का हिन्दी साहित्य में अप्रतिम स्थान है । पाठालोचन एवम् पाठानुसंधान के आधे-अधूरे कार्य को इन्होंने अपनी उर्वर मेघा एवम् सूक्ष्म विवेचन दृष्टि के माध्यम से न सिर्फ पूरा किया बल्कि आगे आने वाली पीढ़ी के लिए अनुसंधान एवंम् विवेचन की नयी सरणियों को भी खोला । आचार्य मिश्र की प्रतिष्ठा जहाँ मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के कनिष्ठिकाधिष्ठित विद्वान के रूप में है, वहीं रामचरितमानस के साथ-साथ बिहारी, घनानंद आदि जैसे रचनाकारों की रचनाओं के प्रामाणिक एवम् शुद्ध पाठ प्रस्तुत करने के लिए भी उन्हें जाना जाता है । उनकी सूक्ष्म तत्त्वान्वेशी दृष्टि ने न केवल पाठ शुद्ध किया बल्कि जटिल एवम् गहरे अर्थ की परतों को भी उनकी टीकाओं में प्रकाशित किया । हिन्दी साहित्य आचार्य मिश्र का सदैव ऋणी रहेगा । मुझे पूरा विश्वास है कि इस शोध के माध्यम से आचार्य मिश्र के व्यक्तित्व एवम् कृतित्व की विशेषताएँ और भी स्पष्टता से हिन्दी साहित्य के विद्वानों के समक्ष प्रकाशित हो सकेगीं।

संदर्भ ग्रंथ-सूची

पुस्तक सूची

हिन्दी ग्रंथ :

पुस्तक का नाम　　लेखक/संपादक　　प्रकाशक　　संस्करण　　प्रकाशन वर्ष

1. अशोक के फूल, हजारी प्रसाद द्विवेदी,लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, इक्कीसवाँ संस्करण, 1999
2. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : अभिनन्दनग्रंथ, सं. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक, प्रेम पुस्तक भण्डार, सोहनगंज दिल्ली, प्रथम संस्करण 1976
3. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : व्यक्ति और साहित्य, दीनानाथ पाण्डेय, युगवाणी प्रकाशन कानपुर, प्रथम संस्करण
4. आलोचक और आलोचना, डॉ. बच्चन सिंह, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दरियागंज दिल्ली, तृतीय संस्करण, 1992
5. उपकार, यू.जी.सी. हिन्दी, डॉ. जगदीश शरण, उपकार प्रकाशन आगरा, प्रथम संस्करण
6. कथाकार प्रेमचंद, सं. रामदरश मिश्र, राधा पब्लिकेशन्स, दरियागंज दिल्ली, प्रथम संस्करण
7. काव्य कल्पद्रुम भाग - 1, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, अनुपम प्रकाशन पटना, षष्ठ संस्करण, 1989
8. काव्य-रस : चिन्तन और आस्वाद, डॉ. भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण
9. गंगा लहरी, सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, ज्ञान-गंगा प्रकाशन, वाराणसी, तृतीय संस्करण, संवत् 2020
10. गोसाईं तुलसीदास, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी-वितान प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण
11. गोस्वामी तुलसीदास कृत श्रीरामचरितमानस (की लोक भारती टीका) , योगेन्द्र प्रताप सिंह, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1999
12. घनानंद-कवित्त (प्रथम शतक), आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, संजय बुक सेंटर गोलघर वाराणसी, संस्करण 2002
13. घनानंद-कवित्त (द्वितीय शतक), आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, संजय बुक सेंटर गोलघर वाराणसी, संस्करण 2000
14. चिन्तामणि : मंजूषा सहित पहला भाग, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण

15. चौरासी वैष्णवन की वार्ता, गंगा-विष्णु श्री कृष्णदास स्टीम प्रेस, बम्बई, प्रथम संस्करण
16. जसवंत सिंह ग्रंथावली, सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण, 1972
17. दो सौ बाबन वैष्णव की वार्ता, सं. रामदासजी, खेमराज श्रीकृष्ण दास, स्टीम प्रेस कल्याण, बम्बई, संस्करण सन् 1989
18. निबंध निकष, सं. डॉ. रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1997
19. पॉपुलर मास्टर गाइड, यू.जी.सी. NET/SLET हिन्दी पेपर II तथा III, डॉ. प्रमोद कुमार सिंह एवम् सुधीर प्रताप सिंह, रमेश पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण
20. पाठ सम्पादन के सिद्धांत, डॉ. कन्हैया सिंह, महामना प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण
21. पाठालोचन के सिद्धांत, डॉ. गोविन्दनाथ राज गुरु, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, 1987, प्रथम संस्करण
22. पुरानी हिन्दी, चन्दधर शर्मा गुलेरी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण
23. बिहारी, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, संजय बुक सेन्टर, वाराणसी, 2003
24. बिहारी की वाग्विभूति, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, संजय बुक सेण्टर, गोलघर, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1986
25. बोधा ग्रंथावली, सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण, 1974
26. भारतीय काव्य मीमांसा : ती. नं. श्रीकण्ठय्या, अनु. भाल चंद्र जयशेट्टी, शब्दकार गुरु आनंद नगर दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1992
27. भारतीय काव्य सिद्धांत, सं. डॉ. नगेन्द्र, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, 1990
28. भारतीय समीक्षा और आचार्य शुक्ल की काव्य दृष्टि, डॉ. नगेन्द्र, पराग प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण
29. भारतीय साहित्य की भूमिका, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1996
30. भूषण ग्रंथावली, सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी-वितान प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 2010 वि.

31. मानव जाति के लिए जीवन-योगी की साधना, काका साहब कालेलकर, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, प्रथम आवृत्ति, 2000
32. रस-चिंतन के विविध आयाम, सं. आनंद प्रकाश दीक्षित, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1997
33. रस-प्रक्रिया, शंकरदेव अवतरे, साहित्य सहकार कृष्णनगर, दिल्ली, प्रथम संस्करण
34. रस-मीमांसा : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, तृतीय संस्करण, संवत् 2017
35. रस सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र, निर्मला जैन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, द्वितीय आवृत्ति, 1977
36. रामचरितमानस : काशीराज संस्करण, सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, रमेशचंद्र देव काशी राज न्यास, वाराणसी, प्रथम संस्करण
37. रामचरितमानस का सौंदर्यतत्त्व, डॉ. कवीश्वर ठाकुर, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1994
38. रीतिकाव्य : एक नया मूल्यांकन, डॉ. जगदीश्वर प्रसाद, नई कहानी, अपोलोबाग इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1998
39. रीतिकाव्य की इतिहास दृष्टि, डॉ. सुधीन्द्र कुमार, विश्वविद्यालय प्रकाशन, प्रथम प्रकाशन
40. वाङ्मय-विमर्श, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पूर्णा प्रकाशन, ब्रह्मनाल, वाराणसी, प्रथम संस्करण, संवत्-2035 वि.
41. शिव सिंह सरोज, सं. डॉ. किशोरीलाल गुप्त, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण, 1970
42. संस्कृति और समीक्षा के सवाल, जवरीमल्लपारख, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण
43. समीक्षावाद और समीक्षा : आधुनिक कला समीक्षावाद, रामचन्द्र शुक्ल, कला प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण
44. साहित्य और इतिहास दृष्टि, मैनेजर पाण्डेय, अरूणोदय प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1992
45. साहित्यिक निबंध, सं. डॉ. रामसजन पाण्डेय, मोनू प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण
46. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग - 3, सं. डॉ. मुकुन्द द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1998

47. हस्तलिकखत हिन्दी ग्रंथों का अठारहवाँ त्रैवार्सिक विवरण, सं. पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण, 1941-43 (द्वितीय भाग)
48. हिन्दी आलोचना की परम्परा और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, शिवकुमार मिश्र, वाणी प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, प्रथम संस्करण
49. हिन्दी आलोचना और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ. रामबहादुर राय, मालती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1980 ई.
50. हिन्दी का सामयिक साहित्य, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, सरस्वती मंदिर, जतनबर बनारस, प्रथम संस्करण, 1951 ई.
51. हिन्दी का गद्य साहित्य, रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 1992
52 .हिन्दी के आंचलिक उपन्यास सामाजिक एवम् सांस्कृतिक संदर्भ, डॉ. विमल शंकर नागर, प्रेरणा प्रकाशन, मुरादाबाद, प्रथम संस्करण, 1985
53. हिन्दी शिक्षण, सावित्री सिंह, इन्टरनेशलन पब्लिशिंग हाउस, मेरठ, पंचम संस्करण, 1986
54. हिन्दी साहित्य का अतीत प्रथम भाग (आदिकाल - भक्तिकाल), आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, 1994
55. हिन्दी साहित्य का अतीत दूसरा भाग : श्रृंगारकाल, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, प्रथम संस्करण
56. हिन्दी साहित्य (उदभव और विकास) हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरी आवृत्ति, 1999
57. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं. डॉ. नगेन्द्र, मयूर पेपर बैक्स नोएडा, पच्चीसवाँ पुनर्मुद्रित संस्करण, 1998
58. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2057 वि.
59. हिन्दी साहित्य का इतिहास, लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2001
60. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास (प्रथम खण्ड) डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पंचम संशोधित संस्करण, 1994
61. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. श्रीनिवास शर्मा, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, नवीन संस्करण, 1992
62. हिन्दी साहित्य का इतिहास : परम्परा और विकास, डॉ. कृष्णाधवन, सूर्य प्रकाशन दिल्ली, 1985, प्रथम संस्करण

63. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण

64. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहासः प्रथम भाग, सं. डॉ. राजवली पाण्डेय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, द्वितीय संस्करण, 2036 वि.

65. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : तृतीय भाग, सं. पं. करूणापति त्रिपाठी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण, संवत् 2040 वि.

66. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : पाँचवा भाग, सं. डॉ. दीनदयाल गुप्त, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण, 2031 वि.

67. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : षष्ठ भाग, सं. डॉ. नगेन्द्र, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, द्वितीय संस्करण, सं. 2030 वि.

68. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : सातवाँ भाग, सं. डॉ. भगीरथ मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण, संवत् 2020 वि.

69. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : आठवाँ भाग, सं. डॉ. विनय मोहन शर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम संसकरण, 2029 वि.

70. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : नवाँ भाग, सं. पं. सुधाकर पाण्डेय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण, 2034 वि.

71. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : ग्यारहवाँ भाग, सं. डॉ. सावित्री सिन्हा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण, 2029 वि.

72. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : बारहवाँ भाग, सं. डॉ. निर्मला जैन, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण, 2040 वि.

73. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : त्रयोदश भाग, सं. डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संस्करण द्वितीय, संवत् 2038 वि.

74. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : चौदहवाँ भाग, सं. डॉ. हरवंशलाल शर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2027 वि.

75. हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास, बाबू गुलाब राय, लक्ष्मी नारायण लाल, आगरा, सैंतालिसवाँ संस्करण, 2001

76. हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, प्रो. वासुदेव सिंह, संजय बुक सेन्टर वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 2000

77. हिन्दी साहित्य का सर्वेक्षण काव्य खण्ड, विश्वम्भर मानव, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण

78. श्रेष्ठ हिन्दी निबंध, श्री शरण, कालरा पब्लिकेशन्स मुकर्जीनागर, दिल्ली, नवीनतम संस्करण

हिन्दी पत्रिका :

पुस्तक का नाम लेखक/संपादक प्रकाशक संस्करण प्रकाशन वर्ष

---

1. इतिहास बोध (इतिहास निर्माण के लिए) सं. लाल बहादुर वर्मा, सम्पादकीय सम्पर्क - चन्द्रशेखर आजाद नगर, इलाहाबाद, जनवरी 2006 एवम अगस्त 2005

2. इन्द्रप्रस्थ भारती, सं. डॉ. रामशरण गौड़, हिन्दी अकादमी, दिल्ली, अक्टूबर-दिसम्बर 2002, वर्ष 14, अंक - 4

3. कथाक्रम, सं. शैलेन्द्र सागर, ट्रांजिट हॉस्टल लखनऊ, अप्रैल-जून, 2004

4. कसौटी, सं. नंद किशोर नवल, टेनवो पब्लिशर्स लिमिटेड, सेक्टर 56, नोएडा, सम्पादन अंक

5. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सं. डॉ. सम्पूर्णानंद, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, अंक 2-3-4, संवत् 2018 वि., वर्ष 66, अंक 1, वैशाख-आषढ़ संस्करण, संवत् 2004, वर्ष 52, सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, अंक 1, त्रैमासिक, संवत् 2003, वर्ष 51, कार्तिक-माध, अंक 34, संवत् - 2002, वर्ष - 50, नवीन संस्करण बैशाख-आषाढ़, अंक - 1, संवत् - 2005, वर्ष 53, त्रैमासिक, कार्तिक-पौष, अंक - 3, संवत् 2004, वर्ष - 52, अंक - 2, संवत् 2003, वर्ष - 51, कार्तिक, अंक - 3, संवत् - 2003, वर्ष 51, माघ, अंक - 4, संवत् 2003, वर्ष 51

6. नया ज्ञानोदय, सं. प्रभाकर श्रोत्रिय, इन्स्टीट्यूशनल एरिया लोदी रोड, नई दिल्ली, अंक - 11, जनवरी 2004, अंक - 14, अप्रैल - 2004

7. पहल, सं. ज्ञान रंजन, पहल जबलपुर, सितम्बर-अक्टूबर-नवम्बर 2003

8. बया, सं. गौरीनाथ, बृजपुरी एक्सटेंशन रखाना रोड, दिल्ली, अंक - 1, वर्ष 1, दिसम्बर - 2006

9. भाषा, प्रकाशन विभाग सिविल लाइंस, दिल्ली, अंक - 1, सितम्बर-अक्टूबर 2002

10. मड़ई, सं. डॉ. कालीचरण यादव, संयोजक रावत नाच महोत्सव समिति, बिलासपुर, छत्तीसगढ़ 2006 ई.

11. मधुमति, सं. अभय कुमार, वेदव्यास, राजस्थान साहित्य अकादमी उदयपुर, अगस्त 2003, अंक - 1, वर्ष - 44, जनवरी 2004,

12. वागर्थ, सं. रवीन्द्र कालिया, भारतीय भाषा परिषद, कोलकाता, मार्च 2006
13. वर्तमान साहित्य, सं. हरीश चन्द्र अग्रवाल, रघुनाथ शर्मा, कुकुंदनगर, हापुड़ रोड, गाजियाबाद, सितम्बर 2001
14. रचनाकर्म, सं. डॉ. माया प्रकाश पाण्डेय, शील प्रकाशन आनन्द, गुजरात, संयुक्तांक, जुलाई-दिसम्बर, वर्ष - 3, अंक 3-4, 2005 ई.
15. साहित्य अमृत, सं. विद्यानिवास मिश्र, श्याम सुन्दर द्वारा असफ अली रोड, नई दिल्ली, जून - 2004
16. साहित्य-संदेश, सं. श्रीमुरारीलाल, साहित्य रत्न भंडार, आगरा, नवम्बर 1957
17. साहित्य वार्ता, सं. माधवेन्द्र, प्रगतिशील लेखक संघ, शिलांग
18. हिन्दी अनुशीलन, सं. डॉ. वीरेन्द्र नारायण यादव, भारतीय हिन्दी परिषद प्रयोग, अंक - 4-1, वर्ष - 46-47, दिसम्बर-मार्च 2005

संस्कृत कोश :

1. भारतीय संस्कृत कोश, लीलाधर शर्मा पर्वतीय, राजपाल एण्ड सन्स, मदरसा रोड, दिल्ली, 1995
2. संस्कृत वाङ्मय कोश : सं. डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णेकर, भारतीय भाषा परिषद कलकत्ता, प्रथम आवृति, 1988
3. संस्कृत-हिन्दी कोश, आदित्येश्वर कौशिक, दिनमान प्रकाशन, चर्खेवालान, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1987

हिन्दी कोश :

1. बृहत् हिन्दी कोश, सं. कालिका प्रसाद, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, पुर्नमुद्रित संस्करण, 2000
2. मानक हिन्दी कोश : पाचवाँ खण्ड, प्र. सं. रामचन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 1993 ई.
3. सचित्र बजरंग हिन्दी कोश, सं. डॉ. आलोक कुमार, बजरंग प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1993
4. समांतर कोश हिन्दी थियारस अनुक्रम खण्ड भाग - 2, अरविन्द कुमार, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, प्रथम संस्करण, 1996

NEHU LIBRARY 103842
Acc No...
Acc B...
Date... 26-5-08
Class...
Sub.He...
Enter b...
Tran... by ...

शोधार्थी का विवरण

नाम	:	राज कुमार झा
शिक्षा	:	एम. ए. (हिन्दी),
विभाग	:	हिन्दी विभाग
शोध प्रबंध का नाम	:	आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के कृतित्व का विश्लेषणात्मक अध्ययन
प्रवेश के भुगतान की तिथि	:	17 सितम्बर, 2002
शोध-प्रस्ताव की संस्तुति	:	
(i) बी. पी. जी. एस	:	30 सितम्बर, 2002
(ii) स्कूल बोर्ड	:	18 अक्टूबर, 2002
पंजीकरण संख्या एवं तिथि	:	706, तिथि - 18.10.2002

अध्यक्ष
हिन्दी विभाग